* श्री भाणाभाई-वैद्य-ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प *

॥ ओ३म ॥

सचित्र

दयानन्ददिग्विजय

महाकाव्य

: लेखक :

कविरत्न पं. श्री मेधाचार्य

प्रिन्सिपल-आर्यकन्या महाविद्यालय-बड़ौदा ।

: : अनुवादक : :

पं. श्री श्रुतबन्धुजी शास्त्री, वेदतीर्थ

उपाध्याय-आर्यकन्या महाविद्यालय-बड़ौदा ।

: : प्रकाशिका : :

सत्यवती स्नातिका 'भारती-समलंकृता'

संवत् १९९४, ई. स. १९३८

प्रथम संस्करण] [मूल्य

: प्रकाशिका :

सत्यवती स्नातिका

भारती-समलंकृता आ. क. म. वि.

बड़ौदा.

: मुद्रक :

सुधाकर मणिभाई गुप्त

बड़ौदा.

卐

: मुद्रणस्थान :

आर्य सुधारक प्रिन्टींग प्रेस

मोदीखाना-बड़ौदा.

ता. ३०-६-३८.

॥ ओ३म् ॥

प्रस्तावना

संवत् १९७० की वर्षा ऋतु में मैं वृन्दावन में कुछ दिन रहा। एक दिन वहाँ के आर्यसमाज के गुरुकुल में गया। श्री ब्रह्मचारी मेधाव्रतजी उस समय नवमी श्रेणी में अध्ययन कर रहे थे। अध्यापकोंने इनकी मेधा और कविता शक्ति की प्रशंसा की। इन्होंने एक छोटी पुस्तिका— 'प्रकृतिसौन्दर्यम्' नामकी संस्कृत कविता की, मुझको दी। अच्छी जान पडी। यहाँ वहाँ, पद्य बहुत मधुर बहुत सुन्दर थे। इसके पीछे श्रीमेधाव्रतजी से पुनः समागम तो नहीं हुआ; पर इन्होंने अपनी रची एक संस्कृत गद्यमयी आख्यायिका, (कुमुदिनीचन्द्र) कई वर्ष बाद, डाकसे, बड़ौदा–नगरसे मेरे पास भेजी। अब आपने "दयानन्ददिग्विजयम्" नामक काव्य की एक प्रति भेजी है।

सत्तर वर्ष की आयु, नेत्रों की एवं मस्तिष्क की दुर्बलता, अन्य कार्यों की प्रचुरता, शक्ति और अवकाश की न्यूनता, इत्यादि कारणों से मैं इस ग्रन्थ को साद्यन्त तो नहीं देख सका; तो भी इधर उधर उलट पलट कर कई पृष्ठ मैंने पढ़ डाले। स्वामी दयानन्दजी जैसे उत्तम पात्र को पाकर कविता क्यों न अच्छी हो! श्रीमेधाव्रतजी के श्लोकों की पदावली उदार, काव्य के भाव ऊँचे एवं विषय असाधारण हैं। मैं आशा करता हूँ कि इस महाकाव्य का प्रचार और संस्कृत विद्वानों में आदर भी अच्छा होगा।

तिथि १६ ज्येष्ठ, सं. १९९५, वि. (सौर)

भगवान्दास,
'शान्तिसदन,' काशी।

[काशीनिवासी प्रख्यात दार्शनिक एवं महान् विचारक डॉ. श्री भगवानदास जी एम. ए. ने मुझ पर बड़ी कृपा कर के अपनी वृद्धावस्था एवं कार्यव्यग्रतामें भी उपर्युक्त आशीर्वादमयी प्रस्तावना लिख कर मुझे जो उत्साह एवं अमरत्व प्रदान किया है, इस अनुग्रह के लिये मैं आजीवन उनका कृतज्ञ रहूँगा।]

कृतज्ञता प्रकाश

निर्मलसलिला गोदावरीगंगा के पवित्र उत्संगरूपी उदयाचल पर मेरे बालजीवन की उषा की सुषमाने मधुर मन्द हास्य किया। कुछ काल के अनन्तर मेरे ज्ञान का अरुणोदय हुआ मुमुक्षुमुनिमण्डिता हिमालयतातनन्दिनी भागीरथी गंगा के मनोहर रुचिर अंकतपोवनमें। और फिर धीरे-धीरे आदित्यनन्दिनी वृन्दावनविहारिणी कालिन्दी के कूलकाननक्रोडवर्ती धर्मारण्य में मेरे जीवन के ब्रह्मचर्यमय पुण्यप्रभातकाल की प्रभा प्रभासित हुई। मेरे जीवन का प्रातःसवन सरस्वती-समाराधनामें समाप्त हुआ।

सरस्वती की आराधना मेरे जीवन का व्रत है। यौवन के वसन्तकाल में गृहाश्रमयज्ञ को आरंभ करने के लिये साक्षात् सरस्वतीसी, ब्रह्मचर्यमय-पुण्यजीवनकालकी प्रभातलक्ष्मीसी, यज्ञोपवीतधारिणी, श्रद्धामयी विनय-मूर्तिस्वरूपा, गृहकी शोभासी सहधर्मिणी चन्द्रप्रभा देवी मेरी सहयोगिनी बनी।

करवीरक्षेत्रवाहिनी पुण्यसलिला पंचगंगा के हृदयंगम संगमस्थल पर मेरे मंगलमय गृहयज्ञ का आरंभ हुआ छत्रपति श्री शाहूमहाराजकी छत्रछाया में, एवं करवीर शारदापीठाधीश शंकराचार्य की कृपामयी आशी-र्वचनमायामें।

मेरे जीवन-वसन्तने तापीतरंगिणी के सुरम्य विशाल तटोपवनमें अपनी पूर्ण सुषमा फैलाई; किन्तु कुटिल कराल काल-राहु ने मेरे जीवन-वसन्त की शोभा, यज्ञसहधर्मिणी देवी चन्द्रप्रभाको ग्रस लिया और उसी के साथ नवजात महेन्द्र पुत्रपीयूष को भी भयंकर यमदूतने हर लिया।

सहृदय सुहृदरों की प्रेरणासे कहिये अथवा स्वहृदयस्थ पुत्रैषणा से कहिये वा कन्याशिक्षणसेवायज्ञ के लिये यज्ञसहधर्मचारिणी की सुतराम् आवश्यकता के निमित्त से कहिये मैंने अपने प्रौढ जीवन के जीवनधर-वर्षा-कालमें जलधरकाल की लक्ष्मीसी, क्षणिकैश्वर्यप्रभासी चंचला देवी सुलो-चना को जीवनसंगिनी गृहेश्वरी के रूप में संवरण किया।

मेरा द्वादश सांवत्सरिक-कन्यादर्शशिक्षणमहासत्र प्रारंभ हुआ। देवीजी को यह वैदिक शिक्षण महायज्ञ पसंद न आया। वर्षाकाल को लक्ष्मी को भला राजहंस का सहवास कैसे रुचे! पाश्चात्यशिक्षण की प्रचण्ड वायु-लहरी भला आर्यसंस्कृतिकल्पवल्लरी के पुष्पों को विकास हास्य का सुअवसर दे सकती है!! असहयोग का आन्दोलन प्रारंभ हुआ। कवि-रामने सुवर्णमय देवी सीता-प्रतिमा को हृदयमन्दिर में प्रतिष्ठित करके कन्याशिक्षण-महायज्ञ समाप्त किया।

महायज्ञ की पुण्य ज्वाला सी, कन्यागुरुकुल की गुणमणिमाला सी, आर्यसंस्कृतिजननी की ज्योतिर्धरबाला सी दश ब्रह्मचारिणी बालाएँ सरस्वती यज्ञशाला से निष्णात स्नातिकारूप में दीक्षित हो कर दिगन्तमाला में वैदिकधर्म-विजयवैजयन्ती फहराने के लिये निकलीं।

ऋषि ऋण वा आचार्य ऋणसे मैं मुक्त हुआ। किन्तु सरस्वती समाराधना मेरे जीवन का पुण्यव्रत होने से मैंने अब डेढ़ वर्ष से साहित्य सेवा के महाश्वमेधयज्ञ का आयोजन किया है।

परमकृपालु परमात्मा की कृपा से यह "**दयानन्ददिग्विजयम्**" नामक पहला महाकाव्यरूपी महान् यज्ञप्रसाद समग्र संसार को प्रदान करने के लिए मैं समर्थ हो सका हूँ।

मुझ कवि-यजमान को यज्ञाधिष्ठाता विष्णु परमात्माने जो यह महाकाव्यरूप महाप्रसाद दिया है उसके लिये मैं सर्वप्रथम उस करुणावरुणालय परब्रह्म पिता को कोटिशः हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इस काव्य-क्रतु के श्रेष्ठ पुरोहित हैं मेरे माननीय परम सुहृद् पं. श्री. श्रुतबन्धुजी शास्त्री, वेदतीर्थ उपाध्याय आर्यकन्यामहाविद्यालय, बडौदा एवं मुख्याधिष्ठाता-आर्यकुमार आश्रम, बडौदा। आपकी ही सद्भावना एवं शुभ प्रेरणासे मैं इस महाकाव्यनिर्माणयज्ञ को सांगोपांग पूर्ण करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

आधा पूर्व यज्ञ पूर्ण हुआ है। उत्तरार्द्धयज्ञ प्रभुकी कृपासे पूर्ण होगा ऐसी पूर्ण आशा है।

आपने १२०० श्लोकों का–ललित, मनोहर, धारावाही आर्य भाषा में–भावानुवाद कर के मुझे अनुगृहीत किया है और साथ ही मेरे जीवन का परिचय एवं काव्य की रचना का प्रयोजन उत्तम साहित्यिक आलोचनशैली से लिख कर मुझे कृतज्ञतापाश में नियन्त्रित कर लिया है ।

काव्य–यज्ञ के उद्गाता हैं मेरे परम हितैषी मित्र श्री. पं. गुप्तनाथ-सिंहजी बी. ए. काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के विद्वान स्नातक । आप हिन्दी के सुयोग्य लेखक हैं । तीन वर्ष पूर्व आप ने मेरे समग्र काव्य ग्रन्थों का खूब अध्ययन कर के उन पर " समालोचना " नामक एक उत्तम हिन्दी निबन्ध लिखा था । और उसी निबन्ध में मुझे इस महाकाव्य ग्रन्थ के निर्माण के लिये अत्यंत प्रेरणा एवं उत्साह दिया था । इस पुण्य प्रसंग पर उन को धन्य-वाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ ।

इस महान काव्ययज्ञ में आवश्यक समग्र धनसामग्री प्रदान करनेवाले धनद—' श्रीयुत भाणाभाई वैद्य–न्यास ' (ट्रस्ट) के माननीय विनियोजक (ट्रस्टी) श्रीमान् दानवीर राजाबहादुर श्री नारायणलालजी पित्ती- प्रधान आर्यकुमारमहासभा–बडौदा तथा कर्मवीर श्री. पं. आनन्दप्रियजी बी. ए. एल. एल. बी. मंत्री आर्यकुमारमहासभा ने स्व. श्री भाणाभाई वैद्य के वैदिक धर्म प्रचारनिधि में से २०००) रुपयों की सहायता देकर मुझे अत्यन्त अनुगृहीत किया है अतः मैं उक्त दोनों महानुभावों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ ।

इसी सरस्वती यज्ञ में दो स्नातक एवं दो स्नातिकाओं ने भी ऋत्विजों का कार्य कर के मुझे परम सहायता दी है । उन का नाम तथा सेवाकार्य यथाक्रम निम्नांकित है—

(१) पं. श्री. जयदेवजी आयुर्वेदशिरोमणि स्नातक वृन्दावनगुरु-कुलविश्वविद्यालय, एवं अध्यापक—आर्यकन्यामहाविद्यालय-बडौदा । आपने १२०० श्लोकों की सुवाच्य सुन्दर अक्षरोंवाली तीन उत्तम प्रतिलिपियाँ कर के मुझे अतीव सहायता दी है ।

(२) पं. श्री. रामचन्द्रजी आयुर्वेदशिरोमणि स्नातक वृन्दावन गुरुकुलविश्वविद्यालय एवं अध्यापक आर्यकन्यामहाविद्यालय, बडौदा। आपने समग्र श्लोकों के हिन्दी–अनुवाद की एक उत्तम सुवाच्य प्रतिलिपि तैयार कर के अतीव साहाय्य किया है।

(३) पंडिता श्री धर्मव्रती कुमारी 'भारती–समलंकृता,' 'व्यायामाचार्या' स्नातिका आर्यकन्यामहाविद्यालय–बडौदा एवं आचार्या आर्यकन्याविद्यालय–पोरबन्दर। आपने ७०० श्लोकों को सुन्दर अक्षरों में सुनिबद्ध-संचिका में लिख कर अपने आचार्य के यज्ञ में सेवाद्वारा पुत्रीधर्म का पालन कर मुझे आनन्दपुलकित कर दिया है।

(४) पं. श्री. सीतादेवी 'विद्यालंकृता' स्नातिका कन्यागुरुकुल देहरादून एवं अध्यापिका–आर्यकन्यामहाविद्यालय–बडौदा। आपने भी ५०० श्लोकों को सुन्दर अक्षरों में सुनिबद्ध संचिका में लिखकर एवं समग्र हिन्दी–निबन्ध की प्रतिलिपि तैयार कर अपनी आचार्या की तरह अन्य तत्सदृश आचार्य के यज्ञ में सेवाधर्मद्वारा अपना दृष्टान्त देकर मुझे प्रहर्षप्रफुल्ल कर दिया है।

काव्य यज्ञ के अन्य संविधान की तैय्यारी कराने में अर्थात् मुद्रणालय एवं विद्वन्महानुभावों के भवन में गमनागमन में मेरे टंकारानिवासी परमप्रिय पुत्र शिष्य कृष्णदेव भीमजीभाई 'वैदिकधर्मविशारद,' 'हिन्दीकोविद' तथा पं. श्री. केशवदेवजी 'विद्यानिधि' 'हिन्दीकोविद' स्नातक श्रीमद्दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय, लाहौर, एवं अध्यापक–आर्यकन्यामहाविद्यालय–बडौदा तथा संचालक, हिन्दी–ज्ञानमन्दिर, बडौदा ने जो गुरु की सेवा की है उस के लिए मैं अपने हृदय का आनन्द प्रकाशित करता हूँ।

अब मेरे इस महाकाव्यरूप महायज्ञप्रसाद को आस्वादन कर के जिन–जिन विद्वन्महानुभावों ने मेरे नम्र मस्तक पर अपना कृपामय सम्मतिरूपी आशीर्वादहस्त रखा है; उन उन सुगृहीतनामधेय, प्रातःस्मरणीय, सहृदय पंडितप्रवरोंका मैं अतिश्रद्धानत हृदय से उपकार एवं धन्यवाद मान कर यावज्जीवन कृतज्ञ रहूँगा। उनकी नामावली एवं सम्मति अन्यत्र प्रकाशित की है।

उन विद्वद्वरों में से पोठोहार-गुरुकुल महाविद्यालय के आचार्य दार्शनिक विद्वान् श्री. पं. मुक्तिरामजी उपाध्याय का मैं विशेष अनुगृहीत हूँ। आपने मेरे काव्य को सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण कर कतिपय स्थलों में संशोधन करवाया है तथा आगामी उत्तरार्द्ध काव्य के निर्माण विषय में जो जो अमूल्य सूचनाएँ दी हैं उन उन का सहर्ष श्रद्धामय हृदय से स्वीकार कर मैं उनके आदेश के पालन का पूर्ण प्रयत्न करूंगा।

अन्त में "आर्यसुधारक" (प्रेस) मुद्रणालय के अधिपति श्री मणिभाई गुप्त तथा उनके सुपुत्र भाई सुधाकर को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि आपने मेरे इस महाकाव्य को अल्प समय में ही उत्तम रीति से बढ़िया टाइप में छपवा देने में सहृदयता एवं अति स्नेह दर्शाया है।

और श्री गोविन्दराम हासानन्द आर्य बुकसेलर-कलकत्तानिवासी ने इस ग्रन्थ के लिये ऋषिदयानन्द के ९ प्रकारके सुचित्र यथासमय छपवाकर भेज दिये; अतः मैं उनको भी हृदयसे धन्यवाद देता हूँ।

इतने विशाल काव्यग्रन्थ में सावधानी से अवलोकन करने पर भी मुद्रण में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं; उनके लिये 'शुद्धिपत्र' बनाना पडा है जो पृथक् स्थान में छापा है. सहृदयवाचक वहींसे देख लें। किम्बहुना बुधेषु—

संवत १९९४
ज्येष्ठशुक्ला १२ द्वादशी

भवदीयस्नेहाधीन,
मेधाव्रत आचार्य.

सोऽयमनुवादो—

यदनुग्रहतो लब्धा

विद्या भवमंगला मया गुरवे ।

योगिवराय विशुद्धा-

नन्दायाऽलं समर्प्यते भक्त्या ॥

विनीतेन श्रुतबन्धुना ।

समर्पण

महान् स्वाध्यायशील, बहुश्रुत, मितभाषी, शुद्धसत्व, वीतराग, वैदिकधर्म के परम अनुरागी, आदर्शचरित, सिद्धान्तपालक, सुस्वस्थशरीर, प्रशान्तचित्त, प्रसन्नमुख, आत्मक्रीड, परमात्मभक्त, ब्रह्मचर्य गृहस्थ-वानप्रस्थ एवं संन्यस्त आश्रम को यथाविधि धारण-करने वाले, अजातशत्रु, आर्यशिरोमणि पूज्य तीर्थस्वरूप पितृदेव श्री जगजीवनजी अथवा वर्षों से अज्ञात, हिमालयकन्दरानिवासी, ब्रह्मानन्दरत, पूज्यपाद संन्यासी योगिवर **श्री स्वामी नित्यानन्दजी** के पवित्र चरणारविन्दयुगलमें अनन्तश्रद्धा-सहित ' यह तुच्छ काव्य-उपहार ' सादर समर्पित है ॥

यत्प्रसादान्मया प्राप्तं साफल्यं जन्मनः परम् ।
उपहारोऽर्प्यते ताभ्यः प्रीयन्तां पितृदेवताः ॥१॥

आपका आज्ञांकित,
विनयावनतमस्तक, श्रद्धालु आत्मज
मेधाव्रत.

आदर्शचरित आर्यसज्जनशिरोमणि श्रीयुत जगजीवनजी

तीर्त्वा मोहमहाम्भोधिं – रागनक्रभयंकरम् ।
ब्रह्मानन्दरसज्ञा ये – जगज्जीवनयोगिनः ॥१॥
शैलेन्द्रकन्दरासीना – नित्यानन्दसमुज्ज्वलाः ।
नन्दन्ति तीर्थरूपास्ते – वन्द्यन्ते सूनुना मया ॥२॥

मुमुक्षुणा मेधाव्रतेन
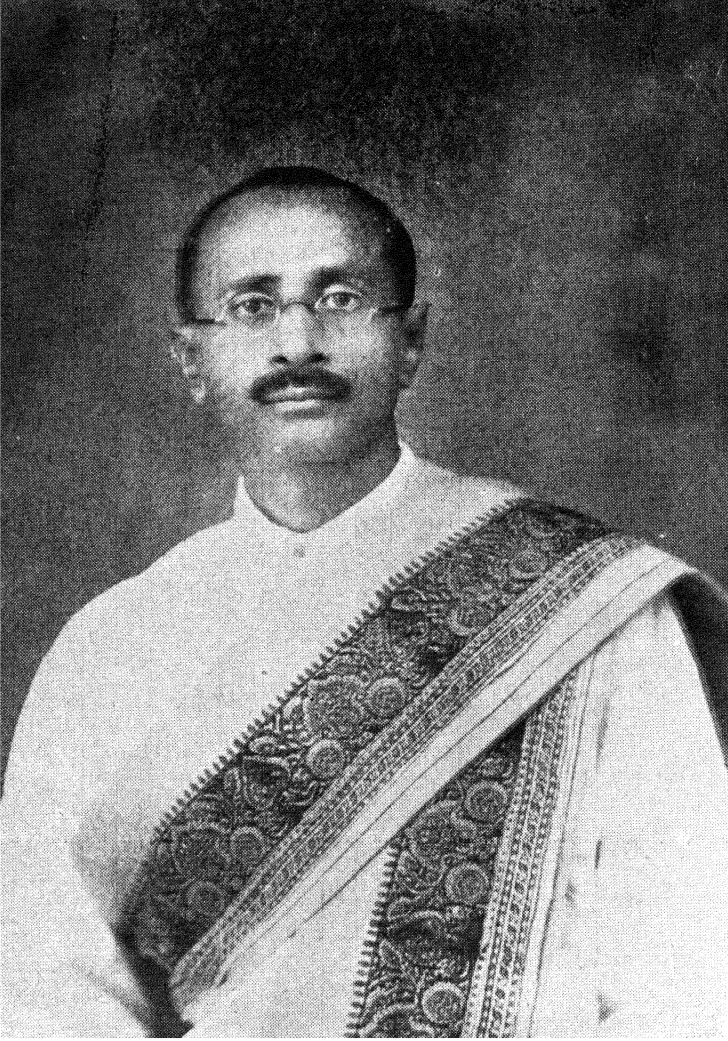
कविरत्नश्रीमन्मेधाव्रताचार्य

हृद्यैस्सुगद्यैरनवद्यपद्यैस्सद्यस्समाह्लादितपारिषद्यः ।
विद्यावतां द्योतितचित्तसद्मा विद्योतते योऽद्य कवीन्द्र आर्यः ॥ १ ॥
तस्यैव मेधाव्रतपण्डितस्य प्रशस्यवाग्गुम्फितपद्यकान्ते ।
विहृत्य शान्ते कवितावनान्ते प्रीणातु चेतस्सुमनस्समूहः ॥ २ ॥

शंकरदेव पाठक काव्यतीर्थ

गुरुदेववन्दना

पुण्यां श्रेष्ठां कविकुलगुरोः कालिदासस्य कीर्तिं
प्राप्तुं वाञ्छन् सुचिरसमयाल्लब्धवर्णो नितान्तम् ।
दायानन्दं सुभगममलं काव्यमाशु प्रणीय
दिव्यानन्दो जयतु भुवने मेधयाऽलंकृतोऽसौ ॥

[२]

दिगन्तविख्यातसुकीर्तिवृन्दं–सरस्वतीशं शुभकार्यनिष्ठम् ।
कवीश्वरं तं विदुषां वरेण्यं–धन्याऽस्मि जाता गुरुवर्यमाप्त्वा ॥

ता. १४-४-३८ } आज्ञांकिता पुत्री धर्मवती कुमारी स्नातिका

દોહો

પ્રથમ પ્રણવને વંદિયે, બીજા ગુરૂ તતખેવ;
જેની કૃપા – કટાક્ષથી, માનવ બનતા દેવ.

હરિગીત–છંદ

(૧)

ગુરૂદેવનાં શરણે જતા મનના મનોરથ સૌ ફળે,
બંધન તુટ્યાં મુજ જન્મનાં જેના અનુગ્રહના બળે.
જેની ચરણરજના પ્રભાવે દુષ્ટ પાવન થાય છે,
અર્ચન થકી ગુરૂદેવનાં નિર્વાણ – સૌખ્ય પમાય છે.

(૨)

સાહિત્ય-ગગને સુકવિરવિનો ઉદય આ જગમાં થયો,
શુભકાવ્ય-કુસુમોને ખિલવિયાં તમસમૂહ શમી ગયો.
ઉદ્યાન સુરવાણી – તણો જેના થકી શોભાય છે,
ઋષિ દિગ્વિજય-પાટલ-સુવાસે આર્યદિલ લલચાય છે.

(૩)

કૃતિ નિરખતાં ગુરૂદેવની કવિ કાલિદાસ ભુલાય છે,
ભવભૂતિ હર્ષતણી જગતમાં ખોટ પણ પૂરાય છે.
શુભ વંદના કરતો વિનયથી ભક્તિ–અંજલિ અર્પતો,
સુત કૃષ્ણ શિર કરજો કૃપા-કર જોડિ કર હું યાચતો.

આજ્ઞાંકિત શિષ્ય કૃષ્ણદેવ

देववाणीवन्दना

[अभिनयगीतम् ।]

मदयन्ती सुरहृदयसर इयं
गैर्वाणी....वाणी । मद०

वेदाम्बरमणिरश्मिविलसिता,
सुरमुनिवरविनुता........सा गैर्वाणी वाणी । मद०

सकलकलोदयसंस्कृतिरुचिरा,
विनिहतमनुजहृदयगततिमिरा,
वैदिकज्ञानाम्बुजमुदिरा.....सा गैर्वाणी वाणी । मद०

सकलगिरां धुरि कीर्त्तितां — मातृपदे निहिताम् ।
कविवृन्दारकवन्दितां — वन्दे शिवमहिताम् ॥ मद०

संसारोन्नतिसौख्यदायिनी,
ज्ञानानलभवपापनाशिनी,
परमानन्दप्रदात्री...........सा गैर्वाणी वाणी । मद०

सरस्वतीनन्दनो मेधाव्रतः ।

॥ ओ३म् ॥

दयानन्ददिग्विजयमहाकाव्य के विषय में महान् विद्वानों की—

सम्मतियाँ

वैदिक वाङ्मय के परम विद्वान् श्रीमान विश्वबन्धुजी शास्त्री, एम. ए. एम. ओ. एल., डायरेक्टर धी विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इंस्टीट्यूट नाभा हाउस, लांगले रोड, लाहोर:—

“ श्रीमेधाव्रतपण्डितमहाभागाः !

यच्छ्रीमद्भिः स्वोपज्ञं दयानन्दकाव्यं तत्तच्छन्दोऽलङ्कार-गुणागारं मधुरं सुन्दरं विषयतो गहनं गभीरमपि सद्बोधतः सरलं सुगमं द्वादशभिरनतिदीर्घैः सुविभक्तैः सर्गैरुपनिबद्धं मां क्वचित् क्वचिच्छ्रावयित्वा मच्चेतसि प्रमोदलहरी समुत्पादिता तन्मन्ये महत उपकारस्य भाजनीकृतोऽस्मि। यथाऽस्यां कृतौ महोपकारको विद्यातपोवैभवेन जनतोद्धारको नायक-स्तथैवात्र विषयानुरूपः सहृदयचित्ताह्लादकरः शब्दविन्यासो वस्तुनिर्वाहश्चेति भूयो भूयः सफलीभूतपरिश्रमाणामद्यतनेऽपि सुरभारतीपरिशीलनेन तदुज्जीवकानां श्रीमतां वर्धापनं करोमि। आशासेऽनया कृत्याऽपराभिश्चैवंविधाभिः कृतिभिः श्रीमतां भारतीयसाहित्यसेविनां मध्ये चिरन्तनी यशःसमृद्धिःस्यादिति॥

२५—२—३८ भावत्कः कश्चिद् विश्वबन्धुसमाख्यः।”

" श्री पण्डित मेधाव्रत महानुभाव !

आपने अपनी प्रतिभा से विविध छन्दों, अलंकारों और गुणों के आगाररूप, मधुर, सुन्दर, विषय से गहन और गम्भीर होते हुए भी उत्तम, समझने में सरल और सुगम, सुविभक्त, अनतिदीर्घ बारह सर्गों में गुँथा हुआ दयानन्द काव्य मुझे कहीं कहीं से सुनाकर मेरे हृदय में आनन्द की लहर पैदा की। इसलिये मैं मानता हूँ कि आपने मुझे महान् उपकार का पात्र बनाया है। जैसे इस कृति में महान् उपकारक, विद्या और तपके वैभव से जगत् के उद्धारक चरित्रनायक है वैसे ही इसमें विषय के अनुरूप काव्य-रसिकों के हृदयों को आनन्द देनेवाला पद-विन्यास तथा कथा-वस्तु का निर्वाह किया है। इसलिए वर्त्तमान समय में भी सफल परिश्रमवाले, सुरभारती के परिशीलन से उसको उज्जीवित करने वाले आपको वारंवार बधाई देता हूँ। इस कृति से तथा ऐसी ही इतर कृतियों से आपकी भारतीय साहित्य-सेवियों में अत्यन्त चिरकाल तक यशःसमृद्धि हो, यह मेरी अभिलाषा है॥

ता० २५-८-३८ आपका कोई विश्वबन्धु शास्त्री॥"

श्रद्धेय संन्यासिप्रवर विद्वद्वर्य श्री नरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ, कुलपति-महाविद्यालय ज्वालापुरः—(हरद्वार)--

" दयानन्ददिग्विजयविषयेऽस्माकं मतम्—

यान् काव्यदोषान् कवयो वदन्ति,
ते प्रायशो नात्र पदं लभन्ते।
रसप्रकर्षोऽप्यत एव भाति
पाठप्रमोदं च मनो दधाति ॥१॥

प्रशंसनीयः स भवत्प्रयत्नः,
सानन्दसम्पादितकाव्यरत्नः।

संदृश्यते यत्र मते विकाशः,
मुखस्य वाऽऽदर्शतलेऽवभासः ॥२॥

काव्यं सदा श्राव्यमिदं प्रयत्नैः,
रत्नैरिवाब्धिः परिपूर्णमस्ति ।
भावैर्लसद्द्वादशभिश्च सर्गैः,
संक्षिप्तसारार्थविलासगर्भम् ॥३॥

श्रीमद्दयानन्दसरस्वती य-
श्चकार चित्रं भुवने चरित्रम् ।
तेनैव शोभातिशयं दधानं-
विद्वन्मनोरञ्जकतां प्रयातु ॥४॥

विख्यातमेषा भवतः कृतिः स्ता-
न्मेधाव्रतस्यातितरां भवेऽस्मिन् ।
आशास्त इत्यादरभावितात्मा,
ज्वालापुरीयो नरदेवशास्त्री ॥५॥ "

कार्त्तिक शुक्ला द्वादशी, सं. १९९४

" दयानन्ददिग्विजय के विषय में हमारा अभिप्रायः—

कवि लोग जिन दोषों का वर्णन करते हैं प्रायः वे दोष इस काव्य में नहीं हैं; इसीलिए रसों की उत्तमता सुहाती है और पद–लालित्य मन को प्रमुदित करता है ॥ १ ॥

आपने काव्य-रत्न को आनन्द से सम्पादित किया है; अतः आप का प्रयत्न प्रशंसनीय है। जैसे स्वच्छ दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब दीखता है वैसे ही निर्मल काव्य में आप की बुद्धि का विकास प्रतीत होता है ॥ २ ॥

यह काव्य सदा प्रयत्न से सुनाने योग्य है। जैसे रत्नों से सागर भरा हुआ होता है वैसे ही बारह सर्गों वाला यह महाकाव्य भावों से भरा है। इस में अर्थ-सौन्दर्य के साथ ऋषिदयानन्द के जीवन का सार चित्रित है ॥ ३ ॥

संसार में श्रीमान् दयानन्द सरस्वतीजी ने जो अद्भुत चरित्र किया है; उससे इसमें अतिशय शोभा बढ़ गई है। अतः यह महाकाव्य विद्वानों के लिये भी मनोरंजक होगा ॥ ४ ॥

इस संसार में मेधाव्रतधारी आपकी यह कृति विख्यात हो ऐसा मैं आदरबुद्धि से आशीर्वाद देता हूँ।

नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ

(कार्तिक शुक्ला द्वादशी सं. १९९४.) कुलपति ज्वालापुर महाविद्यालय

डॉ० श्री मंगलदेवजी शास्त्री, एम. ए. पी. एच. डी. रजिस्ट्रार, गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज-एक्झॅमिनेशन्स, यू० पी० और प्रिन्सिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, बनारस (काशी):—

" श्रीमत्पण्डितप्रवरमेधाव्रतकविरत्नप्रणीतं 'श्रीमद्दयानन्ददिग्विजयं' नाम द्वादशसर्गात्मकं महाकाव्यं निरीक्ष्य नितरां प्रसन्नमस्मदीयं चेतः। देववाण्याः कृते सर्वथा प्रतिकूलेऽप्यस्मिन् काले ललितयाऽर्थगभीरया च शैल्या एतादृशमहाकाव्यनिर्माणेन सुरभारत्या भूयोऽपि भुवि भव्यसौभाग्यं वर्द्धयताऽस्य कर्त्रा तस्या महदुपकृतमिति सादरं तस्मै शतशो

धन्यवादान् वितरामः। कलिकल्मषापहारिणो यतिवरस्य व्रतिनां मूर्धन्यस्य चिराय समुच्छिन्नवैदिकवाङ्मयस्य भूयोऽपि भारतभूमौ समुद्धारकस्य जगत्पूज्यस्य श्रीमतः स्वामिश्री-दयानन्दाचार्यस्य पुण्यातिपुण्यं जीवनचरितमुद्दिश्य प्रवृत्तं महाकाव्यमेतच्चिराय विवेकचणानां विदुषां सहृदयानां हृदय-परितोषाय भूयादिति चासकृत्कामयामहे ॥"

(ता. ९-२-१९३८ ई०)

"श्रीमान् पण्डितप्रवर मेधाव्रत कविरत्न का बनाया हुआ श्री दयानन्ददिग्विजय नामक बारह सर्गों वाला महाकाव्य देखकर हमारा हृदय अत्यन्त प्रसन्न हुआ। देववाणी के लिए सर्वथा प्रतिकूल होते हुए भी इस काल में ललित और अर्थ-गंभीर शैली से इस प्रकार के महाकाव्य के निर्माण से पुनरपि पृथ्वी पर सुरभारती के भव्य सौभाग्य को बढाते हुए इस महाकाव्य के रचयिता महाकवि ने उस संस्कृतवाणी पर महान् उपकार किया है; इसलिए हम इस कवि को शतशः धन्यवाद देते हैं। कलिकाल के पाप को दूर करनेवाले यतिवर, ब्रह्मचारियों में शिरोमणि, दीर्घकाल तक लुप्तप्राय वैदिक वाङ्मयके पुनरपि भारतवर्ष में उद्धारक, विश्ववन्दनीय श्रीमान् स्वामी दयानन्दाचार्य के अति पवित्र जीवनचरित्र को उद्देश करके प्रवृत्त हुआ यह महाकाव्य चिरकाल विवेक चतुर विद्वान् सहृदयों के हृदयों को आनन्ददायक हो ऐसी हम वारंवार कामना करते हैं॥"

(ता ९-२-१९३८ ई०) मंगलदेव शास्त्री

विद्वद्वर, मनीषिप्रवर, दार्शनिकशिरोमणि, पण्डित श्री मुक्तिरामजी उपाध्याय, आचार्य गुरुकुलमहाविद्यालय-पोठोहार (चोहा खालसा) जिला-रावलपिण्डीः—

" श्रीमान् आचार्यवर ! सप्रेम नमस्ते ।

आपके काव्य को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है । इसके विषय में जो कुछ कहना चाहता हूँ वह नीचे के तीन पद्यों में है । मैं इच्छा करूंगा कि यह काव्य गुरुकुलों की पाठ्य प्रणालीका अङ्ग हो । यदि आप यह यत्न कर सकें कि एक दो सर्ग अलङ्कारों के क्रमिक उदाहरणरूप हों तो बड़ा लाभ हो । "

" कविवर ! कृतिरतिरुचिरा,
रुचिलानं सुचिरं चकार भवतः ।
शमनरसभरा सुतरा-
माहरतितमां मनः कवेर्भणितिः ॥१॥

यदन्तिमेऽपि जीवनम्
प्रसादमाततान तत् ।
प्रसन्नवर्णमालया
सुवर्णितं कवे ! हितम् ॥२॥

मेधामलंकृतिसमुज्ज्वलपद्यवृन्दे,
आचार्यतामपि चमत्कृतकल्पनासु ।
सद्वृत्तवर्णन अथ व्रतमंकयन् भोः !
सत्काव्यपंक्तिषु लिलेख निजाभिधानम् ॥३॥

तिथि
१४-११-९५

आपका शुभचिन्तक,
मुक्तिराम उपाध्याय

"हे कविवर ! आपकी अतिरुचिर कृति ने चिरकाल तक हमको रुचियुक्त बना दिया । क्योंकि शान्तिरसप्रधान कवि की कविता मनको सुतरां अतिशय हर लेती है ॥ १ ॥

हे कविजी ! जिस ऋषि के चरित्रने अन्तिम समय भी जीवन के प्रसाद को फैलाया अर्थात् आनन्द का विस्तार किया उसे आपने प्रसादमयी वर्णमालासे उत्तमता-पूर्वक ग्रथित किया है; वह जगत् के लिये मंगलकारक होगा ॥ २ ॥

अलंकारों से अति उज्ज्वल पद्य-वृन्द में मेधा को, चमत्कारिणी कल्पनाओं में आचार्यत्व को और उत्तम छन्दोंद्वारा सच्चरित्र वर्णन में अपने व्रत को अंकित करते हुए हे कविवर ! आपने उत्तम काव्य-मालाओं में अपना (मेधाव्रत) नाम लिख दिया है ॥ ३ ॥

आपका शुभचिन्तक मुक्तिराम उपाध्याय

विद्वद्वर श्री पं० मयाशंकरजी शर्मा, आचार्य गुरुकुल महाविद्यालय आणन्द (शुक्लतीर्थ) गुजरातप्रदेशः—

"अद्य मया श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नेन प्रणीतस्य दयानन्ददिग्विजयनामकस्य महाकाव्यस्य हस्तलिखितं पूर्वार्द्धं दृष्टम् । श्रीमेधाव्रतकविरत्नस्य वाक्प्रवाहः संस्कृत-भाषायामस्खलद्गतिर्वर्त्तते । अद्यत्वे संस्कृतभाषायां महाकाव्य-निर्माणं सरस्वतीप्रसादमन्तरा सुदुर्लभमिति न विदुषां धिया-मगोचरः । प्राक्तनसंस्कारोद्बोधमन्तरेण कवित्वं न सुलभम् । श्रीमेधाव्रतकविरत्नेन महाकाव्यनिर्माणे नूनं साफल्यम-लम्भि-इति वचने न काप्यतिशयोक्तिर्जागर्त्ति । महाकाव्येऽस्मिन् प्रसन्नपदैरर्थगौरवनिर्भरैर्न क्वापि स्फुटता अपाकृता ।

माधुरीधारापि काप्यनुत्तमा श्रुतौ पतन्ती श्रोतॄन् सुखोदन्वति निमज्जयति। इदानीं गीर्वाणगिरीदृशमहाकाव्यनिर्माणमार्याणां परममभिमानस्थानं वर्त्तत इत्यहं जाने। अस्य महाकाव्यस्य पठनेन पिपठिषूणां समीचीना व्युत्पत्तिर्भविष्यति, अतोऽवश्यमिदं मुद्रापणीयम्। अतो धनिकजनैरस्य महाकाव्यस्य मुद्रापणे निजधनस्य सूपयोगः कर्त्तव्यः। कविवरश्चायं साहाय्यदानेन प्रोत्साहनीयः, यतो द्रुतमुत्तरार्द्धमप्यस्य महाकाव्यस्य विदुषां दृष्टिपथं यायात्।"

(ता. १२-९-३७. रविवार)

"आज मैंने श्री पं. मेधाव्रत कविरत्न के बनाये हुए 'दयानन्ददिग्विजय' नामक महाकाव्य का हस्तलिखित पूर्वार्द्ध देखा। कविरत्न मेधाव्रतजी की संस्कृत भाषा में वाणी की धारा अस्खलित गति से बहती है। इस युग में संस्कृत भाषा में महाकाव्य का निर्माण सरस्वती के वरदान के विना अत्यन्त कठिन है यह बात विद्वानों से छिपी नहीं है। पूर्वजन्म के संस्कारों के उद्बोधन के विना कवित्व सुलभ नहीं होता। महाकविश्री मेधाव्रतजीने महाकाव्य निर्माण में सचमुच सफलता प्राप्त की है। इस कथन में जराभी अतिशयोक्ति नहीं। इस महाकाव्य में किसी स्थल में भी प्रसादगुणयुतपद तथा अतिशय अर्थ गौरव ने विशदता को तजा नहीं है। कानों में गिरती हुई अद्भुत एवं अनुपम माधुरी धारा भी श्रोताओं को सुखसागर में मग्न करती है। वर्त्तमान समय में गीर्वाणवाणी में इस प्रकार का महाकाव्य रचना आर्यों के लिए अति अभिमान का विषय है ऐसा मैं मानता हूँ। इस महाकाव्य के पठन से पढ़नेवाले विद्यार्थियों की अच्छी (योग्यता) व्युत्पन्नता होगी; अतः अवश्य इसे प्रकाशित करना चाहिए; और धनवान् लोगों को इस महाकाव्य के प्रकाशन

में अपने धन का सदुपयोग करना चाहिए तथा इस कविवर को धन की सहायता से उत्साहित करना चाहिए; जिस से शीघ्र ही इस महाकाव्य का उत्तरार्द्ध भी विद्वानों के दृष्टि-पथ में आवे ॥

पं. मयाशंकर शर्मा

साहित्यमर्मज्ञ श्री गोविन्दलाल हरगोविन्द भट्ट एम० ए०, संस्कृताध्यापक बड़ौदा कालेज-बड़ौदाः—

" अनेकगद्यपद्यात्मकसंस्कृतग्रन्थप्रणयनप्रथितयशसां यथार्थनाम्नां कविरत्नादिपदविभूषितानां पण्डितमेधाव्रत-शर्मणां दयानन्ददिग्विजयाख्या महाकाव्यरूपा कृतिः साद्यन्तं मयावलोकिता, समजनि च महानानन्दसन्दोहः। अधीत-वेदवेदाङ्गानां पतितपावन-पुण्यश्लोक-भीष्मपितामह इत्यादि-पदवीशोभितानां श्रीमद्दयानन्दमहर्षीणां दिव्यचरितं ग्रन्थेऽस्मिन् वस्तुत्वेन स्वीकृतम्। शैली च खलु ग्रन्थकृतां विषय-माहात्म्यानुरूपा। दृश्यन्ते च पदे पदे प्रसादादिगुणा रूपको-पमाद्यलंकाराः शान्तवीरप्रभृतिरसाः प्रकृतिसौन्दर्यवर्णनं शब्दार्थगौरवं गीर्वाणभाषाप्रावीण्यं च। वर्त्तन्ते च गीर्वाणभाषायां श्रीमच्छंकराचार्यदिग्विजयादिप्रबन्धाः किन्तु तत्संख्याल्पीयसी। एतादृशग्रन्थविरचनेन ग्रन्थकृद्भिः गीर्वाणभाषाया-महती सेवा कृतेत्यत्र न कोऽपि शंकालेशः। एतद्ग्रन्थवाच-नेनैवं प्रतीतिर्जाता-पण्डितमेधाव्रताः कालिदासभवभूतिप्रभृ-तिमहाकवीनामवतारभूता वर्त्तमानकाले विराजन्त इति।

उत्तरार्द्धोऽस्य ग्रन्थस्याचिरेणैव कालेन सम्पूर्णो भवत्वित्याशास्य विरम्यते।"

ता. १-२-१९३८.

"अनेक गद्य पद्य के संस्कृत-ग्रन्थों के प्रणयन से विख्यात कीर्ति वाले, यथार्थनामा, कविरत्न आदि पदों से विभूषित पंडित मेधाव्रत शर्मा की 'दयानन्ददिग्विजय' नामक महाकाव्यरूप कृति मैंने आदि से अन्त तक देख ली। इसको पढकर मैं अत्यन्त आनन्दित हुआ। इस ग्रन्थ में वेद-वेदाङ्गों के विद्वान्, पतितपावन, पुण्यश्लोक भीष्मपितामह आदि उपमाओं से शोभित श्रीमान् दयानन्द महर्षि का दिव्य चरित कथा-वस्तु के रूप में गुंथा हुआ है। सचमुच ग्रन्थकार की शैली विषय-माहात्म्य के योग्य ही है। पद पद पर प्रसाद आदि गुण; रूपक उपमा आदि अलंकार; शान्त, वीर प्रमुख रस; प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन; पद-लालित्य, अर्थगौरव और गीर्वाण भाषा में प्रवीणता प्रतीत होती है। यद्यपि देववाणी में श्रीमच्छंकराचार्यदिग्विजय आदि ग्रन्थ हैं किन्तु उनकी संख्या अत्यल्प है। इस प्रकार के महान् काव्य ग्रन्थ के निर्माण से ग्रन्थकार ने देववाणी की महती सेवा की है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। ग्रन्थ के वाचन से मुझे ऐसी प्रतीति हुई कि पण्डित मेधाव्रतजी इस वर्त्तमान युग में कालीदास, भवभूति आदि महाकवियों के मानों अवतार रूप से विराजते हैं। इस महाकाव्य का उत्तरार्द्ध भी शीघ्र सम्पूर्ण हो ऐसी आशा रखकर मैं विराम लेता हूँ॥"

१-२-१९३८

पंचनदीय पण्डितप्रवर श्री विद्याधर शर्मा न्यायतीर्थ तथा वेदान्ततीर्थ पोष्ट-जेजों जि० हुश्यारपुर (पंजाब):—

"विद्वन्!

दृष्ट्वा भवन्महाकाव्यं परं तोषमुपागमम्।
तल्लिखामि सहर्षं यन्न ममास्ते हार्दिकं मतम्॥१॥

दर्शं दर्शं पुनरपि पुनश्चक्षुषो नोपरामः,
ध्यातं ध्यातं भृशमपि भृशं चेतसो नैव दाहः ।
पाठं पाठं पठितमपि यत् काव्यलालित्यपूर्णं,
काव्यं मेधाव्रतकविकृतं भूतले सन्तनोतु ॥२॥

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीनामृषीश्वरैश्वर्ययुतां यतीनाम् ।
विद्वत्त्वचारित्र्यविशेषतां श्रीमेधाव्रताचार्यकृतिर्दधाति ॥३॥

भो भो काव्यरसामृतप्रवहणस्यालोचने तत्पराः !
साहित्यस्य विशारदाः सुरसिकाः श्रीशारदोपासकाः ।
अत्रागत्य विलोक्यतां मधुकरा युष्मादृशानां कृते
काव्यं रस्यसमाप्लुतं सुरुचिरं संस्थापितं वर्त्तते ॥४॥

कालीदासमहोदयः कविकुलश्रेष्ठो न दृष्टो मया
श्रीमाघो भवभूतिभारविसमाश्चान्येऽपि भासादयः ।
कुर्वाणाः स्वकृतीर्विमोहितमतीर्याता दिवं ते चिरा-
दस्माकं तु युगे विराजति कविर्मेधाव्रतः साम्प्रतम् ॥५॥

श्रीमेधाव्रतपण्डितस्य विदुषः श्रद्धास्पदा लेखनी
चारित्र्यस्य विचित्रचित्रणकलाचातुर्यमातन्वती ।
अस्मिन् रम्यतरे सुचारुरचिते काव्ये दरीदृश्यतां
विद्वद्भिर्मन आनिधाय नितरां ग्रन्थश्च पापठ्यताम् ॥६॥

(ता. १-१२-३७.)

" विद्वन् !

आपका महाकाव्य अवलोकन कर मुझे परम सन्तोष हुआ; अतः मेरा जो हार्दिक मत है उसे मैं सहर्ष लिखता हूँ ॥ १ ॥

इस लालित्यपूर्ण काव्य को बार बार देखने पर भी आंखों को तृप्ति नहीं होती। वारंवार चिन्तन करने पर भी मन में जलन नहीं होती। जितना पढ़ते जाते हैं उतना ही माधुर्य प्रतीत होता है; अतः ऐसा कवि मेधाव्रत-कृत यह काव्य संसार में फैले ॥ २ ॥

आचार्य मेधाव्रत की कृति ऋषीश्वर के ऐश्वर्य से युक्त यतिवर दयानन्द सरस्वती के पाण्डित्य एवं चारित्र्य की विशिष्टता को धारण करती है ॥ ३ ॥

हे काव्यरसामृत के प्रबन्ध के आलोचन में तत्पर, साहित्य के विशारद, शारदा के उपासक, रसिकजन मधुकरो ! आप यहाँ आइये; आपके लिए रस से भरा हुआ अति रुचिर काव्य-पुष्प-तरु यहाँ विद्यमान है ॥ ४ ॥

मैंने कविकुलगुरु कालीदास, महाकवि माघ, भवभूति, भारवि तथा भास आदि महाकवि देखे नहीं; जिन्होंने स्वकृतियों से विद्वत्-संसार को मोहित कर दिया था; वे तो चिरकाल से स्वर्ग को चले गये। किन्तु हमारे युग में तो सम्प्रति मेधाव्रत महाकवि विराजते हैं ॥ ५ ॥

विद्वान् कवि मेधाव्रत की भक्तिमयी लेखनी इस अति सुन्दर महा-काव्य में महर्षि-चारित्र्य की विचित्र चित्रणकला के चातुर्य को प्रकट कर रही है; अतः विद्वान् जन इस महाकाव्य को बारबार देखें तथा मन लगाकर पढ़ें ॥ ६ ॥ "

१-१२-३७

श्रीयुत् प्रो. इन्द्रजी विद्यावाचस्पति, संचालक 'अर्जुन' श्रद्धा-नन्द बाजार, देहलीः—

" पण्डित मेधाव्रताचार्य कृत ' दयानन्ददिग्विजय ' काव्य का कुछ भाग मैंने देखा। यह देखकर मुझे हर्ष हुआ कि उस में कविने न कहीं सत्य का साहित्य पर बलिदान किया है, और न साहित्य का सत्य पर। दोनों की रक्षा का यत्न किया गया है। यह कुछ सरल कार्य नहीं है। प्रायः कविलोग साहित्य की रूढि की रक्षा या अलंकार के लिए सिद्धान्तों की हत्या कर देते हैं। ऋषि दयानन्द के चरित में कवि ऐसा करे, इस से बड़ा अनर्थ नहीं हो सकता। आचार्यजी ने सत्य और साहित्य को साथ साथ निभाने की सफल चेष्टा की है। इन की सिद्ध लेखनी ने कहीं विश्वासी हृदय को धोखा नहीं दिया। मुझे आशा है, प्रकाशित होने पर यह काव्य विद्वानों में आदर पायगा ॥ "

ता. १४-२-३८.

पंडितप्रवर श्री लक्ष्मीनाथ शास्त्री, प्रधानाध्यापक, राजकीय-संस्कृत महाविद्यालय बडौदा :—

" कविरत्नपण्डितश्रीमेधाव्रतविरचितं श्रीदयानन्द-दिग्विजयाख्यं द्वादशसर्गात्मकं काव्यं मया सादरं सप्रमोदं चावलोकितम्। कविकर्मकुशलेन प्रतिभाशालिनामुना कवि-रत्नेन ते ते विषया अस्मिन् काव्ये प्रसन्नया श्रुतिमधुरया

सरलया च गिरा तथा वर्णिता यथा गृहीतमात्रमेवेदं काव्यं पाठकगणस्य हृदयंगमं भवति। अथ चात्र काव्ये निपुणेन कविना विविधानि वृत्तानि शब्दसौष्ठवं वर्णमाधुर्यं शब्दालंकारा अर्थालङ्काराश्च साहित्यशास्त्ररसिकानामास्वादनाय निबद्धा येन काव्यमिदं स्थलविशेषे कालिदासभवभूतिप्रभृतिमहाकवीनां कृतिं स्मारयति। काव्यस्यास्योत्तरार्द्धमिमे कविवराः शीघ्रं सम्पादयन्तु। लोकाश्च तद्रसास्वादनेन प्रमुदितमनसो भवेयुरित्याशास्ते॥"

ता. २८-४-१९३८.

गुरुवार. बदरीनाथात्मजो लक्ष्मीनाथशास्त्री.॥

"कविरत्न पंडित श्री मेधाव्रत विरचित 'श्रीदयानन्ददिग्विजय' नामक बारह सर्गोंवाला काव्य मैंने आदर और आनन्द के साथ देखा। कवि कर्म में चतुर, प्रतिभाशाली, इन कविरत्नजीने इस काव्य में कर्ण-प्रिय प्रसादगुणयुक्त, सरल देववाणी में उन उन विषयों का इसप्रकार वर्णन किया है कि इस काव्य को पढ़नेमात्र से ही वाचक-वर्ग को यह काव्य हृदयंगम हो जाता है। और इस काव्य में चतुर कवि ने विविध छन्द, शब्दसौष्ठव, पद-लालित्य, शब्दालंकार और अर्थालंकार साहित्यशास्त्ररसिकों के रसास्वादनार्थ ऐसे गूंथे हैं, कि जिस से यह काव्य स्थलविशेष में कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की कृति को स्मरण कराता है। ये कविवर इस काव्य के उत्तरार्द्ध को शीघ्र सम्पादन करें, और सहृदय लोग उसके रसास्वादन से आनन्दित हों, ऐसी मैं कामना करता हूँ॥"

२८-४-३८ लक्ष्मीनाथ शास्त्री

ओ३म्

ये:—

हैं:—

इस युग में देववाणी के अद्वितीय

महाकवि

गर्मी के दिन थे, सहस्त्ररश्मि अपने किरण समूहों से तवे की तरह पृथ्वी को तपा रहा था. दिन भर धू धू करती हवा अपनी झोंकों से धूल भर ले आती, और सम्पूर्ण वातावरण में धूल के कण बखेर जाती, पशु और पक्षी पानी के लिए तृषित हो जलाशयों या पल्वलों की खोज में दौड़ते और उड़ते. दूर तक दृष्टि दौड़ाने पर भी हरियाली दृष्टिगोचर न होती, लोग दिन भर हाथों में रूमाल लेकर शरीर पर के पसीने के बूंदों को पोंछते, और गर्मी की तीव्रता के द्योतक अनेक शब्दों को बोलते. एक ओर ऐसी भयानक गर्मी में मज़दूर अपनी उदर-दरी की पूर्ति के लिए धधकती भट्टियों के सामने खड़े रहकर घन्टों कोयले झोंकते, हड़ हड़ भयानक कर्ण-वेधक शब्द करते, बड़े बड़े राक्षस-काय यंत्रों के बीच दिन भर खड़े रह कर यंत्रवत् बन जाते, तो दूसरी ओर गगनचुंबी भवनों में खस की टट्टियाँ लगी थीं, जिन पर गुलाब और केवड़े का जल छिड़का जाता, उनकी ओट में बैठे धनिकों और राजाओं को काश्मीर तथा मन्सूरी की यात्रा सूझती. बहुतों को तो काश्मीर, मंसूरी, नैनीताल और दार्जिलिङ्ग भी अपर्य्याप्त आनन्द-हेतुक मालूम देते, और इसलिए वे समुद्र के या आकाश के रास्ते स्विट्ज़रलेण्ड, वीना या प्राग भागते,

समाज में ऐसे लोग जो न तो बहुत ऊँचे दर्जे के अमीर हैं, और नाहीं जो एकदम नीची सतह के मज़दूर, भारतवर्ष के इस युग में ऐसे ही लोगों में कुछ कुछ कविता और कला के प्रति प्रेम अवशिष्ट रह गया है.

ऐसे ही लोग दिनभर कार्य्यव्यापृत रहकर बचे समय जब मस्तिष्क थका रहता है, तब कुछ २ सरस्वती से या काव्य-कला से विनोद करते हैं—हाँ, तो गर्मी के दिन थे—हम लोग भी दिन भर बच्चों के कोलाहल में ' सः तौ ते,' ' व्रजामि, गच्छामि. ' या अन्य विषयों के चक्र में फँसे रहते. शाम होती, और जठराग्नि में जैसा कुछ बनता सामग्री डाल शान्ति की अभिलाषा से पास ही के सार्वजनिक विशाल उद्यान में जाते. उस रात शीतरश्मि अपनी कोमल और शिशिर किरणों से वसुन्धरा पर अमृत बरसा रहा था. धीरे २ शान्त पवन चल रहा था. वाटिका के सुमनों से सुगन्धी को लपट आ रही थी. कहीं मौलश्री, कहीं बकुल, कहीं केवड़े तो कहीं गुलाब की महक से मन तरोताजा हो रहा था.

यह १९३६ की ग्रीष्म ऋतु की बात है. एक आदमी-लंबी कद, छरहरा शरीर, प्रशस्त ललाट, आँखों में सौम्यता, ऊँची नासा, सीप समान कान, दोनों कानों पर रोमावली, उभरे गाल, पतले २ ओष्ठ, लम्बे २ हाथों में पतली पतली अंगुलियाँ, आवाज में मधुरता, गम्भीरता, सौम्यता और शान्तता, साधारण जूता और धोती तथा एक मात्र ढोली ढाली कमीज, एक मात्र धोती पहने, हाथों में एक पहाड़ी लकड़ी का डंडा, चाल में मस्ती, कुछ गुन गुनाते, बाग की एक सड़क पर जा रहा है. साथ ही इस लेख का लेखक है, जिन पाठकों ने इस हुलिया का मनुष्य देखा है वे समझ गये होंगें कि यह व्यक्ति कौन है, जिन्हों ने इन्हें नहीं देखा उनके लिए नाम निर्देश कर देना भर पर्याप्त होगा—ये हैं मेधाव्रत कवि-रत्न अर्वाचीन संस्कृत साहित्यकानन के पंचानन. अस्तु.

न मालूम कैसे ? बात बात में मैंने कहा, क्या हो अच्छा हो कि आप एक चंपू की रचना करें, और उसका नाम रक्खें 'दयानन्दचंपू.' 'दयानन्ददिगविजय,' तो जैसा तैसा बन चुका है, आप में चंपू बनाने की पूर्ण क्षमता है. आपकी गद्यरचना ' कुमुदिनीचन्द्र, ' और पद्यरचना ' दयानन्दलहरी, ' तथा ' प्रकृति-सौन्दर्यम् , ' को मुझे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है. आप गद्य और पद्य दोनों प्रकारों की रचना में पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं इत्यादि.

कवि ने कहा—शास्त्रीजी, सफल चंपूरचना के लिए बड़ी तपश्चर्या की जरूरत है, केवल 'गद्यपद्यमयं काव्यं चंपूरित्यभिधीयते,' का तात्पर्य यह नही है

कि एक श्लोक और उसके बाद गद्य और पुनः श्लोक तथा गद्य बना डालने से चंपू बन जायेगा। यह तो चंपू का शरीर है. चंपू के शरीर में आत्मा डालना बड़ा कठिन काम है. यह सेवा मैं सुरभारती की कर सकता हूँ, परन्तु इस परिस्थिति में नहीं; जब कि रात दिन झंझटों के झंझावात से झकोरे जाकर संसार रूपी विक्षुब्ध वारिधि के कल्लोलों की थपेड़ों से ताड़ित हों. मैं जब गुरुकुल वृन्दावन में आठमीं श्रेणी में पढ़ता था, तभी मैंने 'प्रकृतिसौन्दर्यम्' की रचना की थी. तब से लेकर अब तक यदि मुझे अन्य कार्यों में न फँसना पड़ता तो सचमुच मैं इस क्षेत्र में—संस्कृत—कविता क्षेत्र में खूब उन्नति करता और साहित्य द्वारा समाज की अच्छी सेवा कर सकता. अब तो वानप्रस्थाश्रम में ही देववाणी की कुछ उल्लेखनीय सेवा मैं कर सकूंगा. मैंने कहा—जब आपने 'प्रकृतिसौन्दर्य, बनाया था. उस समय से तो आप में और भी अधिक परिपक्वता, गम्भीरता, अध्ययनशीलता आदि की वृद्धि हुई होगी, जब आपका 'प्रकृतिसौन्दर्य, ही अनवद्य रचना है तो अब यदि आप कुछ नव सर्जन करें तो सचमुच वह आदरणीय होगा. हाँ होगा? पर क्या करूं? समय तो मिलता नहीं, ९, ९ अंतर पढ़ाता हूँ, सबेरे से लेकर शाम तक शिष्याओं का ताँता बँधा रहता है, उन्होंने कहा.

फिर भी आप जैसे विद्वानों से तो आर्यसमाज कुछ लेने की आशा रखेगा ही. देखिए न! आर्य–समाज के जन्म को आधी सदी से ज्यादा बीत गई, पर अभी तक हम उन्हीं अश्लील काव्यों को गुरुकुलों में तथा पाठशालाओं में कोमलमति ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी तरुणों और युवतियों को पढ़ाते हैं जिन्हें पढ़ाने का निषेध आचार्य्य दयानन्द ने किया है:-मैंने कहा. देखिए, ईश्वर की यदि दया हुई तो मैं महर्षि दयानन्दजी के चरणों पर अपनी रचना पुष्पाञ्जलि अवश्य चढाऊंगा, कविजी ने कहा. बस उस दिन रास्ते चलते ये बातें हुईं—

और दो महिने के बाद — एक दिन अचानक आचार्यजीने कहा, शास्त्रीजी, 'दयानन्ददिग्विजय' की रचना मैंने शुरू कर दी है; बस उस दिन से, जब से दयानन्ददिग्विजय, का जन्म हुआ फिर कवि जी कभी भी हमारे साथ वाटिका भ्रमण को नहीं गये. लगातार एक वर्ष की निरन्तर

साधना, स्वाध्याय, तपश्चरण और वह भी आर्यकन्यामहाविद्यालय बड़ौदे के गुरुतर आचार्य के कार्यभार को संभालते हुए आज 'दयानन्ददिग्विजय, का पूर्वार्ध आर्य जगत् को ये भेट दे सके हैं. इस काव्यकी प्रसूति के काल में कवि को रातदिन अपने स्वास्थ्य-रक्षा की चिन्ता रहती थी. एक समय भोजन, सभासमिति–परित्याग, सब प्रकार की बाह्य वृत्तियों को त्याग कर अंतर्वृत्ति धारण करना पड़ा था, कई बार रात को कविता की स्फूर्ति होती, और आपको उसे टाँकने के लिए या उस के स्थान में यदि कोई नई स्फूर्ति हुई तो उसे भी लिख डालने के लिए निद्रादेवी को भी विसर्जन करना पड़ता था. इस प्रकार त्याग, तपस्या, साधना, आर्यत्व ब्रह्मचर्य, आर्षत्व आदि उदारगुणोपेत उदारचेता महर्षि दयानन्द की गुणगाथा वर्णन करने वाले के लिए जो गुण होने चाहिए, वे सब इस कवि में विद्यमान थे. सीता का सुंदर पार्ट एक आर्य्यललना ही कर सकती है. असती नहीं. राम की गुण–गाथा गोस्वामी तुलसीदास ही गा सकते हैं. आगाहस्र नहीं. वेदों और उपनिषदों की महिमा आचार्यवर दयानन्द और प्रतिवादिभयंकर शंकर ही जान सकते हैं, इतर संस्कृति में पले विषय लोलुप विद्वान् नहीं. बुद्ध को अश्वघोष ही समझ सकता है, कोई पौराणिक या याज्ञिक नहीं. ऐसे ही आचार्यवर दयानन्द को वे ही समझ सकते हैं, जो आर्यपरंपरा में पले हैं, पुषे हैं, जिन में महर्षि के लिए अगाध प्रेम के सागर में भावना की उत्ताल तरंगे उत्पन्न हो रही हों, जो केवल दयानन्द के नाम पर तागड़धिन्ना मचाने वाले न हों, जो हों समर्थ विद्वान्, जिन की जिह्वा पर सरस्वती लास्य करती हो, आचारवान् हों, कुलीन हों, सागर की सी गम्भीरता और पृथ्वी सी सहनशीलता, तथा हिमालय से हों अचल उनके (दयानन्द के) सिद्धान्तों के उपासक, वे ही महर्षि दयानन्द की गुणावली के वर्णन करने के अधिकारी हैं. नहीं तो " सत्यसागर ", और " पुष्पाञ्जलि ", के तुकों से तो दयानन्द की यशोगाथा गाने वाले तथा सुनने वाले आर्यसमाज में हैं ही.

हमें प्रसन्नता है कि महर्षि दयानन्द जैसे महान् चरितनायक के चरित प्रतिपादन के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, वे सब गुण कविरत्नजी में विद्यमान हैं. अतः अधिकारी के मुख से दयानन्द के चरित सुनने का सौभाग्य अब आर्य जनता को प्राप्त होगा, गौहर के मुख से सीता का नहीं. जो केवल

मात्र नाम और धन कमाने के लिए ही दयानन्द पर कुछ लिखते हैं, वे दयानन्द को क्या समझ सकते हैं, दयानन्द को समझने के लिए चाहिए दयानन्द की सी भावना, दयानन्द की परंपरा, दयानन्द सी पुरातनत्व की उपासकवृत्ति. सो पाठकों को अब महर्षि दयानन्द की पुण्य गाथा–श्रवण का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और वह भी देववाणीद्वारा. इस प्रसंग पर मैं दो शब्द पहिले लिख लेने का लोभ संवरण नहीं कर सकता–और वे हैं पं. अखिलानन्दकृत 'दयानन्ददिग्विजय' के सम्बन्ध में. बहुत से लोग इस नव 'दयानन्ददिग्विजय' महाकाव्यावतार के सम्बन्ध में पूछेंगे कि अखिलानन्दजीकृत दयानन्ददिग्विजय की विद्यमानता में इस नवावतरण की क्या आवश्यकता थी? ऐसे सज्जनों से हमारा निवेदन है कि जब वाल्मीकि–पुंगव की सर्वगुणोपेत रचना रामायण थी ही, तो कवि–सम्राट् कालिदास जैसे को रघुवंश बनाने की क्या आवश्यकता थी? और महाभारत विद्यमान था तब भारवि को किरातार्जुनीय रचने की क्या जरूरत थी. महाभारत में शकुन्तला और पौरव दोनों की गाथा पढ़ने को मिलती है. परंतु अभिज्ञानशाकुंतल में संस्कृतसाहित्य के शेक्सपीयर कविशिरोमणि कालिदास ने जो सौष्ठव, जो कला भर दी है—पहिले की रचनाओं के रहते भी अपनी उपयोगितासिद्धि के लिए वह स्वयं एक प्रमाणरूप है.

महाभारत की शकुन्तला सीधी सादी एक तपस्विनी कन्या है, पर कालिदास की शकुन्तला तो:—

"शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य, दूरीकृता-खलु गुणै रुद्यानलता वनलताभिः" के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती है. महाभारत के आश्रमवासी कण्व का केवल एक तपस्वी के रूप में ही हम दर्शन कर पाते हैं. परन्तु कालिदास के कण्व तपस्वी होने के साथ ही व्यावहारिक तथा दूसरों के भावों को समझने के लिये पूर्ण क्षमता भी रखते हैं. देखिए:—

"वैकल्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः ।
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥"

इस श्लोक में कण्व ने मानों अपने को एक गृहस्थाश्रमी के रूप में संपूर्णतया परिणत कर लिया है.

भारवि ने जिस द्रौपदी, युधिष्ठिर, अर्जुन, और भीम का चित्रण किया है, वे सब उनके अपने हैं, महाभारतकार से भारवि ने उधार नहीं लिए. फिर एक ही विषय पर कवियों की अनुभूति भी तो अलग २ होती ही है. जगद्वन्द्नीय गोस्वामी तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस, से 'साकेत' का तो भिन्न: पंथा है ही न? 'साकेत' में भक्ति के साथ कला भी अठखेलियाँ कर रही है, तो 'रामचरितमानस, में गोस्वामीजी ने भक्ति को कला का नवांबर पहनाने का यत्न नहीं किया है. वहाँ भक्ति वल्कलधारिणी तपोवन की देवी है. यद्यपि कहीं कहीं अनायास ही फूलों, पत्तों एवं अन्य वनीय पदार्थों से गोस्वामी तुलसीदासजी की भक्ति भी सज जाती है. परन्तु साकेत की — साकेत की तो बात ही कुछ और है. रामायण में बिचारी कैकेयी के साथ शायद भक्ति के उद्रेक में कुछ अन्याय हो गया था, तो साकेत में उसका परिहार किया गया है. दोनों रामायणों की उपेक्षिता उर्मिला को तो साकेत सजीव प्रतिमा सी बनाकर इस युग में ला खडी करता है. इस प्रकार कला और अनुभूति के भेद से एक ही विषय पर अनेक प्रकार से कविगण विचार कर सकते हैं. एक ही चरित–नायक के सम्बन्ध में भिन्न २ धारणा अलग २ रचयिताओं को हो सकती है. बुद्ध, ईसा, शिवाजी, प्रताप एवं अकबर को तथा नेपोलियन बोनापार्ट जैसों को सभी एक ही रूप में कैसे देख सकते हैं? "जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी" की उक्ति तो सब जगह चरितार्थ होगी ही. स्वामी दयानन्द अर्वाचीन भारत के सबसे बड़े युगद्रष्टाओं में से थे. अतः उनके जीवन के सब पहलुओं पर एक ही कवि ध्यान दे सके यह संभव भी नहीं. और 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इस उक्ति के अनुसार दृष्टिबिन्दु में भी सर्वथा सबका सामंजस्य नहीं हो सकता. इस लिए इण्डियनप्रेस–प्रयाग द्वारा संपादित 'दयानन्ददिग्विजय, के रहते भी कविरत्न मेधाव्रतजी के इस नवावतरण की आवश्यकता है, यह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता. साथ ही पं. अखिलानन्द के दिग्विजय में महर्षि दयानन्द को और उनके गुरुदेव स्वामी विरजानन्द को हम उसी रूप में नहीं पाते, जैसा कि इस नवीन दयानन्ददिग्विजय महाकाव्य में.

इस नव दयानन्ददिग्विजय की रचना की क्या आवश्यकता है? इसका औचित्य तो शाकुंतल, रघुवंश एवं किरातार्जुनीय आदि के दृष्टान्तों से ही सिद्ध

हो चुका है, तथापि पं. अखिलानन्दरचित दिग्विजय में और पं. मेधाव्रतजी की रचना में साधारणतः क्या अंतर है ? यह भी यदि संक्षिप्त रूप से विद्वानों के समक्ष उपस्थित कर दिया जाय तो यह अनुचित न होगा, साथ ही यह लिख देना भी आवश्यक है कि पं. मेधाव्रतजी के महाकाव्य का पूर्वार्द्ध ही अभी जनता के करकमलों में पहुँच रहा है. अभी इसके उत्तरार्द्ध की रचना तो कदाचित् एक वर्ष पश्चात् होगी, और अखिलानन्दजी का महाकाव्य वर्षों हुए संपूर्ण छप चुका है, अतः इन दोनों महाकाव्यों की संक्षिप्त तुलना तो १२ सर्गों तक ही की जा सकेगी और वह भी स्थालीपुलाकन्याय से.

कविरत्नजी के महाकाव्य में वर्णित विषयों की सूची इसलिए यहाँ लिख दी जाती है, जिस से साधारणतः पाठक इस काव्य में वर्णित वस्तु से परिचित हो जाँय, एवं समझ सकें कि पं. अखिलानन्दजी ने किस प्रकार अपनी गाड़ी सरपट दौड़ाई है, कविरत्नजी १२ सर्गों में जो विषय वर्णन कर पाये हैं, उन्हें अखिलानन्दजी ने साढ़े चार सर्ग तक ही में समाप्त कर डाला है, पं. अखिलानन्दजी की रचना में किसी भी पात्र का यादृश चित्रण न हो सका, जिस से वह पाठकों के समक्ष सम्पूर्णतया अपने रूप में उपस्थित हो सके. अस्तु.

प्रथम सर्ग :—आर्यावर्त के घोर अंधकारमय समय में स्वामीजी का प्रादुर्भाव तथा उनका प्रभाव वर्णन. उनके ही मुख से प्राचीन आर्यावर्त्त के सर्वविध-उन्नतियों का सविस्तर रेखाचित्र.

द्वितीय सर्ग :—भारत की नैसर्गिक सम्पत्ति एवं साम्राज्यसमृद्धि तथा राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक पतन का कलामय चित्रण, स्वामीजी की जन्मभूमि सौराष्ट्र देश का भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं धार्मिक दृष्ट्या वर्णन.

तृतीय सर्ग :—तृतीय सर्ग में स्वामीजी के जन्मग्राम टंकारा का स्वाभाविक वस्तु निदर्शन. असुंधरा और डेमी दोनों नदियों का आलंकारिक वर्णन. स्वामीजी के पिता एवं माता के स्वभाव एवं प्रभाव का वास्तविक चित्र. गर्भिणी माता के मन की प्रसन्नता का वर्णन, मूलशंकर का जन्म, जन्मकाल में पंच महाभूतों की अनुकूलता तथा प्रसन्नता का चित्रण, बाल्यलीला.

चतुर्थ सर्ग :—स्वामीजी के ५ वें वर्ष से १३ वें वर्ष तक का चरित्र. पिता द्वारा आचार विचार एवं वर्णमाला की शिक्षा. संध्या, व्रत, अनुष्ठान, मूर्त्तिपूजा, उपवास आदि का उपदेश, मूलशंकर से शिवरात्रिव्रत रखवाना चाहिए या नहीं, इस सम्बन्ध में माता पिता का परस्पर संवाद. मूलशंकर का शिवरात्रि व्रतानुष्ठान, जागरण, शिवालय में शिवमूर्ति पर चूहों की लीला. मूलशंकर का संदेह से पिता के प्रति सच्चे शिवविषयक प्रश्न, पिता का निरुत्तर रहना, और इसकारण बालक पर कोप करना, तथा मंदिर से घर भेज देना. घर जाकर माता से व्रतभंग का कारण कहना, तथा भोजन करना इत्यादि.

पंचम सर्ग :—सबेरे पुनः व्रत भंग के कारण पिता का बालक पर क्रोध, मूलशंकर की दृढ़ निश्चयता, चाचा आदि बंधु वर्गों का मूलशंकर के पिता को समझाना, और मूलशंकर को विद्याभ्यास में लगाना, मूलशंकर का अपने किसी सम्बन्धी के उत्सव में जाना, और उसी समय उनकी भगिनी की बीमारी का समाचार मिलना, और सबका घर लौट आना, पश्चात् भगिनी की मृत्यु. मातृविलाप, स्वामीजी की वैराग्यभावना का उद्दीपन, कुछ ही दिनों पश्चात् चाचा पर मृत्यु का आक्रमण, मूलशंकर का विलाप. धैर्य–धारण. मृत्यु पर विजय की दृढ़ धारणा. एकान्त सेवन. माता पिता से विद्याभ्यास के लिए काशी जाने की आज्ञा मांगना. माता के निषेध करने पर समीपस्थ ग्राम के एक पंडित के पास वेद व्याकरण, दर्शन आदि का अध्ययन, अपने इस गुरु के पास गृहस्थाश्रम में न प्रवेश करने की भावना का प्रदर्शन. गुरु द्वारा माता पिता को इस बात का पता लग जाना. मूलशंकर को घर लाकर विवाह–बंधन में बांध देने की तैय्यारी. इसी कारण गृहत्याग.

षष्ठ सर्ग :—घर से निकल कर रामपुर में लालाभक्त योगी के पास योग के अभ्यासार्थ जाना, और उन्हीं से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेना. शुद्ध-चैतन्य नाम रखाना. बाद में सिद्धपुर पहुँचने पर पिता द्वारा पकड़ा जाना, और सैनिकों की निगरानी में रहना, और रातको ही समय पाकर भाग निकलना. भगवान् बुद्ध के साथ तुलना. अनेक नगरों में घूमते हुए बड़ोदे में आकर चेतन मठ में रहना, और नव्य वेदान्ती बनना.

सप्तम सर्ग :—नर्मदा के किनारे साधुसन्तों का दर्शन और सत्संगति. ऊरी और रेवा के संगम स्थान पर स्वामी जी का जाना और वहाँ के तपोवनों का वर्णन. चाणोद् कर्णाली में वेदान्त के महान् विद्वान् चिदाश्रम संन्यासी से भेंट, वहीं पर परमहंस परमानन्दजी से वेदान्तसार आदि वेदान्त ग्रन्थों का अध्ययन, ब्र. शुद्धचैतन्य की चिदाश्रमजी से संन्यासाश्रम में प्रवेश करने की प्रार्थना और उनका शुद्धचैतन्य की छोटी उम्र देख कर संन्यास देने से इन्कार कर देना. कुछ समय पश्चात् शृंगेरी मठ के स्वामी पूर्णानन्दजी सरस्वती से संन्यासाश्रमप्रवेश, दयानन्द नाम धारण करना. संन्यासी दयानन्द की शोभा का वर्णन. संन्यासाश्रम के कर्तव्यों का गुरुद्वारा उपदेश, व्यासाश्रम में स्वामी योगानन्दजी से योग–शिक्षा ग्रहण. छिनूर ग्राम के श्रीकृष्ण शास्त्री से व्याकरण का अध्ययन, भिन्न २ संतों से नई २ विद्याओं और शिक्षाओं का अभ्यास, ज्वालानन्द और शिवानन्द योगियों से मुलाकात और इन दोनों से समस्त क्रियात्मक योग विद्या का अध्ययन. आबू शिखर पर जाना, वहाँ के एक योगिराज से ध्यान के प्रकारों का अभ्यास. पश्चात् अनेकों तीर्थों में सत्संगति की इच्छा से लगातार आठ वर्षों तक भ्रमण. ३२ वर्ष की उम्र में हरिद्वार के कुंभ पर पहली वार जाना, कवि द्वारा भागीरथी की महिमा का वर्णन. कुंभ के प्रसंग पर अनेक योगियों से ज्ञान–चर्चा. कुंभमेलानिरीक्षण. हृषीकेश जाना, और यहाँ से दो पहाड़ी साधुओं के साथ टिहरी जाना. वहाँपर राजपण्डित का भोजन के लिए आमंत्रण, भोजन शाला में मांस देख कर लौट पड़ना, और ब्राह्मणों की दशा पर शोक.

अष्टम सर्ग :—टिहरी में राजपुरोहित के पास अनेक तंत्रग्रन्थों का अध्ययन, श्रीनगर में शास्त्रार्थ के समय तंत्र ग्रन्थों के उदाहरण से ही तांत्रिकों को हराना, केदारघाट पर निवास. यहाँ का प्राकृतिक–सौन्दर्यदर्शन. महात्मा गंगागिरि के साथ सहवास. कवि का षड् ऋतु वर्णन. हिमालय की कन्दराओं में और गाढ़े जंगलों में योगियों के अन्वेषणार्थ भ्रमण. तुंगनाथ नामक शिखर से उतरते हुए मरणान्तक कष्टों का अनुभव, जैसे तैसे रात में ही जंगल लांघ कर ओखीमठ में आगमन. ओखीमठ के महन्त का इनकी विद्वत्ता, सुशीलता,

सौन्दर्य आदि से आकृष्ट होकर गद्दी प्रदान का प्रलोभन देना और स्वामीजी का दृढतापूर्वक निषेध.

नवम सर्ग :--बद्रीनाथ-यात्रा. महन्त रावल से भेंट, योगियों के अन्वेषणार्थ अलखनन्दा के तटोंपर भ्रमण. असीम कष्टों का कविद्वारा निदर्शन. अलखनन्दा की बर्फ पर मृत्यु का विचार. दो मनुष्यों का इसी अवस्था में मिल जाना. चरणों के क्षत विक्षत हो जाने के कारण उनके आतिथ्य का अस्वीकार, पश्चात् उसी रात अपने अलौकिक मनोबल के कारण बद्रीनाथ लौट आना. हिमालय के भिन्न २ तीर्थों में घूमते हुए हेमन्त ऋतु बीतने पर गढ़मुक्तेश्वर, संभल आदि गंगातट के नगरों में विचरण. गंगा के किनारे स्वामीजी के योगसाधन और ब्रह्मदर्शन का निरूपण. रूपक, उपमा आदि अलंकारों द्वारा स्वामीजी का विशिष्ट वर्णन. गंगा तट पर शव को चीरना, और तंत्रोक्त ग्रन्थानुसार नाड़ी आदि परीक्षा, मिथ्या प्रतीत होने पर मुर्दे के साथ ही ग्रन्थों को फेंक देना. भागीरथी के किनारे किनारे कानपुर, प्रयाग आदि नगरों में भ्रमण करते हुए काशी पहुँचना. काशी का मनोहर शैली से वर्णन. काशी के पं. काकाराम आदि पण्डितों से ज्ञानालाप. काशी में सद्गुरु का अन्वेषण. काशी से नर्मदा के उद्गम स्थान देखने का निश्चय तथा प्रयाण. मार्ग में कष्टों की परंपरा. रीछ आदि जंगली जंतुओं का सामना. ईश्वर को व्यापक और परमसहायक समझ कर निर्भयता से विचरते हुए आगे बढ़ना, और उद्गम स्थान पर पहुँच ही जाना, यहाँ के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाना. इसी प्रकार नर्मदा के किनारे २ विचरते हुए तीन वर्ष व्यतीत करना.

दशम सर्ग :—विद्वानों के मुख से दण्डी विरजानन्दजी की ख्याति सुनकर दयानन्द का मथुरा आना, कवि द्वारा गुरुवर विरजानन्द के प्रभाव एवं विद्वत्ता का सुंदर वर्णन. गुरु से भेंट, संवाद, अनार्ष ग्रन्थ-परित्याग की आज्ञा, अपने भोजन, वस्त्र, निवास, आदि के स्थिर प्रबन्ध के पश्चात् गुरु से विधिपुरस्सर सर्व शास्त्रों का अध्ययन. अध्ययन काल में गुरुसेवा, आदर्श गुरु द्वारा आदर्श शिष्य को निगम, आगम की सम्पूर्ण विद्याओं की प्राप्ति. मनोरथानुकूल शिष्य को प्राप्त कर विरजानन्द जी की प्रसन्नता. मथुरा की जनता पर स्वामीजी के अद्भुत ब्रह्मचर्य की दिव्यकान्ति, अलौकिक विद्वत्ता

और सच्चरित्रता की छाप, विद्यासमाप्ति पर गुरुदक्षिणार्थ दयानन्दजी का विरजानन्दजी के पास लौंग लेकर जाना, दक्षिणा में जीवन अर्पण. गुरु का आशीर्वाद और उपदेश. प्राचीन वैदिक गुरुकुलों और बौद्ध विश्वविद्यालयों एवं अर्वाचीन ऑक्सफोर्ड आदि विद्यापीठों का ऐतिहासिक दृष्ट्या वर्णन, और इसी प्रसंग में वैदिक युग के ऋषि मुनियों तथा बौद्ध युग के महान् आचार्यों का संक्षिप्त दिग्दर्शन. गुरुगृह से दयानन्द का दिग्विजयार्थ प्रयाण.

एकादश सर्ग :—गुरुगृह से शास्त्रार्थसमर और प्रचार के लिए महाभिनिष्क्रमण. आगरे में प्रचार. आगरे में भागवत–समीक्षा और संध्या पर दो पुस्तिकाओं का लेखन. मंत्रार्थविचार. समय समय पर शंकाओं का गुरुदेव से पत्र द्वारा निराकरण. स्वामीजी की समाधि, तत्प्रसंग में उषा का सौंदर्यवर्णन, ईश्वरस्तवन, वेदस्तुति, सरस्वतीस्तवन, मातृभूमिप्रशंसा, गुरुस्तवन, वैदिक धर्मरूप महान् यज्ञ में अपनी आहुति के प्रदान की प्रतिज्ञा. भागवत सप्ताह के प्रसंग में ग्वालियर गमन, और यहाँ ही भागवत मत का खण्डन. जनता का आकर्षण. ग्वालियर से करौली राज्य प्रस्थान. जयपुर निवास. शैवों और वैष्णवों के महान् शास्त्रार्थयुद्ध में सेनापतित्व. वैष्णव मत खण्डन, राजा का शैव मत में प्रवेश. यहां से अजमेर होते हुए पुष्कर गमन. पुष्कर में ब्रह्मा के मन्दिर में निवास और वहाँ ही ब्रह्मा की मूर्त्तिपूजा का खण्डन. व्यंकट शास्त्री के साथ शास्त्रार्थ. व्यंकट शास्त्री पर स्वामीजी का प्रभाव और शास्त्रार्थ में स्वामीजी को उनका सहायता देने का वचन. साम्प्रदायिक सागर में क्षोभ. सबका व्यंकट शास्त्री के पास जाना, ब्रह्मदेव के महन्त मानपुरी की स्वामीजी पर भक्ति, वृद्ध माता से स्वामीजी का विनोद.

द्वादश सर्गः—इस सर्ग का नाम वृत्तसर्ग अथवा छन्दस्सर्ग है, इस सर्ग की रचना में कवि को स्वामीजी के जीवन चरित्र की शृंखला को संवद्ध रखते हुए सब श्लोकों में छंद का नाम तथा ठीक २ अर्थ भी सुसंगत रखना पड़ा है. पुष्कर से अजमेर लौटना. जनता में उपदेश. ईसाइयों के साथ शास्त्रार्थ. राबिन्सन नामक पादरी से बातचीत. ए. जी. जी. कर्नल ब्रूक से गोरक्षा पर विचार. कर्नल द्वारा बड़े लाट के लिए पत्र लिखाना. तथा कर्नल का स्वामीजी के लिये जयपुर के राजा को पत्र लिखना. दो तैलंगी

साधुओं से मिलन, और उन्हें उपदेश. रामस्नेही सम्प्रदाय के महन्त का पोल-उद्घाटन और उसका शास्त्रार्थसमर से पलायन. किशनगढ़ के राजा पृथ्वीसिंह के राजपण्डितों को परास्त करना. वैष्णवलीला—खण्डन. भागवत समीक्षा का जनता में वितरण, गुरुचरणों में पुनरागमन, शास्त्रार्थ के समाचारों का गुरुसेवा में निवेदन. गुरु से पृथक् होते हुए कवि द्वारा स्वामीजी की हार्दिक—वेदना का निरूपण. मेरठगमन. पं. गंगाराम से मेरठ में गोरक्षा पर बातचीत, और साहाय्य की अपेक्षा. गौरक्षा के लिए राजाओं से सहायता का प्रयत्न. मदनविजय के उपाय. हरिद्वार के कुंभ मेले में द्वितीय बार आगमन. कवि द्वारा मेले का तथा हरिद्वार का वर्णन. पाखण्डखण्डनी ध्वजा का आरोपण. पुराणलीलाखण्डन. स्वामी विशुद्धानन्द से जन्मपरकवर्ण-व्यवस्था पर शास्त्रार्थ, कुंभ में महन्तों, सन्तों, साधुओं एवं आचार्यों के चरित्र के दर्शन से क्षोभ, मौनसेवन, पुनः वेदनिन्दा सुनकर मौनत्याग. सर्वस्वत्याग, गंगातट पर निवास और भ्रमण.

यह हम पहले भी निर्देश कर चुके हैं कि पं. अखिलानन्द की रचना में बहुत ही जल्दबाजी की गई है. अखिलानन्दजी ने जिस बात को एक श्लोक में समाप्त कर लेने के बाद झट आगे दौड़ लगाने का यत्न किया है, उसी बात को हमारे कविरत्नजी ने बड़ी सुन्दरता से अपनी अखूट कल्पना शक्ति के बल खूब ही रसपूर्ण विस्तार किया है. संक्षिप्त रचना खराब होती है, और विस्तृत रचना अच्छी होती है ऐसा इस प्रतिपादन का ध्येय नहीं है. कथासूत्र यदि क्षीण हो तो व्यर्थ विस्तार अच्छा नहीं है, परन्तु यह भी ठीक नहीं है कि चरितनायक की मुख्य घटनाओं को भी छोड़ दिया जाय. अस्तु. पाठक अब जरा दोनों कवियों की रचनाओं में से रसास्वादन करें, और फिर अपनी सदसद्विवेकशालिनी बुद्धि से निर्णय करें कि किस में अधिक भाव-प्रवणता है. विशुद्धि या श्यामिका है.

सबसे पहले दोनों काव्यों के प्रथम सर्ग के प्रथम श्लोक पर ही दृष्टि-पात कीजिए :—

प्रणम्य भक्त्या परमेश्वरं परं
　　दयालुमाकारविशेषनिर्गतम् ।

मया दयानन्दयशोविभूषितं
विरच्यते काव्यमिदं विलोक्यताम् ॥

(अखिलानन्द)

दयामयानन्दनमूलशंकरम्
सरस्वतीशं निगमेन्दुसागरम् ।
विभुं निराकारमजं जगत्सृजं
भजामि मेधार्जनतो महागुरुम् ॥

(मेधाव्रत)

दोनों कवियों ने ईश्वर की वन्दना की है. पं. अखिलानन्द के श्लोक का उन्हीं के शब्दों में यह अर्थ है :—

" मैं सर्वोत्कृष्ट निराकार दयालु परमेश्वर को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर के ऋषि दयानन्द के यश से अलंकृत इस काव्य को रचता हूं. सज्जन देखें."

अब जरा कविरत्न पं. मेधाव्रतजी के श्लोक का भी भाव सुन लीजिए :-

जो कल्याणकारी परमेश्वर विद्याओं का स्वामी है, जैसे सागर से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, वैसे ही जिस से वेदों का आविर्भाव हुआ है, जो व्यापक, निराकार एवं अजन्मा है. जो अखिल ब्रह्माण्ड का कर्ता है, जो गुरुओं का भी गुरु है, ऐसे दयामय आनन्द-कन्द प्रभु को मैं सारासार विवेक-शालिनी बुद्धि के लिए भजता हूँ . इस श्लोक का उल्लिखित अर्थ ईश्वर परक है. परन्तु इस में और भी कितनी ही ध्वनियाँ तथा अर्थ निकलते हैं. इसका द्वितीय अर्थ ऋषि दयानन्द पर घटता है. तृतीय कवि के पिता पर और ध्वनि रूप से पं. मयाशंकर, कविवर दयाशंकर और आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव पर भी कवि ने पूज्य बुद्धि प्रकाशित की है. इसी पद्य में दयानन्द और मूलशंकर स्वामीजी के उन दोनों नामों की भी सूचना की गई है. कवि की पूजनीया माता सरस्वती देवी और उनके पूज्य पिता जगजीवनजी का भी इस में संकेत किया गया है, तथा कवि ने अपना नाम भी इस श्लोक में अंकित कर दिया है, और आर्यसमाज के दश नियमों में से प्रथम और द्वितीय नियमों का भी सूचन

है, अब श्लोक के अर्थ छोड़कर उस के पदों पर—शरीर पर दृष्टि डालिए. अर्थ-सौष्ठव के साथ पदलालित्य की भी छटा श्लोक में छा रही है, श्लोक में एक एक पद अपने स्थान में सार्थक है. मानों किसी आभूषण में उसके उपयुक्त स्थानों में मणियाँ जड़ दी हों.

अब जरा पण्डित अखिलानन्दजी के श्लोकों को समालोचना की कसौटी पर कसिए:—पं. अखिलानन्दजी का श्लोक भी ईश्वर वन्दना का है. इस में केवल ईश्वर के गुणों का ऐसा वर्णन किया जाना चाहिए था जो कि युक्तियुक्त एवं रुचिकर होता; ऐसा न कर के श्लोक के उत्तरार्द्ध में ' मैं इस काव्य को बनाता हूँ, सज्जन देखें; ' इस वाक्य द्वारा तो कवि का भावदारिद्र्य प्रकट हो रहा है, एवं बिचारी काव्य-कला नग्नकामिनी सी लज्जित हो रही है, ईश्वर के निराकार प्रतिपादन के लिए कहाँ ' आकार-विशेषनिर्गतम्, ' इतना लंबा वाक्यप्रयोग और कहाँ ' विभुं निराकारमजं जगत्सृजं, की छटा ? ? ' अन्तरं महदन्तरम्, कविरत्न अखिलानन्दजी के श्लोकार्द्ध में जो धारा बहती थी, वह तृतीय चरण तक आते आते बीच में ही सूख जाती है. और चौथा चरण तो श्लोक में उसी प्रकार मालूम हो रहा है, जैसे किसी कृशकाय मनुष्य पर गोबर थाप थूप कर उसे मोटा करने का यत्न किया गया हो. पाठक फिर से जरा दोनों श्लोकों को सुललित गिरा से पढ़ जाँय, और तब श्रवणमाधुर्य तथा पदमार्दव पर दृष्टि डालिए. आप को मालूम पड़ेगा कि कविरत्न मेधाव्रतजी ने भावमाधुर्य और अर्थगांभीर्य्य का पदलालित्य के साथ मणिकांचन संयोग कर दिया है.

तिस पर भी पं. अखिलानन्द की गर्वोक्तिगर्जना से डरिए मत. सुनिए आप फर्माते हैं :—

तद्वर्णनाय जगतीतलरत्नमेतत्
काव्यं निरस्तपरकाव्यमुदारपद्यम् ।
लोकोत्तरस्मृतिमताऽर्यकवीश्वरेण
सर्गैः कृतं कुमुदिनीदयितेक्षणांकैः ॥

१ स. ३६

" उन्हीं के वर्णन के लिए लोकोत्तरप्रतिभाशाली आर्य-कविरत्न पं. अखिलानन्द शर्मा ने २१ सर्गों में बनाकर यह काव्य पूर्ण किया. यह सरस काव्य संसार में रत्न रूप होगा. इस के सामने अन्य कवियों के काव्य फीके पड़ जायेंगे " सो अब आपके कथनानुसार आपका यह सरस काव्य संसार में रत्न रूप होकर, नहीं नहीं साहिब, सर्चलाइट होकर प्रकाश कर रहा है. आपके इस काव्य-रत्न के प्रकाश पुंज में बिचारे कालिदास, भवभूति और भारवि की तो बात ही क्या ? वाल्मीकि और वेदव्यास भी फीके पड़ गए हैं ? फिर बिचारे मेधाव्रतजी की तो कथा ही क्या ? इसी को कहते हैं ' अपने मुहँ मियाँ मिट्ठू ? '

अच्छा अब जरा पं. मेधाव्रतजी की विनयशीलता की बानगी लीजिए :—

बुधंकगम्ये चरिते मनोरमे
ममाबुधस्येह गिरामगोचरे ।
अयं प्रयासो विबुधैर्विबुध्यतां
जनस्य पंगोरिव शैललंघने ॥ (मेधाव्रत)

' जिस महर्षि के मनोरम चरित को केवल महाविद्वान् ही समझ सकते हैं, जिस चरित्र का वर्णन मेरे जैसे अज्ञानी की वाणी से नहीं किया जा सकता, ऐसे महापुरुष के चरित को वर्णन करने का मेरा यह प्रयास ठीक वैसा ही है जैसे किसी पंगु का पर्वत लांघना; पं. मेधाव्रतजी ने इसी प्रकार के और भी दो तीन श्लोक विनयप्रदर्शनार्थ लिखे हैं. उन श्लोकों में वर्णित उनकी विनयशीलता और उन के जीवन का नैतिक व्यवहार दोनों का खूब ही सामंजस्य हुआ है. पं. अखिलानन्दजी की गर्वोक्ति के साथ उनका जीवन भी कितना हठीला और दुरभिमानपूर्ण है यह विज्ञों से छिपा नहीं है. खैर, अखिलानन्दजी ने अपनी गर्व-गर्जना से विद्वत्समाज में अपने को नीचा ही गिराया है, और मेधाव्रतजी ने अपनी आत्म-श्लाघा स्वयं अपने मुख से न कर के विद्वत्समाज के समक्ष अपने को ऊँचा ही उठाया है. बड़े २ विद्वानों ने आपकी रचना के सम्बन्ध में यहाँ तक कह डाला है कि आप

अभिनव भवभूति प्रतीत होते हैं, तथा आपकी रचना कालिदासजी को स्मरण करा देती है.

अहंकार का परिहार तो कविकुलगुरु कालिदास तक ने भी खूब किया है, अहंकारनिरसन द्वारा पं, मेधाव्रतजीने प्राचीन महाकवियों के पथ का अनुसरण कर अच्छा ही किया है. ' भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः ' उत्तमफलवाले वृक्ष झुकते ही हैं.

अब जरा विद्वान् गण दोनों कवियों से वर्णित स्वामीजी के प्रभाव-वर्णन में से नमूने के लिये दो श्लोकों पर दृष्टिपात करें. साधारणतः दोनों का विषय एक ही है—

निवार्य यो वेदविरुद्धमण्डलं
महीतले तर्कबलेन वेदवित् ।
विधाय तामार्य्यमनुष्यपद्धतिं
बभूव धर्मोचितकार्यतत्परः ॥

" वैदिक धर्म में तत्पर ऋषि तर्कबल से अवैदिकों को, कुमार्ग से हटाकर वैदिक मार्ग पर ले आए, " इस श्लोक में केवल मात्र सीधे सादे शब्दों में छन्दोबद्ध वर्णन मात्र है. अलंकार या कोई विशिष्ट कल्पना का नाम निशान तक नहीं है. इसी वर्णन को पं. मेधाव्रतजी के शब्दों में सुनिए:—

प्रमाणनिस्त्रिंशसुतर्कसायकैः
सभारणे तान् प्रतिपक्षिपण्डितान् ।
अधर्मवर्मावृतगात्रमण्डलान्
बिभेद यः शास्त्रिमहारथो भटान् ॥

देखिए इस में रूपकालंकार की छटा. प्रमाण को खड्ग, सुतर्क को बाण, प्रतिपक्षी शास्त्रार्थियों को शत्रु और शास्त्रार्थी दयानन्द को महारथी बनाकर सभा को एक संग्रामभूमि के रूप में उपस्थित किया है, जिस में प्रतिपक्षी विवादियों के शरीर पर अधर्म का कवच पहनाया गया है, कविने कैसा एक सुंदर सजीव शब्दमय चित्र हृदयपटल पर अंकित कर दिया है. स्वामीजी के

प्रभाववर्णन के एक २ श्लोक में कविरत्नजी की प्रतिभाछटा छिटक रही है, जो साहित्यमर्मज्ञ रसिकों के हृदयों को अपनी ओर आवर्जित एवं आकर्षित कर लेती है. सच बात तो यह है कि पं. मेधाव्रतजी के प्रथम सर्ग के कलात्मक वर्णन में और पं. अखिलानंदजी के सीधे सादे सपॅट मैदान में कि जहां नहीं तो कहीं सुगंधि है, और नाहीं कहीं सौंदर्य का दर्शन. एक यदि काश्मीर की सुषमा है, तो दूसरी राजपुताने की बालुकामय भूमि जिस में करीर-विटपों के सिवाय कुछ नहीं है, भला जब इतना जमीन आसमान का अंतर है तब दोनों की तुलना कैसे की जाय. एक ओर गंगा है तो दूसरी ओर बरसाती छलकती क्षुद्र नदी. कविरत्नजी ने प्रथम सर्ग में स्वामीजी के द्वारा भारत के प्राचीन गौरव का जो चित्र खींचा है वह इतना आकर्षक, इतना भक्तिमय, इतना पवित्र, इतना मनोहर है कि उसे देख पढ़ कर भारत मैय्या की पुरानी गुण-गरिमा आंखों के सामने मूर्त्तिमती होकर नाच उठती है, और देशभक्ति के उद्रेक में उस समय पाठक अपनी आंखों से दो बूंद गिराये बिना नहीं रह सकता.

अब ऋषि की जन्मभूमि टंकारा नगरी के वर्णन में से दोनों कवियों की कल्पना शक्ति की तारतम्यता का निरीक्षण कीजिए :—

'वारस्त्रीबहुभोगापि, रक्तवर्णापि या पुरी ।
अखण्डितचरित्राढ्या, चन्द्रिकोज्ज्वलताभिता '॥

द्वितीय सर्ग-१४
(अखिलानन्द)

'कुशपुष्पवतीहव्यद्रव्यौषधिसमिच्चया ।
रेजे यज्ञस्थलीवेयं गोविप्रगणमण्डिता '॥

तृतीय सर्ग-१९
(मेधाव्रत)

पण्डित अखिलानन्दजी ने अपने श्लोक का स्वयं इस प्रकार अर्थ लिखा है :—

"जो पुरी वारस्त्रियों से परिपूर्ण होने पर भी सच्चरित्रजनों से युक्त है, लाल रंग की होने पर भी चन्द्रमा की चाँदनी से श्वेत है." इस श्लोक में लोकोत्तर आर्य-कवीश्वर जी महाराज विरोधाभास अलंकार का परिपाक करने चले थे परंतु इस विरोधाभास में बिचारी सारी नगरी की दुर्दशा हो गई. अब तक तो हम लोग यही जानते थे कि बम्बई, कलकत्ता जैसे बड़े नगरो में ही वार स्त्रियाँ रहा करती हैं, परंतु अखिलानंद जी की अलौकिक प्रतिभा की दौड़ में उन को टंकारा में भी वारस्त्रियाँ दृष्टिगोचर हुई ! और उसी वारस्त्रीमण्डित नगरी से वेदशास्त्रसम्पन्न आदित्यब्रह्मचारी दयानन्द पैदा होते हैं कहिए हैं न आप लोकोत्तर कवि. आप की अलौकिक कल्पना पर कवियों को कुर्बान हो जाना चाहिए. कवि जी महाराज, क्या कभी आप टंकारा पधारे हैं, जब आप दयानन्द दिग्विजय की रचना कर करने चले थे तब जरा टंकारा या मोरबी को ही देख लेते, यदि आप ऐसा करते तो आपसे ऐसा दुस्साहस कदाचित् भी नही होता, देखिए आज के इस पतन युग में भी इन नगरों में कहीं वेश्याएँ नहीं हैं, फिर अकारण ही आपने ब्राह्मणों की इस पवित्र नगरी की क्यों बदनामी कर डाली ? लाल रंग से आप का क्या मतलब है ? क्या वहाँ के सभी मकान रंगे थे ? चाँदनी की श्वेतिमा तो स्वामी जी की नगरी का कोई विशेष व्यावर्तक गुण नहीं है ? चाँदनी तो केवल उसी नगरी पर न थी ?

पण्डित अखिलानन्दजी विलासी हैं, और इसी लिए उन्हें चारों ओर विलास का वातावरण ही पसन्द पड़ता है, आपने उस नगरी के वर्णन में एक दशक से भी ज्यादा श्लोक लिख डाले हैं, पर किसी भी श्लोक में याथातथ्य तादृश वर्णन नहों है केवल पूर्व कवियों के विलासितामय वर्णन की शैली का हो अनुकरण किया गया है. विलासियों की नगरी से स्वामी दयानन्द जैसे आदर्श ब्रह्मचारी को पैदा कर के सचमुच पं. अखिलानन्दजी ने कोयले की खान से हीरा पैदा करने का व्यर्थ प्रयत्न किया है.

अब आचार्य मेधाव्रतजी के श्लोक का अर्थ देखिए :—

कुश, पुष्प, हवनीयद्रव्य, विविध औषधियाँ एवं समिधाओं से युक्त गौओं और ब्राह्मणों से अलंकृत यह नगरी यज्ञवेदी की तरह शोभ रही थी.

कितना अच्छा स्वभावोक्ति और उपमा-अलंकारों का परिपाक है इसमें. आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द की जननी इस नगरी का ऐसा ही युक्ति युक्त, पवित्र एवं सत्य वर्णन होना चाहिए, श्लोक में वर्णित सभी बातें नगरी में आज भी दृष्टिगोचर होती हैं, कोई जाकर देख ले.

कविरत्न मेधाव्रतजी ने २० श्लोकों में आँखों देखा नगरी का जो कल्पनामय शब्द-चित्र खैंचा है, वह बड़ा ही मनोहर और सात्विकता-पूर्ण है, नगरी का उदात्त वर्णन करते हुए कवि ने सत्यकी हत्या नहीं की है, असुंधरा, डेमी इन दोनों नदियों को गंगा यमुना से तुलना करके इन्हें आतिथ्य के लिए मूर्तिमती सेविका सी चित्रित की है, सायंकाल के समय नगर में प्रवेश करती हुई गौओं का स्तन-घट में अपने वत्सों के लिए पय रूप उपहार ले जाने का चित्रण दर्शनीय है.

और देखिए :—

अयोध्या रामचन्द्रेण, मथुरा श्रीमुरारिणा ।
विश्ववन्द्या यथा पूता, टंकारापूर्महर्षिणा ॥

भला जिस नगरी से दयानन्द समान उदात्त चरित्रनायक पैदा होते हों, वह नगरी अयोध्या और मथुरा से क्या कम होगी? अयोध्या और मथुरा की उपमा देकर कवि ने आर्य-नसों में उष्ण रक्त संचार करने का यत्न किया है. मुरारि और मर्य्यादापुरुषोत्तम का सबसे अधिक भक्त तो आर्य-समाज ही है. कलाधर कृष्ण और पुरुषोत्तमराम को भुलाकर हम दयानन्द को कैसे स्मरण कर सकते हैं. गंगा, यमुना, अयोध्या और मथुरा ही तो हमारे आदर्श हैं. उन्हीं की उपमा इस सात्विक नगरी के लिए उपयुक्त है भी.

पण्डित अखिलानन्द जी जब किसी भी वस्तु का वर्णन करने लगते हैं, तो ऐसा ज्ञात होता है कि या तो उन के पास वर्णन-सामग्री नहीं है, या वे अपनी दौड़ लगाने की आदत से मजबूर हैं, सारे दयानन्ददिग्विजय में आपने स्वामीजी के चरित्र के एक अंश का भी ठीक २ पूर्ण वर्णन करने में अपनी क्षमता प्रदर्शित नहीं की है. इस युग के महान् आचार्य ऋषिवर दयानन्द के गढ़ने में गुरुवर विरजानन्द का सब से ऊँचा स्थान है. यदि

विरजानन्द न होते तो शायद हमें दयानन्द न मिलते. स्वामीजी स्वयं अपने गुरुदेव विरजानन्दजी के गुणावली को वर्णन करते २ थकते नहीं थे, महान् शिष्य के ऐसे महान् गुरु को प्रायः आर्यसमाज के लेखकों ने जानबूझ कर नहीं तो अजाने ही सही, भूलासा देने का यत्न किया है. पण्डित अखिलानन्द संस्कृत के कवि थे, संस्कृत के कवि बड़े गुरु-भक्त होते हैं. इन से हमें आशा थी कि स्वामी विरजानन्दजी का आप लोकोत्तर चित्रण करेंगे, परंतु आप का दयानन्ददिग्विजय देखने पर हमारी आशालता पर तुषारपात हुआः—

ग्रन्थ-गौरव-भयात् हम उन के श्लोकों का उन्हीं के शब्दों में केवल अर्थ लिख देते हैं, देखिए।

तृतीय सर्ग के ७० से ७३ तक श्लोकों के अर्थ :—

" वहाँ से चल कर वे वैदिकधर्मरत मनुष्यों के यहां विश्राम लेते हुए करील कंकोल और कदम्ब आदि वृक्षों से सुशोभित मथुरापुरी में पहुँचे ॥७०॥ वहाँ दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती के शिष्य बनकर उन की आज्ञा से पहले भट्टोजीकृत नवीन कौमुदी का अपने पदत्राणों से सत्कार किया ॥७१॥ फिर प्रसन्नता-पूर्वक विरजानन्दजी से अष्टाध्यायी महाभाष्य रूप प्रसाद लेकर उन को आज्ञा से उन्हीं के बतलाए हुए मार्ग का उन्होंने अनुसरण किया ॥७२॥ जब ऋषि दयानन्द विद्या पढ़ चुके, तब उन्होंने गुरु दक्षिणा में गुरुजी को थोड़ीसी लौंग भेंट की. गुरुजीने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि तुम दिग्विजय करो ॥७३॥,, बस इन्हीं तीनों श्लोकों में आपने विरजानन्दजी के पास स्वामीजी का जाना, पढ़ना और दिग्विजयार्थ प्रस्थान करना सब कुछ लिख मारा, मानों इस अनुक्रमणिका में भी आपने कोई काव्य का अलौकिक गुण देखा होगा. आप के इन तीन श्लोकों के पढ़ लेने पर भी पाठक दण्डी विरजानन्दजी को जानने में सर्वथा असमर्थ ही रह जाता है, जब यह हालत है, तब भला कविरत्न पं. मेधाव्रतजी के दिग्विजय के साथ इस को कैसे तुलना की जाय. मेधाव्रतजीने १८ श्लोकों में तो गुरुवर विरजानन्दजी का केवल स्वभाव, विद्वत्ता, चारित्र्य और प्रभाव आदि का वर्णन किया है, नमूने के लिये देखिए:—

" दाक्षीसुतग्रन्थविचक्षणत्वाद्
विलोचनोऽप्यागमलोचनोऽयम् ।
न्यगद्यत व्याकरणांशुमाली
सुतर्कशाली प्रतिभाप्रभालिः ॥ "

इस एक ही श्लोक में स्वामी विरजानन्दजी का कितना सुन्दर चित्रण होगया है. ऐसा ज्ञात होता है कि विद्वद्वर देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय-कृत विरजानन्द चरित्र का सम्पूर्ण सत्व निचोड़ कर कविने एक श्लोक-चषक में भर दिया है, जिसे पान कर विद्वन्मण्डल का हृदय तृप्त हो जाता है. इस श्लोक में दण्डीजी को समग्र व्याकरणशास्त्र, तर्कशास्त्र एवं प्रतिभा में सूर्य प्रतिपादन द्वारा कविने स्वामी विरजानन्दजी विषयक अध्ययन में अपनी सार-ग्राहिणी सूक्ष्मदृष्टि का खूब सुन्दर परिचय दिया है. ' विलोचनोऽप्यागम-लोचनोऽयम् ' कह कर तो विरोधाभास अलंकार के साथ ही मानों साक्षात् समग्रशास्त्र-लोचनशाली प्रज्ञाचक्षु दण्डीजीही को सहृदय काव्यरसिकों के समक्ष ला उपस्थित किया है.

सर्वगुणालंकृत समर्थ शिष्य को देखकर गुरु विरजानन्द की प्रसन्नता और आत्मशान्ति का ५, ६ श्लोकों में जो वर्णन कविने किया है, उस का गुरु और शिष्य के साहित्य में अजोड़ स्थान है, उदाहरणार्थः—

इस श्लोक पर दृष्टिपात कीजिएः—

" श्रीवेदधर्मार्यजनोदयाख्ये
महामखे कं नु जनं नियुंज्याम् ।
होतारमित्येनमवेक्ष्य योग्यं
शशाम चिन्ताग्निरनिन्द्यवृत्तेः ॥ "

विद्याविनीत होनेके पश्चात् आदित्य ब्रह्मचारी, नम्रता की मूर्ति अनन्तबलशाली दयानन्दजी का कवि के आलंकारिक शब्द-चित्र में दर्शन कीजिएः—

" अगाधविद्योऽप्यमनोऽपि नम्रः
फलेग्रहिद्रूपम उन्नतात्मा ।
अनन्तवीर्याम्बुधिरप्यमन्दं
जुगोप सीमां व्रतिसार्वभौमः ॥ "

इस श्लोक में उपमा एवं विरोधाभास अलंकार का खूब ही सुन्दर संयोग हुआ है, और मुक्तक रचना की तरह एक ही श्लोक में कविने मानों स्वामी दयानन्द को संपूर्णतया वर्णन करने में पूरी सफलता प्राप्त कर ली है.

स्वामी दयानन्द सरस्वती गुरुवर विरजानन्दजी की अनुपम सेवा करते हैं. स्वयं यमुना से घड़ों के घड़े पानी लाते हैं. गुरुगृह में झाड़ू देते हैं भारत में पुनः वैदिक युग के स्रष्टा. आदर्श गुरु से आदर्श-शिष्य दयानन्द सम्पूर्ण वैदिक विद्या अध्ययन कर चुके. देखिए गुरुचरणों में दयानन्द उपस्थित हैं थोड़ी सी लौंग लेकर,

" न सौम्य ! वाञ्छामि सुवर्णदक्षिणाम्
प्रयच्छ मे जीवनमेव केवलम् ।
स्वदेशधर्मोद्धरणाय वत्स ! ते
यतो नियुंजीय तदाश्रुतं कुरु ॥ "

हे सौम्य ! लौंगों की तो बात ही क्या मैं तुमसे सोने की दक्षिणा भी नहीं चाहता, मैं तो स्वदेश एवं स्वधर्म के उद्धारार्थ केवल तुम्हारे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ.

आदर्श शिष्य दयानन्द का उत्तर भी सुन लीजिए:—

" समर्पितं श्रीचरणे स्वजीवनं
नियोज्यमेनं विनियोजयेद् यथा ।
वशंवदोऽयं प्रयतिष्यते तथा,
विचारणीया न गुरोर्निदेशना ॥

गुरुदेव ! यह आशंकित शिष्य दयानन्द आप के चरणों में स्वजीवन अर्पण कर रहा है, आप जिस काम में इसे लगाना चाहें लगावें, गुरु की आज्ञा पर विचार करने की क्या आवश्यकता है ?

गुरुवर विरजानन्द दयानन्दजी के उत्तर सुन नितरां सन्तुष्ट हो उठते हैं और झट उन के मुख से यह वाणी निकल जाती है " अद्य श्रमैर्मे फलितं नितान्तम् सुपात्रदत्ता फलतीह विद्या"-इस संवाद के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होने लगता है, मानों दयानन्द और विरजानन्द की कुटिया में बैठ पाठक उस तदानीन्तनीय घटित घटना को अपनी आँखों के समक्ष अभी देख रहे हों. इस प्रकार का सुंदर गुरुशिष्यसंवाद वही कवि लिख सकता है, जिसने अपने अंतःकरण को दयानन्द की वैदिकता की भागीरथी में और विरजानन्दजी के आर्षत्व की पवित्र कालिन्दी में बहा दिया हो, भला वे अखिलानन्दजी, जो ' रमामहर्षिसंवाद, के लेखक हैं, उनको दृष्टि वहाँ कैसे पहुँच सकती है, अखिलानन्दजी ने यदि विरजानन्द के आर्ष-चक्षुका दर्शन किया होता, तो आज यह कैसे संभव होता कि वे सभासमितियों में महर्षि दयानन्द और उनके गुरुदेव विरजानन्द पर गाली की गटर बहाकर स्वयं उसमें डूबकर मानव समाज के समक्ष अपराधी बनते.

कविरत्न मेधाव्रतजी ने दशम सर्ग की रचना में तो कला, वस्तु-स्थिति, भाव और भावुकता का इतना सुंदर संमिश्रण कर दिया है, जो सचमुच अनुपम तथा अजोड़ है. इस सर्ग में पाठक वैदिक युग के ऋषि मुनियों के गुरुकुल, बौद्धयुग के नालन्दा, विक्रमशिला, तक्षशिला आदि विश्वविद्यालय तथा मध्ययुग के नवद्वीप, मिथिला, काशी एवं आधुनिक युग के ऑक्सफोर्ड आदि की झाँकी ले सकते हैं.

इस सर्ग में आप पुरातन आचार्यमण्डल और उसके प्रभाव के निदर्शन का दर्शन कीजिए. देखिए:—ये महर्षि उद्दालक ब्रह्मविद्या का अध्ययन करा रहे हैं. ये हैं अगस्त्य और कण्व, ये अपने हजारों शिष्यमण्डल में बैठे हुए प्रकृति, परमात्मा और आत्मा के सबन्ध में मार्मिक विवेचन कर रहे हैं. इन्द्र और विरोचन, भारद्वाज और श्वेतकेतु की भी अपनी मण्डली अलग ही है. अब आइए अनात्मयुग या बौद्धयुग के विश्वविद्यालयों में.

यहां आपको भारत के मेक्यावली चाणक्य मिलेंगे. भारत के कॉण्ट आचार्य वसुबन्धु का दर्शन होगा. धर्मपाल और शीलभद्र भिक्षुकप्रवरों से समागम कीजिए. इस प्रकार इस सर्ग में आचार्यपरम्परा और शिष्यपरंपरा की सुंदर सुशीतल वाटिका में से होते हुए यवनवानरों द्वारा उजाड़ी हुई बौद्ध-संस्कृति और पौराणिक संस्कृति के टूटे फूटे विशाल उपवन का हृदयद्रावक दृश्य देखिए. और उसके बाद विरजानन्दजी के आर्ष गुरुकुल में आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द को दीक्षित अवस्था में देखिए :—

ईश्वरानुग्रहैः प्राप्तो विरजानन्दसद्गुरुः ।
वेदविद्योदयायाद्धा, दयानन्देन भारते ॥

पं. अखिलानन्द के दिग्विजय में प्रकृति—सौन्दर्य का तो कहीं दर्शन तक नहीं होता, एक दो जगह एक दो श्लोक हैं अवश्य, पर उन में भी अनूठापन तो जरा भी नहीं है, स्वामीजी की मृत्यु के पश्चात् आर्य—जनों को कवि ने सूर्य द्वारा धैर्य बंधाया है. इसी प्रकरण में सूर्य का एक बहुत साधारण—शोभा का निदर्शन मात्र है. पं. अखिलानन्द के २१ सर्गात्मक महाकाव्य में बस उसी एक स्थान में जरा प्रकृतिनिरीक्षण है. पंचम सर्ग के ४४ वें श्लोक से लेकर ४७ वें श्लोक तक में गंगाजी का साधारण वर्णन है. विद्वान् गण स्वयं देख लें कि उस में काव्य का कौनसा गुण प्रस्फुटित हुआ है ? महाकाव्य के लक्षणानुसार ऋतुओं, नदियों, नगरों, बनों, उपवनों, पर्वतों, उषा, प्रदोष, रात्रि आदिका प्रसंगोपात्त वर्णन अवश्य होना चाहिए. अखिलानन्द शर्मा को स्वामीजी के जीवन में अनेक ऐसे प्रसंग मिले हैं, परन्तु आर्य—कवीश्वरजी ने इस ओर अपनी प्रतिभा छटा जरा भी छिटकाने की कृपा नहीं की, न जाने क्यों ? शायद आपकी प्रतिभा पर अभिमान का बादल छा गया हो. इनके सारे काव्य के अध्ययन से प्रकृतिसौन्दर्य के रसिकों को पूरी तरह निराश होना पड़ता है.

पाठक, यदि आप प्रकृतिप्रेमी हैं, तो आइए इस नये दयानन्ददिग्विजय में, शैलराज हिमाचल के अंक में कभी कभी हिममण्डित शिखरों पर आरोहण कीजिए, कहीं उपत्यका के मनोहर प्रदेशों में ऊँचे ऊँचे देवदारु, चीड़ आदि

तरुवरों से मण्डित अरण्य प्रदेशों में प्रकृति की सुषमा का अवलोकन कीजिए। अलखनन्दा, बद्रीनारायण, श्रीनगर, रुद्रप्रयाग, देवप्रयाग आदि का सजीव सविस्तर चित्र देखिए :—और यदि आप वसन्त, वर्षा, ग्रीष्म आदि ऋतुओं की सौन्दर्यमयी नैसर्गिक शोभा को मूर्तिमन्त रूप में दर्शन करना चाहें तो खूब तृप्त होकर देखिए. आप देखते न अघायँगे- यदि आप नगरों की भी शोभा का निरीक्षण करना चाहें तो टंकारा, सिद्धपुर, कर्णावती (अहमदाबाद) काशी, मथुरा आदि का खूब भ्रमण कीजिए. यदि आप नदियों और सरोवरों की सैर करना चाहें तो आइये नर्मदा, गंगा और अलखनन्दा आदि के तटोंपर विचरण कीजिए. आचार्य मेधाव्रतजी तो बाल्यकाल से ही प्रकृतिसौन्दर्य के प्रेमी रहे हैं. आप अपने पूज्य पिताजी के साथ कईबार काश्मीर और बद्रीनारायण आदि की यात्रा कर चुके थे. इसका प्रभाव आपकी काव्यरचना पर खूब ही पड़ा है. "प्रकृतिसौन्दर्यम्" नामक आप की रचना प्रकृतिपर्य्यवेक्षण की कला का संस्कृतसाहित्य में अनुपम निदर्शन है, इसे बड़े २ साहित्य के महारथियों ने भी खूब ही सराहा है, यह बात भी भूलने की नहीं है कि यह रचना आप की बाल्यकालीन है, अस्तु.

मेधाव्रतजी के इस नवीन काव्य में भी सैकडों श्लोक नैसर्गिक सौन्दर्य के मिलते हैं जिन्हें साहित्यरसिक बुधगण यथास्थान पढ़कर ब्रह्मानन्दसहोदर काव्यानन्द का अनुभव करेंगे ही. यहाँ तो हम केवल दो श्लोकही लिख कर संतुष्ट होते हैं:—देखिये वसन्तलक्ष्मी का अनुपम रूपमाधुर्य—

सुमंजरीमण्डितमौलिमाला—
माम्रालिवीणां पिकमंजुनादाम् ।
आदाय पीताम्बरवर्णिनीव,
वसन्तलक्ष्मीः पुरतोऽस्य रेजे ॥

वसन्तलक्ष्मी पीताम्बरधारिणी ब्रह्मचारिणी सी, हाथों में पुष्पावलिमण्डित आम्रावली की वीणा लेकर उसमें से कोयल की मीठी तान सुनाती हुई ऋषिवर्य्य के समक्ष उपस्थित हुई है, कैसी सात्विक है यह कल्पना. आम्रवीणा में कोयल का स्वर भर कविने कमालही कर दिया है. एक वर्षाकालिक काव्य-चित्र भी देख लीजिए :—

विशालशैलोपमभीमरूपैः,
पयोधरैः प्रावृषि लोकचक्षुः ।
अवाप्ति सम्मोहतमस्समूहै—
र्यथाऽऽम्बकं ज्ञानमयं जनानाम् ॥

विशाल शैलतुल्य भीम-काय बादलों ने जगन्नेत्र सहस्ररश्मि सूर्य को भी घेर लिया है, जैसे सांसारिक जनों के ज्ञान नेत्र को मोह-तम घेर लेता है. कितना सुन्दर हुआ है यहाँ उपमा और उपमेय का सामंजस्य. वर्षाकाल-वर्णन के व्याज से कवि ने संसार-मोहग्रस्त मानवों को मोहतिमिर से हटने का कैसा अलौकिक उपदेश दिया है. इसीका नाम कला है, कि सौन्दर्यवर्णन के साथ ही जनता के हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो. काव्य का कान्तासम्मित उपदेश यही है, शिवेतर-क्षति इसीसे होती है. अब जनता स्वयं परीक्षा कर ले कि आर्य-कवीश्वर कौन हैं. पं. अखिलानन्दजी या पं. मेधाव्रतजी.

कविरत्न अखिलानन्दजी ने यमकालंकार के तीन श्लोक अपने काव्य में लिखे हैं, संपूर्ण काव्य में आपके ये तीन ही श्लोक यमक के निधि हैं, तीनों श्लोकों के तीनों अन्तिम चरण हम यहाँ लिख देते हैं :—

" रविमहा विमहाः कलयन्दिशः " सर्ग ४-१
" प्रमुदितो मुदितोत्कलमस्तुवत् " ,, ,,-२
" स सकलां सकलामतनोद्भुवम् " ,, ,,-३

पं. मेधाव्रतजी ने तो यमक के बीसों श्लोकों में अपनी प्रतिभा चमकाई है, वे कितने स्वाभाविक हैं, इसकी जाँच तो विद्वद्वर ही कर सकते हैं :—

" स नगरं नगरम्यवनं जगत् " सर्ग ६, श्लोक ३३
" जनतयानतया ह्यभिनन्दितः " ,,-,,- ,, २०
" स सहसा सहसाधुभिरास्थितम् " ,,-,,- ,, ४३
" रसमयं समयं स निनाय तैः " ,,-,,- ,, ८१

साहित्यकलाविदो, बताइए यमक की चमक की स्वाभाविकता और हृदयंगमता किस में अधिक है ?

जिस महाकाव्य की रचना पण्डित मेधाव्रतजी कर रहे हैं उसके अभीतक १२ सर्ग ही बन पाये हैं. यह काव्य २४ सर्गों में होगा. कहना न होगा कि पं. अखिलानन्दजी स्वामीजी के सिद्धान्तों तथा शास्त्रार्थों आदि के वर्णन में भी असफल ही रहे हैं. आचार्य मेधाव्रतजी के १२ सर्गों को देखने से ज्ञात होता है कि अगले १२ सर्गों में भी वे सिद्धान्त एवं शास्त्रार्थादि के प्रतिपादन में भी अपनी बुद्धि का अवश्य चमत्कार बतलायेंगे, जिस प्रकार शंकरदिग्विजय में शांकर सिद्धान्तों का खूब ही पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन है, वैसे ही आपकी भी आर्य-समाज के वैदिक सिद्धान्तों तथा स्वामीजी के शास्त्रार्थों का उत्तरार्द्ध में निरूपण करने की पूर्ण इच्छा है, ईश्वर आपकी इच्छा पूर्ण करें.

हमारे कविरत्नजीका छन्दःशास्त्र पर असाधारण अधिकार है. जिन्हें इस सम्बन्ध में विशेष जानना हो वे आप के महाकाव्य का बारहवाँ सर्ग देखें. इस सर्ग में १५० श्लोक हैं, सभी श्लोक भिन्न २ छन्दों और उसके भेदों के उदाहरणरूप हैं. खूबी तो यह है कि कवि ने स्वामीजी के जीवन चरित्र की श्रृंखला को बनाये रख कर प्रत्येक श्लोक में वृत्त और उस के प्रकार का नाम भी लिख दिया है. यह तो और भी कठिन कर्म है कि उन वृत्तों का नाम तथा अर्थ भी जीवन चरित्र के साथ सुसंगत रहे. इस सर्ग को लिखकर संस्कृतसाहित्य में अभूतपूर्व प्रयत्न आपने किया है, और उस में पूरी सफलता प्राप्त की है. उदाहरणार्थ कुछ श्लोकों के टुकड़े देखिए :—

भ्रमरविलसितं छन्द :—

" स्त्रीपद्मिन्यां भ्रमरविलसितम् "

कनकप्रभा छन्द :—

" कनकप्रभाविकसितान्तराम्बुजः "

औपच्छंदसक छन्दका द्वितीय प्रकार :—

" औपच्छन्दसकं जगद्धतं हा ! "

ये ऊपर तीन उदाहरण अप्रसिद्ध छंद के दिये गए हैं, अब तीन उदाहरण प्रसिद्ध छंद के दिये जाते हैं :—

रथोद्धता छंद :—

" मानसं तुदति गीरथोद्धता "

मालिनी छंद :—

" मुदमतनुत विद्युन्मालिनीवाम्बुदाली "

शार्दूलविक्रीडित छन्द :—

" विंद्रावे जयति प्रचण्डयतिराट्शार्दूलविक्रीडितम् "

इस प्रकार पं. अखिलानन्दजी और आचार्य मेधाव्रतजी के महाकाव्यों पर एक साधारण सा दृग्पात हमने अपनी बुद्धि के अनुसार किया है, किसी के राग द्वेष से प्रेरित हो कर नहीं किन्तु केवल सत्य वस्तु के प्रकाश की शुद्ध भावना से. साहित्य मर्मज्ञ बुधगण स्वयं अपनी सदसद्विवेकशालिनी बुद्धि से हमारे कथन की परीक्षा कर लेवें.

अंत में जगन्नियन्ता जगदीश्वर से प्रार्थना है कि वह–इस युग के इन देववाणी के अमर महाकवि पं. मेधाव्रतजी को दीर्घायुष्य प्रदान करे.

ईश्वरानुग्रहेणायं देववाणीवरात्मजः ।
जीव्याद् वर्षशतं ह्यार्यो मेधाव्रतकवीश्वरः ॥

शुभभावनाशाली

श्रुतबन्धु शास्त्री.

"कवि के जीवन की रूपरेखा"

भारतवर्ष के अर्वाचीन युग में मस्तिष्क के लिए महाराष्ट्रप्रान्त पर्य्याप्त प्रसिद्धि पा चुका है. कविवर मेधाव्रतजी के पूर्वज स्यात् व्यापार के लिए गुजरात छोड़कर 'नासिक' जिले के 'येवला' नामक नगर में जा बसे थे, कविरत्नजी के पूज्यपिता का जन्मस्थान यही येवला था. आपका नाम जगजीवन था. जगजीवनजी साधारण मध्यवित्त गृहस्थ थे. धुन के बड़े पक्के और स्वभाव में आप बड़े ही सीधे थे. जगजीवनजी की पत्नी का नाम सरस्वती देवी था. सरस्वती देवी भी बड़ी धर्मपरायणा, संतानवत्सला, पति-आज्ञानुकूला और आर्यललना के लक्षणों से युक्त थीं. घर के काम काज में तो आप निपुणा थीं ही साथ ही साथ सरस्वती देवी ने मराठी, गुजराती और हिन्दी भाषा भी अच्छी प्रकार जान ली थी. इस दम्पती में परस्पर बड़ा ही प्रेम था.

स्त्री पुरुष दोनों के मुख दो दिशा में नहीं रहते थे. इस दम्पती ने परस्पर की आग भड़का कर कभी भी अपने स्वर्गीय गृहस्थजीवन को संतप्त नरक नहीं बनाया था. गृहस्थाश्रमरूपी गाड़ी के दोनों ही समान पहिये थे. धार्मिक सिद्धान्तों में दोनों का विश्वास सनातनी था. सनातनी होते हुए इन दोनों ने बड़ी श्रद्धा भक्ति से सनातन धर्म के नियमों का पालन किया था. एक बार अचानक जगजीवनजी को कहीं से सत्यार्थप्रकाश मिल गया. आपने जब इस ग्रंथ को पढ़ना आरम्भ किया तो उसमें आप को खूब आनन्द प्राप्त हुआ. विचार धारा बदल चली.

उन दिनों भारतभर में आर्यसमाज की खूब चर्चा थी. कोई भी शिक्षित आर्यसमाज के आन्दोलन से अनभिज्ञ न था. सत्यार्थप्रकाश के पठन पाठन से जगजीवनजी के विचारों में तो क्रान्ति हो ही चुकी थी. अतः आपने उस समय के तेजस्वी विद्वान् स्वर्गीय स्वामी नित्यानन्दजी और स्वामी

विश्वेश्वरानन्दजी को ' येवला ' बुलाया. इन दोनों स्वामियों के भाषण और शास्त्रार्थ से ' येवला ' में आर्यसमाज का वातावरण तैयार हो गया. जगजीवनजी ने इससे लाभ उठाया. दो चार सज्जनों को साथ ले आर्यसमाज की स्थापना की, और आप ही आर्यसमाज ' येवला ' के बहुत वर्षों तक निर्वाचित प्रधान रहे. आप जब तक ' येवला ' में रहे प्रत्येक वर्ष नए २ प्रतिभा-शाली विद्वानों को बुलाकर ' वसन्त-व्याख्यानमाला ' शुरू करवाते रहे. आप के आतिथ्य और प्रेम से आकर्षित हो येवला में बड़े २ साधु महात्मा गण आया करते थे. पं. बालकृष्णजी तो बहुधा येवला जाया ही करत थे. इनके अतिरिक्त स्वामी ओंकारसच्चिदानन्दजी, पूज्यस्वामी सर्वदानन्दजी आदि भी बहुधा पधारा करते थे, जगजीवनजी और इनकी पत्नी सरस्वती देवी का आतिथ्य श्लाघनीय था. इस प्रकार अकेले जगजीवनजी सबसे पहले येवला में आर्यसमाज में दीक्षित हुए, और उसके बाद इन के तथा इनके साथियों के प्रयत्न से महाराष्ट्र में येवला आर्यसमाज गणना-योग्य बन गया, आज कल के आर्यसमाजियों की तरह जगजीवनजी फसली आर्यसमाजी न थे. आर्यसमाज में प्रवेश करने के पश्चात् जगजीवनजी की धार्मिक-प्यास और भी तीव्रतम हो उठी. दोनों ही खूब स्वाध्याय आदि करने लगे. जगजीवनजी की शिक्षा दीक्षा यद्यपि साधारण थी, इन्होंने किसी भी स्कूल कॉलेज में रहकर बी. ए. या शास्त्री आदि की डिगरियाँ प्राप्त न की थीं, तथापि अपने प्रयत्न से अध्ययन-शील होने के कारण ये एक विद्वान् से कम सामान्य ज्ञान न रखते थे. आर्य-समाज का उस समय जो भी साहित्य उपलब्ध था उन सब को जगजीवनजी ने आलोडन कर डाला था. आप के आभ्यन्तर और बाह्य दोनों ही जीवन पवित्र थे. वर्तमान के आर्यसमाजियों की तरह आप कोरे खट्ट न थे. आप सच्चे कर्मठ आर्य थे. गृहस्थाश्रम में रह कर भी आप यम नियमों का पालन शक्यभर किया करते थे. जगजीवनजी नानाविध जंजालों में फँसे रहने पर भी नियमित स्वाध्याय, संध्या, हवन, यज्ञ आदि आर्य्योचित कर्तव्यों का पालन अवश्य करते थे. आप में किसी प्रकार का व्यसन न था, जब आप सनातनी थे तो सच्चे सनातनी और जब आर्यसमाजी बने तो सच्चे आर्यसमाजी. सच बात है :—

"श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्" अस्तु.

महाराष्ट्री लोग अपने विचारों में बड़े कट्टर तथा अपरिवर्तनवादी होते हैं, परन्तु आर्यसमाज की शिक्षाओं से जगजीवनजी के मस्तिष्क में इतना परिवर्तन हो गया था कि आपने अपनी सुपुत्री जानकी देवी का विवाह मथुरा में जाकर पं. शंकरदेवजी पाठक काव्यतीर्थ से कर दिया. यह विवाह न केवल अंतर्जातीय था किन्तु अंतरप्रान्तीय भी था. उस समय जब कि इस प्रकार के सम्बन्ध शायद अंगुलियों पर भी गिनने जितने न हुए थे, जगजीवनजी ने अपनी सुपुत्री का ऐसा सम्बन्ध कर के एक आदर्श उदाहरण उपस्थित किया था. दूसरी तरफ जब हम आर्यसमाज के बड़े २ नेताओं को केवल जबानी जमाखर्च करते देखते हैं, और अपनी बिरादरी के कीचड़ में फँसे देखते हैं तो हमें बड़ा ही खेद होता है. सचमुच आर्यसमाज की अवनति के कारण उनके नेता ही हैं. हाँ, स्वनामधन्य स्वामी श्रद्धानन्द जैसे साहसी नेता भी कुछ आर्यसमाज में हो गए जिस से आर्यसमाज का मुख उज्ज्वल हुआ है. कहा जाता है कि गुरुकुलों, कन्यामहाविद्यालयों, पाठशालाओं, अनाथाश्रमों तथा आर्यसमाज के दूसरे विभिन्नक्षेत्रों में सच्चे सेवक नहीं मिलते. सच बात है नहीं मिलते. पर क्यों नहीं मिलते इस पर क्या आर्यसमाजियों ने कभी विचार किया है ? किया है सही, पर जान बूझकर आश्रमनियमों के पालन में शिथिलता के कारण यह सब कुछ हो रहा है, यदि आर्य-समाजी गृहस्थाश्रम के जंजाल को छोड़ कर आयु के तृतीय और चतुर्थ भाग में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम में प्रवेश करें तो क्या आर्य-समाज को सच्चे त्यागी कार्यकर्ताओं की कमी हो सकती है. परन्तु खेद की बात है कि आर्यसमाजी नेता चिता-रोहण की तैयारी में होते हैं, तब भी अपने घर की माया में फँसे रहते हैं. बिस्तरे परसड़सड़कर उन्हें मरना पसन्द है, पर योग, कर्म और धर्म के स्वच्छन्द क्षेत्र में नहीं. ऐसी परिस्थिति में आर्यसमाज के क्षेत्र में आना पड़ता है नव सीखिए गृहस्थों को. फिर उसका जो परिणाम होना था, सो आर्य-समाज के सामने है, अस्तु. यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि जगजीवनजी एक कर्मठ आर्यसमाजी थे, उनके जीवन में आर्य-समाज की शिक्षा दीक्षा ने कर्तव्य का रूप धारण कर लिया था, इस लिए हम देखते हैं कि जगजीवनजी

अपने सुयोग्य पुत्रों एवं स्वोपार्जित अपनी संपत्ति को छोड़ संन्यास आश्रम में प्रवेश करते हैं. संन्यासी बनना बड़ा ही कठोर कार्य है, केवल एक धेले की गेरी से २५ कपड़े रंग लेने वाले संन्यासी तो सब ही बन सकते हैं, विचार तो कीजिए, २५, २५ वर्ष से भी ज्यादा जिन सगे सम्बन्धियों, पुत्रों, पुत्रियों, स्त्रियों तथा जिन घरों, धनों एवं मित्रों से सम्बन्ध होता है, उन सब का सम्-न्यास-अर्थात् सम्यक् त्याग, कितना कठोर काम है. संन्यासी होने पर जगजीवनजी सब से सम्बन्ध तोड़, नित्यानन्द बन हृषीकेश की रेतवाली विरक्तों की कुटिया में जा विराजे और तीन वर्ष तक यहाँ ही रह कर साधना की मजबूत भित्तिपर चढ़ गए. उसके बाद आप कुछ काल तक वृन्दावन गुरुकुल के पास एक कुटिया में अपनी साधना करते रहे. मथुरा की जन्म-शताब्दी के एक मास पूर्व ही आप चुपचाप एक रात को हरिद्वार तरफ चले गये और हिमालय की अज्ञात कन्दरा में समाधिस्थ हो ब्रह्मानन्द रसास्वादन करने लगे. आपने अपने शरीर तथा इन्द्रियों पर इतना विजय प्राप्त कर लिया था कि आप पत्र पुष्प खाकर भी शरीरयात्रानिर्वहन कर सकते थे. यही कारण है कि संन्यासी होने के पश्चात् कभी भी आपको अपने दोनों सुयोग्य पुत्रों की कुछ अपेक्षा न पड़ी, वेद शास्त्रों, दर्शनों और उपनिषदों को पढ़कर पण्डित बनना और बड़े २ लेख लिखना, व्याख्यान देना एक बात है, और बहुत अधिक विद्वान् न होने पर भी क्रियात्मक जीवन बनाना दूसरी बात है. स्वा-नित्यानन्दजी (जगजीवन) आर्य-समाज के बहुत से उन नेताओं से कहीं बढ़ चढ़कर आर्य-समाजी थे जो आर्यसमाजीपने की डींग हाँकते हुए भी कर्मक्षेत्र में बहुत पीछे हैं, अस्तु.

इसी संस्कारी दम्पती के घर सुरभारती के परम उपासक कविरत्न मेधाव्रतजी का जन्म ७ जनवरी १९९३ में हुआ था, मा बाप के पवित्र संकल्पों एवं साधुतामय आचरणों का प्रभाव मेधाव्रतजी पर भी खूब ही पड़ा, मेधाव्रतजी बाल्यावस्था से ही बड़े कुशाग्रबुद्धि के बालक थे. आपके सुयोग्य पिताने आप को प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध येवला में ही किया था, १३ वर्ष की छोटी अवस्था में ही मेधाव्रतजी मराठी की फाइनल और अंग्रेजी की पांचवीं कक्षा में सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हो गए. जगजीवनजी अपने दोनों पुत्रों को संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित बनाना चाहते थे.

मेधाव्रतजी भी पं. बालकृष्ण और स्वामी नित्यानन्दजी के विद्वत्ताभरे भाषणों को सुनकर संस्कृत पढ़ने के लिए खूब ही उत्कण्ठित हो उठे थे, परन्तु यह सुयोग 'येवला, में कहाँ से प्राप्त हो सकता था ? उन्हीं दिनों दिल्ली के पास सिकन्दराबाद में तार्किकशिरोमणि पूज्य स्वामी दर्शनानन्दजी महाराज ने एक गुरुकुल खोला था. (आर्यसमाज के इतिहास में यह सर्व प्रथम गुरुकुल है) मेधाव्रतजी की माता सरस्वती देवी यद्यपि बड़ी ही सन्तानवत्सला थीं तो भी पुत्रों की शिक्षा दीक्षा देने में आप झूठी मोह माया से न प्रभावित हुई, इसी कारण माता और पिता दोनों की सम्मति से मेधाव्रतजी सुदूर सिकन्दराबाद गुरुकुल में ले जाए गए. यद्यपि आपकी अवस्था ज्यादा हो चुकी थी तथापि पिता की आर्य-समाज भक्ति तथा बालक की कुशाग्रबुद्धि तथा चातुर्य देखकर स्वर्गीय पं. मुरारीलालजी ने मेधाव्रतजी को गुरुकुल में प्रविष्ट कर लिया. यहाँ के विद्यार्थीमण्डल में आप कुछ ही दिनों में हिलमिल गए. तीक्ष्णबुद्धि होने के कारण विद्यार्थी आपको सम्मान की दृष्टि से देखने लगे. आपके शुद्धोच्चारण पर यहाँ का अध्यापकमण्डल मुग्ध था, गुरुकुलों में उन दिनों शिक्षा का स्टेण्डर्ड काफी ऊँचा था, तो भी आप दो वर्ष के कोर्स एक वर्ष में पूरा करने लगे और वह भी सफलता से.

कुछ वर्षों के पश्चात् संयुक्तप्रान्त की प्रतिनिधि सभा ने इस सिकन्दराबाद गुरुकुल को अपने अधिकार में लिया और इसे तीन वर्ष तक फर्रूखाबाद में स्थलान्तरित कर चलाया. इस गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता थे स्वनामधन्य पं. भगवानदीनजी. इन दिनों वैदिक विद्वान् पं. नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ भी यहाँ ही थे, परन्तु पीछे आप कतिपय कारणों से प्रेरित होकर महाविद्यालयज्वालापुर में चले गए. इसी समय देशभक्त राजा महेन्द्रप्रताप ने वृन्दावन में गुरुकुल के लिए यमुना के किनारे बहुत ही सुन्दर और बड़ी जमीन का एक टुकड़ा सभा को प्रदान किया, फर्रूखाबाद से बाद में प्रतिनिधिसभा गुरुकुल को यहाँ ही ले आयी और तभी से इस गुरुकुल का नाम वृन्दावन गुरुकुल हो गया. मेधाव्रतजी सिकन्दराबाद से फर्रूखाबाद और वहाँ से वृन्दावन गुरुकुल में चले आए.

उन दिनों शिक्षा का धाराधोरण (स्टेण्डर्ड) आज के जैसा नीचे

दर्जे का न था, उस समय तो गुरुकुल के दशमी श्रेणी के विद्यार्थी व्याकरण, साहित्य, दर्शन एवं सिद्धान्त में अच्छी योग्यता प्राप्त कर लेते थे, यही कारण है कि गुरुकुलों से पहिले एक दो बार जैसे तेजस्वी और विद्वान् स्नातक निकले, वैसे अब नहीं निकलते हैं. पं. मेधाव्रतजी भी गुरुकुल के ऐसे ही प्रथमाब्द के विद्यार्थियों में से थे, आप की बुद्धि तो कुशाग्र थी ही. इसलिए पांचवीं से आठवीं श्रेणी तक में ही संस्कृतशब्द-समूह पर ब्रह्मचारी मेधाव्रत जी का असाधारण अधिकार हो गया था. आपकी उस समय की रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि किसी भी पद्य में आपने एक भी अनर्थक या अस्थाने शब्द प्रयोग नहीं किया है. गुरुकुल में रहकर आपने महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण, साहित्य के अनेकों लक्षणग्रन्थ, काव्य, नाटक, चम्पू, भाण, मुक्तक, छंद, अलंकार, रस, उपनिषद्रहस्य तथा निरुक्त, निघण्टु एवं मीमांसा-अतिरिक्त दर्शन आदि ग्रन्थों को गुरुमुख से तथा स्वयं पढ़ डाला था. इसलिये गुरुकुल वृन्दावन के पुस्तकालय में शायद ही कोई संस्कृत साहित्य का ग्रन्थ रह गया हो जो आप की दृष्टिपात से बच गया हो.

आप को गुरुकुलीय विद्यार्थी-जीवन में चित्ररचना से भी प्रेम था. यद्यपि गुरुकुलों में विद्यार्थियों को कला से कोसों दूर रखा जाता है. पहले तो महाकवियों की सुंदर रचनाओं से भी विद्यार्थियों को अलग रखने की प्रवृत्ति चली थी. परन्तु विदुरनीति, महाभारत और रामायण आदिसे काम चलते न देख सौभाग्यवशात् पीछे काव्यत्रयी :—लघुत्रयी और बृहत्त्रयी को भी स्थान मिल गया. साहित्य, संगीत और कला का परस्पर संबन्ध तो है ही.

चित्रकला प्रकृति में व्याप्त स्वाभाविक स्थूल सौन्दर्य का सूक्ष्म रूप है, काव्य या साहित्य उसका शब्दमय चित्र है, और संगीत इन दोनों की अनुभूति का क्षेत्र है. "**गीतं नृत्यञ्च वाद्यञ्च त्रयं संगीतमुच्यते**" गीत=काव्य, नृत्य=स्वाभाविक प्राकृतिक अंग विन्यास द्वारा आभ्यन्तरिक भावों को आकृतिमान् कर देना.

वाद्य=प्राकृतिक सुमधुर स्वरों के सम्मेलन के साथ कृत्रिम वीणा आदि में अपने स्वर मिलाकर कविताओं या अद्भुत पद्यों का पठन. इन तीनों

कलाओं में जो मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर लेता है, उसका ही मानव जीवन पूर्ण सफल है. इस लिए भर्तृहरि जैसे कलामर्मज्ञ ने कहा है :—

' साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुःपुच्छविषाणहीनः '

अर्थात्–साहित्य, संगीत और कला विहीन मानव मानव नहीं किन्तु सींग पूंछ बिना एकदम पशु है. अस्तु. उस समय के ब्रह्मचारी मेधाव्रत जैसे प्राकृतिक सौन्दर्य का सुन्दर शब्दमय चित्र खैंचने की कला में निपुणता प्राप्त कर रहे थे, वैसे ही आप अपनी तूलिका से मनोरम दृश्यों, नदियों, संगमों, पर्वतों, प्रपातों स्रोतों आदि के अंकन में अच्छी योग्यता प्राप्त कर रहे थे.

चित्ररचना में भावमय चित्रों को बनाना और उस में स्वाभाविकता की प्राणप्रतिष्ठा करना तो बड़ा ही कठिन काम है. फिर यह काम गुरुकुलों में रहकर तो कोई कैसे कर सकता है, क्योंकि गुरुकुलों में तो ललित कलाओं से अट्टहास किया जाता है, और यह सब होता है ब्रह्मचर्य के नाम पर. फलतः इसी लिए पं. मेधाव्रत जी की चित्रकला आर्यसमाज की ऊसर भूमि में असमय में ही मुर्झा गई. हाँ, संगीतकला में, आपने प्रौढावस्था में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली. उसी के परिणामस्वरूप आपने कन्यागुरुकुलों में चलने योग्य संगीत को एक पुस्तक ' दिव्यसंगीतामृत ' की रचना की है.

हाँ, गुरुकुल वृन्दावन में उन दिनों दर्शनों के दिग्गज महारथी पं. कृष्णानन्दजी, स्वामी हरप्रसादजी, व्याकरण के महाधुरंधर पं. देवदत्तजी और साहित्य के सागर विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध पं. देवीदत्तजी जैसे अध्यापकगण थे तथा महात्मा नारायणप्रसाद, पं. भगवानदीनजी और पं. तुलसीरामजी जैसे विद्वान् और धुनके कट्टर प्रबन्धक आजुटे थे. इन बहुश्रुत विद्वानों की संगति से ब्रह्मचारियों में सच्ची योग्यता तथा मौलिकता की निरन्तर वृद्धि होती रहती थी, यही कारण है कि उस समय के विद्यार्थियों में से ही पं. धर्मेन्द्रनाथ, द्विजेन्द्रनाथ, बृहस्पति, मेधाव्रत, रुद्रदेव जैसे सुयोग्य विद्वान् वृन्दावन से निकलते थे.

ब्रह्मचारी मेधाव्रत श्रद्धालु माता पिता के पुत्र थे. अतः आपका गुरुकुलीय जीवन एक दम असंदिग्ध व्यतीत हुआ. जब तक आप गुरुकुल

में रहे आपने अपने आचार विचार और व्यवहार से सबको आनन्द प्रदान किया. अपने सहपाठियों के साथ आपका बन्धुवत् प्रेम था. ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुणों से आप एकदम अलग ही रहते थे. आप गुरुकुल में जब तक रहे अजातशत्रु की तरह रहे. प्रायः यह देखा जाता है कि पढ़नेवाले कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थियों से जड़मति उन के साथी द्वेष करने लग जाते हैं, पर आप तो इस के भी अपवाद थे. अध्यापकों और संचालकों पर आप खूब ही पूज्य बुद्धि रखते थे. आज भी आप कभी २ अपने पुराने गुरुओं और आचार्यों को बड़ी श्रद्धा से स्मरण करते हैं, और उन की विद्वत्ता आदि का बखान करते हैं.

गुरुकुल में रहते हुए आप सभाओं, समितियों, परिषदों, उत्सवों आदि में अपनी सुंदर रचनाएँ जनता को सुनाया करते थे. सुरीली आवाज से आप जब श्लोकों को पढ़ने लगते थे तो संस्कृतानभिज्ञ जनता को भी एकबार शिर धुनना पड़ जाता था. विद्वानों को तो आप अपनी कविता-पठनशैली एवं शुद्ध उच्चारण से, अपनी ओर ऐसा आकर्षित कर लेते थे कि जिन्होंने आप को एकबार भी गुरुकुल में देखा है वे अबतक आप को न भुला सके हैं. आर्यसमाज के विद्वान् संन्यासी स्वामी अच्युतानन्दजी महाराजने आप को ऐसी ही एक परिषद् में आप की कविता पर मुग्ध होकर स्वर्णपदक प्रदान किया था. यदि आप उन दिनों सभा समितियों में जाया करते तो न मालूम विद्यार्थी अवस्था में ही आप कितना सम्मान प्राप्त कर लेते. आप की काव्यकला और योग्यता पर भारत के महान् विचारक डॉ. भगवानदासजी भी बड़े प्रसन्न हुए थे. आप जब कभी गुरुकुल में पधारते तो मेधाव्रत जी को बुलाकर अवश्य मिलते, और उस समय के मुख्याधिष्ठाता महात्मा नारायणप्रसादजी के पास जब जब पत्र भेजते तो उस में ब्रह्मचारी मेधाव्रतजी की कुशलता का समाचार और आशीर्वाद का उल्लेख किये बिना न रहते.

परिषदों में समस्यापूर्त्ति में तो आप सब से बाजी मार ले जाते. एक समस्या की पूर्त्ति आप बहुधा उसी समय कई २ छन्दों में कर देते थे. एक २ पद के स्थान में तत्काल ही दूसरा और तीसरा अलग पद बनाकर झट बोल

देते थे, जिस से छन्दः शास्त्र तथा संस्कृत शब्दसमूहपर आप की असाधारण योग्यता जनता पर प्रकट हो जाती थी. उन्हीं दिनों प्रयाग से 'शारदा' नामक संस्कृत की एक मासिक पत्रिका साहित्याचार्य्य पं. चन्द्रशेखर शास्त्री के संपादकत्व में निकलती थी. इस पत्रिका का सम्पादन बड़ी योग्यतासे किया जाता था. बड़े २ संस्कृत के धुरंधर विद्वानों के लेख एवं कविताएँ तथा सामयिक टिप्पणियाँ इस पत्रिका में हुआ करती थीं. इसी में मेधाव्रत वर्णी को कविताएँ निकला करती थीं. बुरा हो १९१४ के विश्वविग्रह को, जिस के कारण 'शारदा' सुरलोक पधार गयी. क्योंकि इस के ग्राहकों की संख्या सब से अधिक जर्मन=शार्मण्य में ही थी. ऐसा सुना जाता है. संभवतः 'शारदा' के पश्चात् आप की कविता फिर कहीं संस्कृत पत्रिका में प्रकाशित नहीं हुई. हाँ, गुरुकुल की विद्यापरिषद् ने आप की दो रचनाएँ प्रकाशित की थीं, 'प्रकृतिसौन्दर्यम्, और ब्रह्मचर्यशतकम्.' इसी प्रकार आपने विद्वत्ता की दृष्टि से गुरुकुल में रहकर खूब ही उन्नति की. खेद है कि गुरुकुलीय जीवन में आप का स्वास्थ्य कभी भी अच्छा न रहा. और जब आप १२ वीं श्रेणी में पहुँचे तब तक तो आप को यकृत् और गुल्म जैसी भयंकर बीमारियों ने आकर घर दबोचा, जिस से आप की शारीरिक अवस्था चिन्तनीय हो गई. "जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्" इस उक्ति के अनुसार आप के पूज्य पिता जगजीवनजी ने आप को ऐसी अवस्था में गुरुकुल से उठा लेने में ही श्रेय देखा; और सचमुच वह कल्याण की ही बात थी. महात्मा नारायणप्रसादजी मुख्याधिष्ठाता ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से आशीर्वाद प्रदान करते हुए गुरुकुल से ब्र. मेधाव्रत को जाने की आज्ञा प्रदान की. वह दृश्य बड़ा ही करुण था, जब कि मेधाव्रतजी अपनी प्यारी मातृसंस्था से पृथक् हो रहे थे.

आखिर मेधाव्रतजी के विद्यार्थी-जीवन पर अन्तिम यवनिकापात हुआ, और ये अपने घर येवला पहुँचे.

और येवला पहुँचने के बाद :—

इनके जीवन का उत्तरार्द्ध भाग प्रारम्भ होता है, कुछ ही दिनों में अपनी मातृभूमि के जलवायु में मेधाव्रतजी ने पूर्ण स्वस्थता तो प्राप्त कर ही

ली थी. अतः कुछ दिनों के पश्चात् जब आप की अवस्था वैदिकसिद्धान्तानुकूल हो चुकी थी, तब आप का विवाह येवलानिवासी श्रीमान् एकनाथजी की विदुषी रूपशीलगुणसमन्विता पुत्री से हुआ. आप की सहधर्मिणी चन्द्रप्रभा देवी जैसे बाह्य रूप में मनोरमा थी वैसे ही इस देवी का हृदय भी बड़ा पवित्र और सुन्दर था. यद्यपि यह देवी जालन्धरकन्यामहाविद्यालय की स्नातिका न बनी थी, तथापि वहाँ की अधिकारिणी परीक्षा उत्तीर्ण थी. प्रायः देखा जाता है कि कन्यामहाविद्यालयों की कन्याएँ गृहकार्य में योग्य नहीं होतीं, तो भी चन्द्रप्रभा देवी गृहकार्य में बड़ी सुचतुरा तथा सुलक्षणा थी. अपने पति पर यह देवी असाधारण भक्ति रखती थी. मेधाव्रतजी भी उस के योग्य ही थे. विधाता ने इस जोड़े को मिला कर मानों गुण, रूप, शील, और स्नेह का एकत्र संमिश्रण कर दिया था. आजकल की कन्याशिक्षण-संस्थाओं में पढ़ी लिखी कन्याएँ गृहस्थ के लिए अभिशापरूप हैं. इन का रहन, सहन, व्यवहार आर्य-संस्कृति की दृष्टि से समालोच्य होता है. स्त्रीशिक्षा के पवित्र आदर्श को भारतवर्ष के इस युग की कन्याशिक्षणसंस्थाओं ने बड़ा धक्का पहुँचाया है. इन संस्थाओं के संस्थापकों को यह ख्याल तक भी नहीं आया होगा कि उन के महान् परिश्रम का विषम परिणाम निकलेगा. कन्या-शिक्षण के हम विरोधी नहीं हैं, परन्तु पाश्चात्य आदर्श की अपेक्षा भारतीय आर्यों की कन्याएँ मूर्खा रहें तो भी सह्य है. हमें बड़ा दुख तब होता है, जब कि आर्यसमाज की कन्यासंस्थाओं को भी हम पश्चिम के प्रभाव में बहते देखते हैं, पर हमारी कन्या-संस्थाओं के उज्ज्वल पहलू नहीं हैं ऐसा तो मेरा मन्तव्य नहीं है. परन्तु यह अवश्य है कि पुरुषसंस्थाओं की अपेक्षा कन्याशिक्षणसंस्थाओं में आर्यत्व का विशिष्ट स्थान होने पर ही समाज उस कन्या-शिक्षणसंस्था को आदर्श कह सकता है. देवियाँ ऐसी हीन दीन दशा में भी हमारी संस्कृति की अनन्यरक्षिका और उपासिका हैं. यदि इन के मस्तिष्क में हमने पश्चमीय विक्रिया पैदा कर दी तो निश्चय ही हमारे हाथों आर्यसभ्यता की अंत्येष्टि होगी और उस की कुल जिम्मेवारी होगी कन्याओं की संस्थाओं के संचालकों पर. पं. मेधाव्रतजी की इस आर्यललना ने स्त्रीत्व के आदर्श को खूब अच्छी प्रकार समझ लिया था, ऐसी ही कतिपय कन्याओं के कारण आर्यसमाज की कन्यासंस्थाओं के प्रति लोगों की थोड़ी बहुत भक्ति

अवशिष्ट है. चन्द्रप्रभा देवी बड़ी सन्तानवत्सला और पतिपरायणा थी. स्त्रियाँ पतियों के साथ सभी प्रकार की परिस्थितियों में हँस खेल कर जीवन व्यतीत करें, यही आर्यस्त्रीसमाज का ध्येय था. जब तक बूट, मोजे, रेशमी साड़ियाँ, तरह २ के आभूषण, काम के लिए नौकर रहें, तब तक तो चैन से दिन कटें, परन्तु ज्योंही बिचारा पति उपर्युक्त साधन जुटाने में असमर्थ हुआ कि देवासुर संग्राम मचाना शुरू किया. दुःख में, साधनहीनता में आश्वासन देने की तो बात दूर, उस अवस्था में और भी स्त्रियाँ वाग्वज्रप्रहार से हृदय को व्यथित करने लग जाँय, ऐसी पढ़ी लिखी देवियों को हम क्या कहें, पाठक स्वयं विचार लें. पण्डित मेधाव्रतजी की सहधर्मिणी ने समय पर हँसते २ स्वयं अपने सोने के आभूषणों को निकाल कर अपने पति के हाथों में उस समय रख दिये जब कि पं. मेधाव्रतजी 'कुमुदिनीचन्द्र' छपवा रहे थे, और पैसे के कारण छपाई का काम अटक जानेवाला था. 'कुमुदिनीचन्द्र' को छपवाने में इस देवी ने पण्डितजी को बड़ी सहायता की थी. चन्द्रप्रभा देवी के सम्बन्ध में पं. मेधाव्रतजी जब कभी प्रसंगोपात्त चर्चा करते हैं तो उस समय उनका हृदय द्रवित हो जाता है. कविरत्नजी का इतना आदर्श सुखमय गृहस्थ जीवन दैव को सह्य न हुआ, और देवी चन्द्रप्रभा सात आठ वर्ष के पश्चात् प्रसूतावस्था में स्वर्गवासिनी हो गई.

पं. मेधाव्रतजी के पूज्य पितृचरण श्री जगजीवनजी तो यही चाहते थे कि मेधाव्रतजी एक काव्यकुटीर बनाकर रात्रिंदिवा सरस्वती की उपासना में और काव्य की रचना में अपने जीवन को व्यतीत करें, परन्तु अशान्ति के इस युग में कादम्बरीकार बाण–कालकी शान्ति कहाँ से आये.

पं. मेधाव्रतजी काव्यकुटीर में तो प्रवेश न कर सके. परन्तु आर्यसमाज के वातावरण के अनुसार इस शान्त कवि को कोल्हापुर के वैदिक विद्यालय में अध्यक्ष पद सौंपा गया. इस पद को आपने बड़ी योग्यता से निभाया. विवाह के अनन्तर सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने का यह आपका प्रथम प्रसंग था. इसी बीच भारत वर्ष पर युद्धज्वर (इन्फ्ल्युएँजा) का घोर आक्रमण हुआ. लाखों आदमी देखते देखते मृत्यु के गाल में समा गए. आप भी इस ज्वर के आक्रमण से न बच सके इसी कारण कोल्हापुर छोड़

कर आप को येवले आ जाना पड़ा. जब आप का स्वास्थ्य सुधर गया तब आप को महाराजा कोल्हापुर ने पुनः स्वामी परमानन्दजी आगरेवाले द्वारा बुलाया, परन्तु तब आपकी इच्छा स्वतंत्ररीत्या साहित्यसेवा करने की हो चुकी थी इस लिए आप फिर कोल्हापुर लौटकर नहीं गये.

"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" इस उक्ति के अनुकूल कवि की परीक्षा तो गद्य में ही होती है. संस्कृत में पद्यबद्ध महाकाव्यों की कमी नहीं. पचासों महाकाव्य हैं, जो अपनी अपनी विशेषताओं के कारण अमर हैं. परन्तु संस्कृतसाहित्य के महाभण्डार में गद्यकाव्यों की विरलता बहुत ही खटकती है. संस्कृतसाहित्य में यद्यपि गद्यसाहित्य उंगलियों पर गिना जा सकता है, परन्तु जो है, वह भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से बहुत ही उन्नत रचना. सुबन्धु की वासवदत्ता और बाण की कादम्बरी तो जगविख्यात है ही, हर्ष चरित का भी गद्यसाहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान है. तथापि संस्कृतगद्य में मध्यम कोटि का साहित्य है ही नहीं, यदि ऐसा कहा जाय तो यह साहसोक्ति न होगी. स्व. पं. अम्बिकादत्तव्यास ने इस क्षेत्र में ' शिवराजविजय. ' लिख कर इस दिशा में प्रशंसनीय प्रयत्न किया है. परन्तु आप के गद्य में सरसता का सम्यक् परिपाक न हो सका. पं. अम्बिकादत्तव्यास के पश्चात् ' कुमुदिनीचन्द्र ' की सौष्ठवभरी रचना कविरत्न मेधाव्रतजी ने की. संस्कृत की इस नव्य रचना ने संस्कृत भारती की बड़ी भारी कमी पूरी कर दी. संस्कृत गद्य के क्रमिक अध्ययन में " शिवराजविजयः " की अपेक्षा इस का उच्च स्थान है, पञ्चतंत्र या हितोपदेश के पश्चात् शिवराजविजय भी विद्यार्थियों के लिए कादम्बरी से कम कठिन नहीं है, साथ ही " कुमुदिनीचन्द्र " में पदलालित्य और पात्रों के सजीव चित्रण में कवि ने पर्य्याप्त सफलता प्राप्त की है, 'कुमुदिनीचन्द्र' के पृष्ठों में भावों के परस्पर संघर्ष, वनों, नदियों, पुलिनों, गुफाओं, संध्याओं, किलों आदि का खूब ही प्राञ्जल भाषा में सजीव चित्रण किया गया है. इस ग्रन्थ की कोमलकान्तशब्दाडम्बरयुक्त बहती धारा में मनुष्य निमग्न हो बहने लगता है. कहीं क्रूरसिंह की क्रूरता से उद्विग्न हो उठता है, तो कहीं चन्द्रसिंह की वीरता से भुजाएँ फड़क उठती हैं, और कहीं कुमुदिनी पर किये गये अत्याचारों से जी ऊब उठता है, और कुमुदिनी के

प्रति सहानुभूति की सरिता उमड़ पडती है. इस प्रकार 'कुमुदिनीचन्द्र' संस्कृत गद्यसाहित्य के उच्चतम भवन पर चढ़ने के लिए मध्यस्थानी सीढ़ी का काम देगा. कविरत्न जी की रचनाओं में प्रौढावस्था की यह सर्वप्रथम रचना है.

कविरत्न जी की इस अवस्था की दूसरी रचना 'दयानन्दलहरी' है, इस रचना में तो कवि ने कमाल कर दिखाया है, भक्तिरस की निर्मल-धारा बह जाती है. यह खण्ड काव्य है. कविवर जगन्नाथ ने भागीरथीमहिमा-प्रतिपादक जो 'गंगालहरी' लिखी है, उसे पढ़कर सहृदयहृदयों की भाव-चन्द्रिका खिल उठती है. ऐसा ज्ञात होता है, मानों भागीरथी की निर्मल जल धारा में पाठक अपने पाप कलुष को धो रहे हों. और इस दयानन्दलहरी को पढ़कर ऐसा ज्ञात होने लगता है कि आर्यधर्म के महान् आचार्य ऋषिवर दयानन्द के चरणों में बैठ इस कलिकाल के कराल पापपंक से ऊपर उठकर भक्त वैदिक युग के स्वतंत्र पुण्यमय तर्कयुग में प्रवेश कर गया हो. 'दयानन्द-लहरी' चेतन देवता महर्षि दयानन्द की यशोगाथा श्रवण कराती है और जगन्नाथ की रचना जड़देवता की गाथा जगत् को सुनाती है. आर्यसभ्यता में, आर्यावर्त में पुण्य-सलिला भगवती भागीरथी का जो स्थान है, वह उस का अपना ही है, परन्तु है तो नदी ही न ? आर्यावर्त जंगल रहता तब भी गंगा तो बहती ही जाती. उसने (गंगाने) इच्छापूर्वक आर्यजाति को या आर्या-वर्तवासियों को लाभ नहीं पहुँचाया. परन्तु दयानन्द-दयानन्द ने तो इच्छापूर्वक मानवसमाज के लिए इतना बड़ा त्याग किया जिसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है. पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा इन तीनों का त्याग और उस से भी बढ़कर मानव समाज के लिए समाधि सुख तक को छोड़ दिया. गंगालहरी का प्रतिपाद्य 'गंगा' तो केवल शारीरिक मल को ही दूर करती है, किन्तु दयानन्दलहरी का प्रतिपाद्य दयानन्द का उपदेश तो आत्मिक-मलिनता को धोता है. 'दयानन्दलहरी' में ५२ श्लोक हैं. ये इतने सरस और भक्ति-भावना से सराबोर हैं कि स्वामी जी के भक्त इन्हें पढकर मुग्ध हो उठते हैं. कवि यदि अपनी रचनाओं से अमर है तो निसन्देह कविरत्न मेधाव्रत इसी रचना से ५२ युगों के लिये अमर हो गये. यदि महाकवि कालिदास की दूसरी रचनाएँ न होतीं तब भी उन की अमरता यावच्चन्द्रदिवाकरौ, मेघदूत से ही सिद्ध थी, अस्तु.

दयानन्दलहरी की रचना का इतिहास बड़ा ही रोचक और करुण है. कवि की पतिव्रता प्रिया प्रसूतिका रोग से अनुदिन गलती जा रही थी. माता की विषम अवस्था के कारण चार मास का कोमल चन्द्रवदन शिशु भी परलोकगमनोन्मुख था. वैद्यों, डॅाक्टरों का घर में आना जाना हो रहा था. सगे सम्बन्धी परिणाम की भीषणता से घबराये दीख रहे थे. अपनी अर्द्धांगिनी और नवजात पुत्र की सेवा शुश्रूषा से कवि के चेहरे पर थकावट की रेखा व्यक्त हो रही थी. यह १९२४ की बात है. उन दिनों महर्षि दयानन्द जी की जन्मशताब्दी का महान् प्रसंग था. एक वर्ष पहले से ही शताब्दी की धूम मची हुई थी. ग्राम, ग्राम, नगर, नगर में आर्यों में उत्साह की सरिता उमड़े पडती थी. शताब्दी के लिए विद्वानों द्वारा अच्छी २ पुस्तकें लिखवाई जा रही थीं. ऐसे ही समय में पूज्य नारयणस्वामी जी की ओर से दयानन्द-जन्मशताब्दी के शुभ प्रसंग पर कविरत्न मेधाव्रत जी के पास किसी सुंदर रचना के लिए मांग की गई. कवि की वृत्तियाँ घर की शोचनीय अवस्था देखकर मुर्झा रहीं थीं, शताब्दी का प्रसंग निकट था. ऐसी परिस्थिति में रचना क्योंकर हो सकेगी, कवि का मन सन्देह के झूले पर झूल रहा था. परंतु सम्पूर्ण आत्मिक बल से कवि ने इस महान् प्रसंग पर गुरुदेव दयानन्द के चरणों पर अपनी रचना-पुष्पाञ्जलि की तुच्छ भेंट चढाने का निश्चय कर ही लिया. और शताब्दी समारोह तक आप की दयानन्दलहरी छप भी गयी. अनेकों विद्वानों की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ रचना आप की ही मानी गई, और इसी कारण शताब्दी की सभा ने अपनी ओर से इसे प्रकाशित किया. उधर वह करुण प्रसंग भी उपस्थित हुआ. कवि की काव्यलक्ष्मी सी चन्द्रप्रभा की दिव्यज्योति भी अनन्त के किसी कोने में जा छिपी थी. नवजात शिशु तो पहले ही प्रयाण कर चुका था. इस प्रकार कवि का सोने का संसार बिगड़ चुका था. परन्तु उन्हीं दिनों कवि ने जो काव्यसन्तति की सृष्टि की थी, वह अजरा और अमरा होकर पृथिवी पर कवि की यशोगाथा तब तक फैलाती रहेगी, जब तक कि पुण्यश्लोक दयानन्द को कृतज्ञ आर्यजाति भुला न देगी :—

"जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाःकवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

आप कभी २ हिन्दी में भी रचना करते हैं तथा लेख आदि भी लिखा करते हैं. 'ज्योति' नामक पत्रिका में आपने 'रुक्मिणीहरण' नामक एक सुन्दर गुजराती नाटक का अनुवाद भी छपवाया था. 'गिरिराजगौरव' नामक एक छोटी हिन्दी पुस्तिका १०३ पद्यों की संस्कृतछन्दों में आपने लिखी है. उस में हिमालय के सौन्दर्य का आँखों देखा वर्णन है. आचार्य महावीरप्रसादजी ने इस रचना पर आप को आशीर्वाद प्रदान किया था, और इसे सरस रचना कहा था. आप यदि हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में मनोयोग पूर्वक उतरें तो अच्छी रचना कर सकते हैं, परन्तु अभी तक की रचनाओं से ऐसा ज्ञात होता है कि यह क्षेत्र आपका नहीं है, आप तो गीर्वाणगिरा के महाकानन में ही पंचानन बन कर दहाड़ने पर शोभते हैं.

आचार्य मेधाव्रतजी में एक खूबी और भी है और वह है ग्रन्थों के प्रकाशन के प्रति असीम प्रेम. आप आर्थिक परिस्थिति में कोई सेठ साहुकार नहीं हैं. तथापि अपना पसीना बहा कर कमाये पैसों को जब ग्रन्थों के छपवाने में व्यय करने लगते हैं, तो आश्चर्य होता है. संस्कृत के ग्रन्थों को छपवा कर उस से नाम की आशा रखना दुराशामात्र ही है. कविरत्नजी को भी अब तक तो किसी ग्रन्थ से कुछ पैसे का लाभ न हुआ. हाँ, एक तरह का आत्मिक संतोष इन्होंने अवश्य प्राप्त किया है. जिस 'कुमुदिनीचन्द्र' की चर्चा हम कर चुके हैं, उसे छपाने के लिए कविने अपनी प्रियतमा के आभूषणों को भी ले लिया था. इसी एक बात से पाठक विचार सकते हैं कि कविरत्नजी किस लगन के आदमी हैं. कितना सरस्वती-प्रेम आप में है. जब दोनों की यौवनतरंगें उमड़ रही थीं, तब आपने अपनी देवी से आभूषण ले लिए एक संस्कृत के उपन्यास छपवाने के लिए. और उस देवी ने भी स्वयं प्रसन्नता के साथ अपने आभूषणों को हँसते २ पतिदेवता को समर्पित कर दिया. इसी को समर्पणभावना कहते हैं. स्त्रियाँ अधिकारों के लिए व्याख्यान वेदिकाओं पर हाथ पटकें, समाचारपत्रों के कालम के कालम रंगें—भले ही रंगे, परन्तु यह आर्य आदर्श नहीं है. आर्य्य आदर्श में तो एक दूसरे को समर्पण कर दिया जाता है. समर्पणभावना में स्त्री और पुरुष के अधिकार अलग २ नहीं रह जाते हैं. आर्य्य सभ्यता में तो स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्ति की एकवाक्यता होती है. जहाँ का आदर्श है "पत्नी त्वमसि धर्मणाहं-

गृहपतिस्तव" वहाँ अधिकारों की बेहूदी लड़ाई क्या ? यह तो आवाज ही पश्चिम की है और अनार्यभावापन्न है.

१९२१ या १९२२ की बात है. असहयोग के कारण भारत भर में राष्ट्रीयशिक्षणसंस्थाएँ खुल रही थीं. सूरत में भी एक राष्ट्रीय महाविद्यालय उन्हीं दिनों में खुला था, इस का नाम नेशनल कॉलेज था. इस संस्था में आप संस्कृत और हिन्दी के प्रोफेसर नियुक्त किए गए. यहाँ आप अपनी गम्भीर विद्वत्ता एवं सुंदर शान्त स्वभाव के कारण कुछ ही दिनों में सब के प्रिय पात्र बन गये. प्रिंसिपल से लेकर अध्यापक तथा विद्यार्थी गण आप के साथ बड़ा ही प्रेमपूर्ण व्यवहार करते थे. रातदिन काव्यचर्चा चलती ही रहती थी. नेशनल कॉलेज में हिन्दी आवश्यकरूप से विद्यार्थियों को पढ़ना पड़ता था; इस लिए आप का सम्बन्ध सब विद्यार्थियों से हो गया था. बहुत से अध्यापक भी आप से हिन्दी और संस्कृत पढ़ते थे. बाहर से भी अच्छे २ भद्रपुरुष आप से पढ़ने आया करते थे. यहां तक कि बहुत से जैनी साधु भी श्रद्धासहित आप से जैनसाहित्य अध्ययन करते थे.

कविरत्नजी कट्टर आर्यसमाजी हैं. परन्तु धर्मान्धता तो आप में जरा भी नहीं है प्रायः धर्मान्धता की धधकती ज्वाला से विद्वान् गण बचे ही रहते हैं. इस विपत्ति में तो अर्द्धदग्ध ही फँसा करते हैं. कविजी अपने सिद्धान्तों में कट्टर होने पर भी दूसरों की भावनाओं को बेरहमी से कभी नहीं कुचलते हैं. इसी लिए नेशनल कॉलेज सूरत में आप शीघ्र ही सर्वप्रिय बन गये थे. जैनी, सनातनी और मुसलमान सभी आप से प्रेम करते थे. सूरत में रह कर आपने अपने मित्रों और शिष्यों की एक बहुत बड़ी मण्डली बना ली थी. आर्थिक लाभ भी यहाँ आप को अच्छा हो रहा था. परन्तु इसी बीच (१९२६) में स्वर्गीय स्वामी धर्मानन्दजी की प्रेरणा से श्री पं. आनन्दप्रियजी ने आप को इटोला कन्यागुरुकुल में आचार्यपद पर आसीन होने के लिए आग्रहपूर्वक बुलाया. कविरत्नजी को स्त्रीशिक्षा से बड़ा प्रेम था. आप अपनी सुपुत्री को विदुषी बना कर गार्गी, मैत्रेयी और सुलभा का आदर्श वर्तमान स्त्रीसमाज के समक्ष उपस्थित करना चाहते थे. परन्तु दैव ने आप की यह इच्छा पूर्ण न होने दी. हाँ, तो उस समय जब आप नेशनल कॉलेज सूरत से इटोले आ रहे

थे, तब सूरत राष्ट्रीय कॉलेज के आचार्य (प्रिन्सिपल) संचालक और अध्यापक तथा विद्यार्थिगण आप को छोड़ना नहीं चाहते थे. किन्तु स्त्रीशिक्षा के महत्व से प्रेरित होकर आर्थिक लाभ का लोभ त्याग कर आप इटोले चले ही आए. विद्वान् अर्थ के दास नहीं हुआ करते. आप अर्थलोलुप नहीं हैं, इस का एक सुंदर आदर्श तो आप के जीवन की प्रथमावस्था में घटी एक घटना से ही ज्ञात होता है. आप ने जिस समय मराठी फाइनल परीक्षा उत्तीर्ण की थी, उसी समय एक धनिक अपनी एक मात्र सुपुत्री के साथ एक लाख रुपये से भी अधिक की सम्पत्ति आप को प्रदान कर रहा था. जगजीवनजी तो आर्यसमाज के सिद्धान्त के विरुद्ध होने से एकदम इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे परन्तु कविरत्नजी की माता सरस्वती देवी कन्या के रूप, धन आदि पर मुग्ध हो गयी. और कन्या के पिता को विवाह का वचन दे दिया. परन्तु मेधाव्रतजी को जब यह बात मालूम हुई तब आपने इस प्रस्ताव के विरुद्ध खूब ही अपनी भावना प्रकट की और यह मामला यों ही रह गया. यदि मेधाव्रतजी उस समय जरा भी फिसल गये होते तो आज हम इन्हें इस रूप में न पाते. अस्तु.

नेशनल कॉलेज छोड़ते समय आपको संस्था की ओर से एक मानपत्र दिया गया था. तथा विद्यार्थियों और अध्यापकों ने आपके सम्मानार्थ प्रीतिसमारोह की आयोजना की थी. प्रिन्सिपल ने आपको प्रसन्नतापूर्वक बहुत ही सुंदर प्रमाणपत्र दिया था. मानपत्र और प्रमाणपत्र के समारोह का वर्णन सूरत के देशबन्धु, नामक समाचार पत्र में छपा था:—जो इस प्रकार है—

॥ सा विद्या या विमुक्तये ॥

લોકમાન્ય રાષ્ટ્રીય વિનયમંદિર–સુરત

તા. ૨૭–૨–૧૯૨૬.

વૃન્દાવન ગુરૂકુલના કવિરત્ન શ્રી. મેધાવ્રત જગજીવન પંડિતે સુરત રાષ્ટ્રીય મહાવિદ્યાલયમાં તથા લોકમાન્ય રાષ્ટ્રીય વિનયમંદિરમાં સંસ્કૃત અધ્યાપક તથા હિન્દી અધ્યાપક તરીકે તા. ૧૨–૯–૨૧ થી તા. ૨૮–૨–૨૬ સુધી સેવા બજાવેલી છે. શિક્ષક તરીકેની તેમની લાયકાત ઉંચી છે.

કેટલાંક કાવ્યો, નાટક તથા નવલકથા તેઓએ સંસ્કૃતમાં-બનાવીને પોતાની વિદ્વત્તાનો પરિચય કરાવ્યો છે.

તેમનું ચારિત્ર્ય ઉત્કૃષ્ટ, તેમનો સ્વભાવ નિરભિમાની અને સરલ તથા તેમની ભાવનાઓ આદરણીય છે, એમ મ્હને ગાઢ પરિચયથી લાગ્યું છે. હું એમને સર્વ પ્રકારની ફતેહ ઇચ્છું છું.

દિનકરરાય જાદવરાય વૈષ્ણવ.
આચાર્ય.

॥ ओ३म् ॥

ગુરુપુજા

વિનયમંદિરમાં મેળાવડો

પંડિત મેધાવ્રતજીને સન્માન.

અત્રેના લોકમાન્ય વિનયમંદિરના સંસ્કૃત અધ્યાપક પંડિત મેધાવ્રતજી ઇટોલા કન્યા ગુરૂકુળમાં પોતાની સેવા અર્પણ કરવા જતા હોવાથી ગઇ કાલે સાંજના તેમને સન્માન આપવા મંદિરના વિદ્યાર્થીઓ તેમજ શિક્ષકોનો એક મેળાવડો થયો હતો. પોતાના ગુરૂને વિદાયગીરીનું સન્માન આપતાં સ્નેહસ્મરણ તરીકે વિદ્યાર્થીઓએ પંડિતજીને સુન્દર ફ્રેમમાં મઢેલું હસ્તલિખિત માનપત્ર અને મહાત્માજીની સુન્દર છબી ભેટ ધરી હતી. ખાદીનાં સુન્દર ફુલોથી ગુંથેલો હાર ગુરૂકંઠે અર્પણ કરી વિદ્યાર્થીઓએ પોતાની જાતને ધન્ય થએલી માની.

અશ્રુધારા

પંડિતજીના સરળ સ્વભાવથી વિદ્યાર્થીઓના તેઓ પ્રીતિભાજન બન્યા હતા. આથી જ આ વિદાયગીરીની યાદ આવતાં મેળાવડામાં હાજર રહેલાં વિદ્યાર્થીઓમાંથી કેટલાકની આંખમાંથી આંસુ વહ્યાં હતાં.

સંસ્કૃતના ચલતા પુરજા

મેળાવડાના પ્રસંગે મંદિરના આચાર્ય શ્રી. વૈષ્ણવજી, મુખ્ય અધ્યાપક શ્રી. નર્મદાશંકર પંડ્યા ને શ્રી. ધીરૂભાઇ તથા ગાંધીજી વિગેરેએ પંડિતજીની સેવાઓની કદર કરતાં જણાવ્યું કેઃ—

પંડિતજી સ્વભાવે સરળ અને મિલનસાર વૃત્તિના છે. તેઓ નિરભિમાની છે. આ જ કારણથી તેઓ વિદ્યાર્થીઓની પ્રીતિ સંપાદન કરવા વિશેષ ભાગ્યશાળી થયા છે.

કાવ્ય એ એમની કૃતી અને ઉચ્ચ વાચન એ એમનું વ્યસન છે. આ વ્યસનના નશામાં ચકચૂર બની એમની કૃતી દ્વારા સંસ્કૃત સાહિત્યના ક્ષેત્રમાં તેમણે પોતાના અંશ રજુ કર્યા છે.

તેમને શિક્ષણ આપવાનો એટલો બધો સ્વાભાવિક શોખ છે કે શાળા કે બહારનો કોઈ પણ વિદ્યાર્થી તેમની પાસે શિખવા જતાં એકાદ સાદા આસન પર તેઓ બેઠેલા હોય ત્યાંથી ખડા થઈ તેને પ્રેમપૂર્વક શિખવતા. શાળા ભેદાભેદની શિક્ષણની બાબતમાં તેમને કંજુસાઈ શિખવતા નહિ.

ખુદ વિનયમંદિરમાં તો તે સંસ્કૃત શબ્દકોષ અને વ્યાકરણના ચલતા પુરજા સરખા હતા. આવા સમર્થ અધ્યાપકની ખોટ સૌને સાલવાની; પણ આ જ તેઓ કેવળ સેવા ભાવનાથી જ પ્રેરાઇને ઇટોલા કન્યા ગુરૂકુળમાં જતા હોવાથી એ ખોટ આપણે સહી લીધે જ છુટકો છે.

આ પછી સાંધ્ય સંમેલન માટે આણેલી વિવિધ વાનીઓની ઉદર નામક મહાગર્તમાં આહુતિ આપી સૌ વિખુટા પડ્યા હતા.

તા. ૨૬-૨-૧૯૨૬
ફાગણ શુકલ ચૌદસ
સંવત ૧૯૮૨.

"દેશબન્ધુ"

॥ ओ३म् ॥

અભિનન્દન-પત્ર

વિદ્વદ્વર્ય કવિરત્ન પંડિત મેધાવ્રતજી !

આજે ચાર ચાર વર્ષ થયાં આપની વિદ્યા અને પ્રેમના પરિમલના પ્રભાવથી અમારાં હૃદય આપના તરફ એવાં પ્રગાઢ રીતે આકર્ષાયાં છે કે આપના વિયોગનો પ્રસંગ અમારે માટે અતીવ ગંભીર અને દુઃખદ બને છે.

સંસ્કૃત અને હિન્દી સાહિત્યના સંસ્કાર આપે અમારાં કુમળાં હૃદય પર ચિરંતન કાળને માટે પાડ્યા છે તે આજે અમારાં નેત્રને ભીનાં કરે છે અને હૃદયને ક્ષુભિત કરે છે.

અમે આપને જોતા ત્યારે કવિતા અને સાહિત્યની જીવંત મૂર્તિ અમારા નેત્ર આગળ ખડી થતી. એ પુણ્યમૂર્તિ અમારા હૃદયમાં સદાકાળ વિરાજમાન રહો.

આપ પૂર્ણાંશે વિદ્યા-વિલાસી છો. સરસ્વતીના સાચા ઉપાસક છો. આપનો વિદ્યા-વ્યાસંગનો પ્રેમ એટલો પ્રબળ છે કે માત્ર શાળામાં જ નહિ પણ સમય અસમયનો તેમજ પરિશ્રમનો વિચાર-કર્યા વિના હરકોઇને નિષ્કામભાવે આપ વિદ્યાદાન દેતા.

આપને અમે શું અર્પીએ ? કોઈ પાર્થિવ પદાર્થ આપના ઉપહારને માટે ઉચિત નથી. અમે તો અમારાં સરળ હૃદયની નિર્મળ ભક્તિ આપને અર્પીએ છીએ અને વાણી વડે જે ભાવ ન દર્શાવી શકાય તે નેત્ર વડે દર્શાવીને વિરમીએ છીએ.

આપ સાચા વિદ્યાગુરૂ છો, અને આજીવન એવા જ રહો એવી અમારી પરમાત્મા પ્રત્યે પ્રાર્થના છે. આપને શિક્ષણનું નવું ક્ષેત્ર પ્રાપ્ત થાય છે, એ જોઇને અમે અમારો શોક વિસારે પાડીએ છીએ.

અમે આપને કદી ભૂલીશું નહિં. આપ પણ અમને યથાસમય યાદ કરતા રહેશો. અને આપે આપેલું શિક્ષણ દિપાવીએ એવો આશીર્વાદ આપતા રહેશો.

લોકમાન્ય રાષ્ટ્રીય વિનયમંદિર-
સુરત. તા. ૨૫-૨-૧૯૨૯

અમે છીએ આપના કૃપાભિલાષી-
વિદ્યાર્થીઓ.

आपने इटोला आकर आर्यकन्याविद्यालय का आचार्यपद सम्भाल लिया. कुछ वर्षों के पश्चात् १९२९ में इटोला आर्यकन्याविद्यालय बड़ोदे आ गया. बडोदे आने पर इस कन्याविद्यालयका नाम, आर्यकन्यामहाविद्यालय बड़ोदा हो गया. आप लगभग १३ वर्ष से इस संस्था के आचार्य हैं. आप जिस उद्देश से इस संस्था में आए थे. उसे आप दश बारह वर्ष के लम्बे अर्से में प्राप्त कर सके या नहीं, इस बात के निर्णय का यह समय नहीं है. आर्य-पुत्रियों को आप जिस आदर्श और विद्वत्ता के शिखर पर आसीन करना चाहते थे, उस आदर्श तक पहुँचने में तो अभी बहुत देरी है. कन्याशिक्षण का कार्य करना तलवार की धारा पर चलने से कम कठोर नहीं है, और उस में भी उत्तरदायित्वभरे आचार्यपद का काम सम्भालना तो असिधारा-व्रत से भी कठोर है. प्रसन्नता की बात है कि अनेकों विघ्नबाधाओं के रहते भी आपने अपने आचार्य के गौरवमय पद को हमेशा आदर्शमय बनाए रक्खा. कन्याओं के अभिभावक और गुजरात के आर्य आपके शान्त पवित्र स्वभाव से खूब ही आकर्षित हैं. कन्याएँ तो आपको पितृतुल्य पूजनीय समझती हैं. आप भी सब कन्याओं के साथ ऐसा साम्यव्यवहार रखते हैं, जिससे कभी भी किसी कन्या के कोप-भाजन आप न बने. आप शिष्याओं को बेटा, पुत्री, बेटी इन्हीं मीठे शब्दों से संबोधन भी करते हैं. जिस समय कोई कन्याविद्यालयसम्बन्धी किसी बड़े बड़े नियम को भी भंग कर देती है, तब भी आप प्रकृतिस्थ रह कर उस झमेले को सुलझा देते हैं. आपका कथन है कि कन्याशिक्षणसंस्थाओं में जरा भी कठोरता का व्यवहार न होना चाहिए. बालिकाओं को आप हँसते हँसते व्याकरण और दर्शन के सिद्धान्त समझा देते हैं. साहित्यअध्यापन की शैली तो आपकी अपनी ही है.

जिन दिनों आप 'इटोले' रहते थे, उन्हीं दिनों स्वर्गीय स्वामी धर्मानन्दजी की प्रेरणा से आपने फिर से दूसरी बार शादी की थी परन्तु यह दूसरी बार का गृहस्थाश्रमप्रवेश आपके लिए युक्त न था. खबर नहीं कि आप जैसे विचारशील विद्वान् कैसे इस बला में फँस गये. आपके लिए यह दूसरी बार की शादी सुखकारक सिद्ध न हुई. कविरत्नजी के कथनानुकूल नई पत्नी पारिवारिक जीवन को पसन्द नहीं करती थी. उसकी इच्छानुकूल

कविरत्नजी को चाहिए था कि वे अपनी असहाया विधवा बहिन की सहायता न करें. अपनी कुल स्थावर और चल सम्पत्ति उसे सौंप दें. आचार्यजीने अपने शान्त स्वभाव के अनुकूल बहुत दिनों तक सहन किया, परन्तु जब आप इस नव्य पत्नी के व्यवहारों से खूब तंग आगए तो एक दिन चुपचाप आप बड़ौदा से येवला चले गये. और तबसे लगभग आपका सम्बन्ध इस देवी से टूट सा हो गया है. एक बहुत बड़े योगी ने एक बार अपने एक शिष्य को दूसरी शादी कर लेने पर उस से कहा था—

"first marriage is mistake second is crime."

अर्थात् तुम्हारी पहिली शादी गलती थी, और दूसरी तो अपराध ही है. खैर, पं. मेधाव्रतजी की पहली पत्नी कर्तव्यपरायणा वशंवदा एवं अनुकूला थी, इस लिए हम उस शादी को 'mistake' न कहेंगे, परन्तु इनकी दूसरी शादी गलती न थी, वह तो सचमुच 'crime' ही थी. अच्छा होता कि आचार्य मेधाव्रतजी इस झमेले में न फँसे होते. इस झमेले में फँस कर आपकी शक्ति तथा आपकी सम्पत्ति का तो ह्रास हुआ ही साथ ही आपको मानसिक कष्ट भी कुछ कम न उठाना पड़ा.

येवला आप पहुँचे ही थे कि आर्यकुमारमहासभा के कार्यकर्त्ताओं के आग्रह भरे पत्र पुनः बड़ौदे लौट आने के लिए आपके पास पहुँचने लगे. आपने एकान्त जीवन व्यतीत करने का निश्चय सा कर लिया था, और इसी लिए ३०००) रुपये लगा कर आपने येवला नगर से बाहर अपनी वाटिका में सुंदर कुटिया (नित्यानन्दभवन) भी बनवा ली थी, परन्तु आर्य-कन्यामहाविद्यालय के उत्सव में आने के लिए आप से बहुत आग्रह किया गया, और संस्था की ओर से आपको मानपत्र प्रदान किया जायगा, ऐसा लिखा गया, और इन्हीं सब बातों से प्रेरित होकर बड़ौदे लौटे. जिस दिन संस्था में आप वापिस आए, उस दिन लेखक कन्यामहाविद्यालय में ही था, अतः उस दृश्य को अपनी आँखों देखनेका सौभाग्य इस जन को प्राप्त हुआ था. कन्याओं एवं कार्यकर्त्ताओं में उत्साह की धारा उमड़ पड़ी थी. जब आप गए थे तब कन्यामहाविद्यालय के कन्यामण्डल में और कार्यकर्त्ताओं में खूब खेद अनुभव किया गया था. सच बात है, गोस्वामी ने ठीक ही लिखा है:—

" बिछुड़त एक प्राण हर लेहीं, मिलत एक दारुण दुःख देहीं. "

सज्जनों का वियोग दुःखदायक होता है, और दुष्टों का मिलन दुःखदायक होता है. आपको ब्रह्मचारिणीमण्डल ने फिर न जाने दिया. इस प्रकार पुनः आप इसी संस्था में रहे. कुछ दिनों के पश्चात आर्य–कन्यामहाविद्यालय के वार्षिकोत्सव के प्रसंग पर आपकी सेवाओं से प्रेरित होकर ' आर्यकन्यामहाविद्यालय बड़ौदा ' को ओर से दीवान बहादुर श्री हरविलास शारदा के सभापतित्व में उनके ही करकमलोंद्वारा एक मानपत्र समर्पित किया गया था, जो निम्नलिखित शब्दों में है:—

॥ ओ३म् ॥

अभिनन्दनपत्र

हे मानव मिट जायँगे, धन धरणी अरु धाम।
पै न मिटे यह अतुलजस, कविकी कीर्ति ललाम॥

कीर्तिर्यस्य स जीवति।

श्रीमान् कविरत्न आचार्य पं. मेधाव्रतजी की सेवामें :—

आचार्यवर, आज हमारे लिए भारी प्रसन्नताका दिन है जब कि हम श्रद्धासमन्वित होकर गद्गद् हृदय से आपका अभिनन्दन करने के लिए तैयार हुए हैं। संसारमें संस्थाजीवनमें विद्यार्थी एवं विद्यार्थिनियों को पचासों अध्यापकों एवं कार्यकर्त्ताओं से सम्बन्ध होता है परन्तु उनमें से कुछ ही एक महानुभाव ऐसे होते हैं जिनका चिरकाल के लिए हृदय पर अमिट प्रभाव पड़ता है।

सौजन्यगुणशालिन्, आपके काव्यमय प्रसन्न जीवन का, सदाचार का, सरस्वती भारती की सततोपासनाका हम कुलवासियों पर अक्षुण्ण प्रभाव पडा है. हमें ज्ञात है कि आपने इस कुलवाटिका को छोटी अवस्थासे ही स्नेहसुधासे सींच कर इतना बड़ा किया. आज सचमुच इस विशाल वृक्षको देखकर आपका हृदय फूला न समाता होगा. आपने जिन लताओंको अनेक कष्टों को सहकर इतना बड़ा किया, आप आज प्रसन्नताके सागरमें हिलोरें लेते होंगे जब कि आप उनमें फल लगे देख रहे हैं।

महानुभाव, आपने प्राचीन आचार्यों के गौरवमय पुण्य आदर्शको पुनरुज्जीवित कर दिया. भारतवर्षको इस हीन दीन दशामें जबकि चारों ओर रूढियोंका बोलबाला है, आजीवन स्त्रीशिक्षाका पवित्र व्रत लेकर आपने स्त्री जातिका महान् उपकार किया है. इसके लिए सर्वात्मना हम सबोंका हृदय आपके प्रति कृतज्ञतासे ओतप्रोत हो गया है।

विद्वद्वर, हम यह जानते हैं कि स्त्रीशिक्षाका काम तलवार की धार पर चलनेसे कम कठिन नहीं है. परन्तु आठ २ वर्षके लम्बे समयसे आप कुशलतापूर्वक इस कार्यमें सफलता प्राप्त कर चुके हैं. इस लिए आज हम सब इस बातके लिए परमात्माका धन्यवाद करते हैं कि आप जैसे विद्वान् आचार्य हमें प्राप्त हुए।

सौम्यमूर्ते, हमें पूर्ण आशा है कि जिस प्रकार "सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्" के सुन्दर आदर्श को अब तक आपने मनसा, वाचा, कर्मणा, कार्यरूपमें परिणत किया है। वैसे ही आगे भी आप देववाणीके उपासक होते हुए आजन्म स्त्री-शिक्षा की वृद्धि करते हुए स्त्रीजातिके लिए 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का सच्चा धार्मिक आदर्श पालते रहेंगे।

कविवर, आपने "दयानन्दलहरी, प्रकृतिसौन्दर्यम, ब्रह्मचर्यशतकम्" आदि रचनाओं द्वारा आर्यसमाज के साहित्यकी जो वृद्धि की है उसके लिए प्रत्येक आर्य गौरवान्वित है. 'दिव्यसंगीतामृत" से आपकी संगीतप्रियताका परिचय हो रहा है। 'कुमुदिनीचन्द्र' आदिसे साहित्य संसार का जो उपकार आपने किया है उन सबको स्मरण करते हुए आपके जीवनकी विविध प्रवृत्तियोंका ज्ञान होता है।

परमात्मा आपको दीर्घायुष्य प्रदान करे जिससे स्त्री-शिक्षा और वैदिक-साहित्य की सेवा करते हुए आप गुजरातकी भूमिको अनेक वैदकधर्मप्रचारिकाओं से युक्त कर दें। हम हैं आपके,

आर्यकन्यामहाविद्यालय के कार्यकर्तागण तथा ब्रह्मचारिणियाँ

स्थान-आर्य्यकन्यामहाविद्यालय, बड़ोदा.

ता. १ मई, सोमवार १९३३.

कविरत्नजी मानपान के भूखे नहीं हैं. चाटुकारिता से भी आप कोसों दूर भागते हैं. संस्थाजीवन में रहते हुए कई बार आप महाराजों, राजों. सेठों, साहुकारों की स्तुति बनाया करते थे. परन्तु कुछ दिनों से आपने इस प्रकार की भाटाई बन्द कर दी है. आप का मत है कि राष्ट्र के कार्य के लिए यदि कोई राजा, महाराजा, सेठ साहुकार दान देता है, तो इस के बदले में उस की स्तुति या भाटाई क्यों की जाय? दान देकर तो उस ने अपना कर्तव्य भर ही पालन किया है. हाँ, विद्वानों और देशभक्तों के दर्शनों से आप खिल उठते हैं. उन के आगे अपनी कृति को बताते हुए गौरव अनुभव करते हैं. विद्यार्थी अवस्था से ही आपने अनेक देशभक्तों, विद्वानों, आर्य-सेवकों के निधन पर करुणरसरञ्जितपद्यों की रचना की है. ऐसी रचनाओं का पद्यसंख्या लगभग ४०० होगी. इसी प्रकार जब कभी वृन्दावन गुरुकुल में कोई देशनेता या विद्वान् पहुँचता तब भी आप उस के शुभागमनोपलक्ष में प्रशस्तियाँ बनाया करते थे. इन दिनों जब आप बड़ौदे में हैं तब भी समय समय पर कतिपय प्रशस्तियों की रचना की है.

ऐसी रचनाओं की संख्या भी काफी है. इन सामयिक पद्यों में से कतिपय तदानीन्तनीय वेदप्रकाश, आर्यमित्र, आर्यप्रकाश और शारदा आदि मासिक पत्रों में छप चुके हैं. और कुछ इन दिनों बड़ौदे के प्रचारक में छपे हैं.

संस्कृतसाहित्य में शृंगाररस सीमा को लांघ चुका है. संस्कृत के कवियों ने शृंगाररस की जैसी कीचड़ उछाली है, वैसा संभवतः संसार के किसी भाषा के सभ्य कवि ने नहीं. कविश्रेष्ठ जगन्नाथ आदि की शृंगारिक रचनाएँ तो इतनी अश्लील हैं कि सभ्य समाज में उन्हें पढ़ा भी नहीं जा सकता. कामिनी के कुच, कमर और केश में हमारे संस्कृत के अधिकांश कवि ऐसे उलझे कि फिर इन की बुद्धि कभी भी न सुलझी. हमें तो आश्चर्य होता है कि मुस्लिमकाल में जब देश सम्पूर्णतया दासता की शृंखला से निगड़ित था, तब भी महाकवि जगन्नाथ जैसे का चित्त ललना की ललित-चितवन से ऊब क्यों न उठा था? गुलामी की शृंखला गले में डाल कर भी रंगरेलियों में वे कैसे मस्त रह सकते थे? इस का कारण कदाचित् यह हो सकता है कि राष्ट्रीयता का विकास आज का सा उस समय न हुआ हो.

परन्तु उसी युग में हिन्दीसाहित्य में भूषण जैसे राष्ट्रीय और जातीय कवि का अस्तित्व जब हम देखते हैं, तब हमारी ऊपर की धारणा निराधार मालूम देती है. खैर कुछ ही हो, संस्कृतकवियों को देशभक्तिमय रचना का यश प्राप्त न हुआ. दो एक काव्य बने जरूर हैं, परन्तु संस्कृत कवियों की संख्या देखते हुए एक दो कवियों की रचनाएँ तो आटे में नमक के बराबर ही है. देशभक्तिउत्तेजक, मातृभूमि-महिमाप्रतिपादककाव्यों की संस्कृत में बहुत जरूरत है. कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है, इसलिए कवि को अपने समय के वृत्तों से आँख बन्द न कर लेना चाहिए. पं. मेधाव्रतजी ने गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य, देशभक्ति, भारतमहिमा, संस्कृतप्रेम आदि की शिक्षा तो ली ही थी. इसी लिए हम देखते हैं कि आप की कविता के भी ये ही सब क्षेत्र हैं. आप की कविता में भारतीयता की मात्रा खूब रहती है. प्राचीनता की पुट के साथ नवीनता खूब शोभती है.

कविरत्नजीने महर्षि के मुख से प्राचीनभारत की जो शब्दमयरूप-रेखा खिचवाई है, वह खूब ही कलात्मक है. प्राचीन भारत की सारी विशेषताएँ हमारी आंखों के सामने आ उपस्थित होती हैं.

आप संस्कृत के आशु-कवि हैं. चलते फिरते आप के मुख से पद्य-बद्ध वाक्यसमूह निकलते रहते हैं. जब आप गुरुकुल वृन्दावन में थे, तभी से आप में यह योग्यता दृष्टिगोचर होने लगी थी. उत्सवों में या अन्य किसी प्रसंग में जब आप कभी श्लोक बोलने लगते थे, तब झट एक पद के स्थान में दूसरा पद बोल देते थे. एक बार गुरुकुल शुक्रतीर्थ के आचार्य पं. मया-शंकर जी ने आपको एक वसन्ततिलका छन्द का श्लोक दिया. आपने तत्काल ही उसे शार्दूलविक्रीडित में परिवर्त्तित कर दिया. पं. मयाशंकर जी बहुत ही प्रसन्न हुए थे.

१९३४ की बात है. बड़ौदे में ओरियण्टल कान्फ्रेन्स की धूम धाम थी. प्राच्यविद्यामहार्णव स्व. काशीप्रसाद जायस्वाल इस कान्फ्रेन्स के सभापति थे. आपके साथ बौद्ध जगत् के महाविद्वान् राहुल सांकृत्यायन भी थे. आचार्य जी के एक अन्तरतम मित्र ने कहा कि आचार्यजी, के. पी. जायस-वाल संस्कृत के भी धुरन्धर पण्डित हैं, बड़ा ही अच्छा होता, यदि आप इनके

सम्बन्ध में एक दो श्लोक बनाकर आचार्य की हैसियत से इनका यहाँ स्वागत करने. के. पी. जायसवाल विद्यालय में पधार चुके थे. सभा हो रही थी. आपने तत्क्षण दो श्लोक बहुत सुंदर भावपूर्ण बना डाले, और के. पी. जायसवाल को सुनाये. आपके श्लोकों के भाव, तथा छन्द एवं पठनशैली पर जायसवाल मुग्ध हो गए. और उन श्लोकों को अपने पास रखने के लिए मांग लिये. पाठकों के मनोरंजनार्थ मैं उन दोनों श्लोकों को यहाँ टांक देता हूं:-

धन्येयं राजधानी समजनि नितरां
प्राच्यविद्यार्णवानां
नानादेशागतानां परिषदि विदुषां
शास्त्रपारंगतानाम् ।
साभापत्ये नियुक्तो भगवति स जय-
स्वालनामा सुधीन्द्रः
श्रीमान् काशीप्रसादो यदयमुपगतो
भाग्यतो नेत्रमार्गम् ॥ १ ॥

सौभाग्यं मातृभूमेरतिशयितधिया
या सुपुत्रोत्तमेन
विख्याते विश्वविद्यालय इह पदवी
माननीया प्रपन्ना ।
हिन्दूनां (शास्ति) नीतिशास्त्रं विरचितममुना
क्षात्रधर्मोचितं तत्
पाण्डित्यं पण्डितेषु प्रकटितमतुलं
गौरवं भारतस्य ॥ २ ॥

इस प्रकार तत्काल ही आप भावपूर्ण कविता करने में सिद्ध हस्त हैं. साधारण अवलोकन मात्र से आप भावचित्रण में पूरी सफलता प्राप्त कर लेते हैं.

साधारणतः लोग आशुकवित्व पर मुग्ध रहते हैं. पर आप की दृष्टि में आशुकविता ठीक नहीं है. आप का कथन है कि कविता में जितनी ही मात्रा में अधिक अनुभूति, गाम्भीर्य, चित्रण, मनोविज्ञान, अनूठापन, व्यंजना आदि रहती है, उतना ही अधिक कविता का आत्मा पुष्ट होता है. आशुकवित्व में तो केवल कविता के कलेवर की सृष्टि की जाती है. अनर्थकवाक्यसमूह भी छन्दोबद्ध किया जा सकता है. एतावता क्या वह कविता कहा जा सकेगा ? देह में आत्मा के होने पर ही उस की कार्यकर्तृत्व में क्षमता होती है, नान्यथा.

अब हम कविरत्न जी के सम्बन्ध में दो एक बातें लिखकर अपने इस लेख को समाप्त कर देंगे. आप जहाँ व्याख्यानों, सभा समितियों से घबराते हैं, वहाँ आप को हमने अध्यापनयज्ञ से कभी भी विरत होते नहीं देखा. आप का ज्ञान-सत्र निरन्तर चलता ही रहता है. विद्यालय में आप ९, ९ अंतराल पढाते हैं. तदनन्तर दिनभर शिष्याओं का तांता आप के यहाँ बँधा ही रहता है. आप बैठे २ और कईबार तो साधरणतः लेटे लेटे भी विद्यार्थिनियों को बताते रहते हैं. इस दृश्य को देख कर मुझे काशी तथा मिथिला के भारती के दुलारे पण्डित गण याद आ जाते हैं, जिन का अध्यापनयज्ञ-प्रातःकाल से प्रारम्भ होकर भोजनसमय निकाल देने के बाद रात को भी आठ दश बजे तक चलता ही रहता है. काशी के उन सच्चे ब्राह्मणों की त्यागवृत्ति और तपस्या को देखकर आज भी दांतोंतले अंगुली दबानी पड़ती है. यह बात सच है कि वे पुराण-प्रिय होने के कारण वर्तमान आन्दोलनों से अलग से रहते हैं. और इस लिए आज के लोडरंमन्य, या व्याख्यानवेदिकाओं पर हाथपग झाड़ने वाले सुधारक उन्हें कूप-मण्डूक, स्वार्थी तथा रूढिउपासक कहते हैं, पर स्मरण रखना चाहिए कि जिस दिन उन पण्डितों पर से पुरातनत्वपन का भूत उतर जायगा, उस दिन आज के इन बनावटी त्याग और तपस्या की मूर्तियों की कलई खुल जायगी. भारतीयसंस्कृति के बचाने में, गीर्वाणगिरा की उपासना में उन पण्डितों को बहुत सहन करना पड़ा है. वे यदि चाहते तो वे भी बी. ए. एम. ए. बन कर पाश्चात्य चमक दमक के उपासक बन सकते थे. विदेशी तत्वों के पुरजे बन सकते थे. उन के बाल बच्चे भी विदेशी राज्य के पुर्जे बनकर मोटरों को दौड़ा सकते थे. और होटलों में जा

जा कर देशोद्धार के राग अलाप सकते थे. परन्तु नहीं, वे समझते हैं कि हमारी संस्कृति का आधारस्तम्भ संस्कृत है, यदि आर्य्य-सभ्यता संस्कृत के सहारे से अलग हो गई तो निश्चित ही यह धड़ाम से गिर जायगी. इसी लिए वे सब सुखों को लात मार २०, २० वर्ष क्या सारी जिन्दगी व्याकरण, दर्शन, वेद, ब्राह्मण आदि के अध्ययन में अपने शरीर को सुखा देते हैं. हजारों वर्ष की अध्ययनपरंपरा को सुरक्षित बना रक्खे हैं. स्वयं भी सांसारिक सुखों से वंचित रहते हैं, और अपने बच्चों को भी वंचित रखते हैं. इस प्रकार के विद्वान् जो चलते फिरते ज्ञान में जंगमपुस्तकालय हैं, भारत में एक नहीं दो नहीं, सैंकडों हैं. काशीकी गली गली में एक से एक बढ़कर आप को मानों साक्षात् शारदा की मूर्ति दृष्टिगोचर होंगे. मिथिला की पर्णकुटियों में, नवद्वीप को पल्लियों में और कालीकट तथा महाराष्ट्र की झोपडियों में इन भारतीय सभ्यता के जीवित-शिखरों का आपको दर्शन होगा. ये—वे हैं जिन्होंने कम से कम एक एषणा पर विजय प्राप्त किया है, और इन के सामने ये—आज के आमूलचूल स्वार्थमूर्ति दम्भ-और पाखण्ड की प्रतिमा, बात बात में रुपये खनखनाने वाले, २५ रुपये घण्टे अपने समय को बेचने वाले, मुसलमानी हुकूमत में आलिफ, बे, पे, करने वाले, और अब जब अंग्रेज आए तो ए. बी. सी. डी. की रट लगाने वाले, बैरिस्टर, डॉक्टर, ओफिसर आदि के रूप में भारतीयधन को विदेश भेजने वाले तथा आर्यत्व की धधकती चिता पर पश्चिम के दास बन पाप के प्रासाद खडे करने वाले, विदेशी शासन के सहायक नेतागिरि के नाम पर सेठों, साहुकारों, राजों, महाराजों से हजारों रुपये मासिक एंठने वाले आत्मश्लाघी आज के क्षुद्राशयव्यक्ति जब समालोचना के संगर में वाग्बाण-प्रहार उन पण्डितों पर करने लगते हैं, जिन्होंने क्रियात्मरूप से वैदिकसंस्कृति को बचाया है, तब हृदय मुंह को आता है. आज भी आर्य-समाज मे पं. मुक्तिरामजी और नरदेव शास्त्री से त्यागी और कर्मठ विद्वान् अनेकों विद्यमान हैं. भूत की बात जाने दीजिए, इन जैसे विद्वानों ने आर्य-समाज के लिए अपना तन मन धन सब कुछ अर्पण कर दिया है. इन की त्यागशीलता और तपस्या आर्य-समाज के किस नेता से कम है. भिन्नता केवल यही है कि ये आत्मश्लाघी नहीं हैं. अपना ढोल समाचार पत्रों द्वारा तथा अपने चेलों द्वारा नहीं पिटवाते हैं.

अर्द्धदग्ध लोगों के मुख से प्रायः यह बात सुनी जाती है कि संस्कृत के पण्डित व्यवहारकुशल तथा सामाजिक नहीं होते. यद्यपि मैं इस कथन में जरा भी विश्वास नहीं रखता, तो भी संस्कृत के पण्डितों की सत्यप्रियता, स्पष्टवादिता आदि गुणोंको यदि लोग अव्यवहारिकता के रूप में लेते हों तो मैं भी इस कथनमें थोड़ा विश्वास करूँगा. जो लोग संस्कृत के पण्डितों का हास्य उड़ाया करते हैं, वे अनार्य हैं. उनका मस्तिष्क पश्चिम की सड़ाँध से सड़ चुका है. उन्हें मालूम नहीं कि गौतम, कपिल, कणाद आदि दर्शनकार, चाणक्य, बार्हस्पत्य, भारद्वाज, उशनस् और शुक्र जैसे राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र, पाणिनि, पतंजलि, वररुचि और शाकटायन जैसे व्याकरणशास्त्र एवं यास्क जैसे निरुक्त शास्त्र, चरक, सुश्रुत, जैसे वैद्यकशास्त्र, मनु याज्ञवल्क्य जैसे धर्मशास्त्र आदि के रचयिता भी तो संस्कृत के ही पण्डित थे. वे कोई आप जैसे गुलामाने गुलाम बनकर परभाषा के ज्ञान बल से इन शास्त्रों की रचना नहीं करते थे. समाज का कौनसा आवश्यक पहलू है, जिस पर उन्होंने कुछ नहीं लिखा है. बड़ा ही अच्छा हुआ कि आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्दजी ने अंग्रेजी न पढ़ी, यदि स्वामीजी ने अंग्रेजी पढ़ ली होती, तो ये आज के आर्य-समाज के लीडर बाबूलोग व्याप्तिज्ञान ही बना लेते कि बिना अंग्रेजी जाने व्यवहारादि में लोग अयोग्य ही रहते हैं. फिर अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों ही ने दुनियाकी सब अच्छाइयों का ठेका ले लिया है, ऐसा भी तो सिद्ध नहीं होता. मैं ऐसे अनेकों ग्रेज्युएटों को जानता हूँ, जिन्हें बातचीत, बैठने, उठने आदि साधारण शिष्टाचार तक का भी ज्ञान नहीं है. अंग्रेजी पढे लिखे लोगों में से अधिकांश के पास आत्मविश्वास की कमी तो मैंने खूब ही देखी. पढ़े लिखे लोगों में आत्महत्या करने वाले अधिकांश अंग्रेजीखाँ ही ज्यादा हैं. कभी भी सुनने में नही आया कि अमुक संस्कृत के पण्डित ने आत्महत्या बेकारी के कारण या किसी कारण कर ली. हाँ तो हमारे कविरत्नजी भी तो भगवती भारती के उपासक हैं. इनकी सामाजिकता और व्यावहारिकता पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है:—

एक बार की बात है, किसी घटना को लेकर किन्हीं दो पक्षों में बड़ी चखाचखी चल रही थी. परिस्थिति विकट हो चली थी. घटना से सम्बन्ध रखने वाले सभी चिन्तित दृष्टिगोचर हो रहे थे. आचार्य मेधाव्रतजी

जब बीती घटनावली पर दृष्टिपात करते थे, तब अपने स्वीकृत पथ पर पहाड़ सा अचल रहने को तैयार थे. इसके लिए महती से महती अपनी हानि उठाने को भी तैयार होगए थे. परन्तु किसी ने इस प्रश्न को उनके सामने सामाजिक प्रश्न के रूप में उपस्थित किया. और तब आश्चर्य से लोगों ने देखा कि समाज के लिए तथा व्यवहार के लिए आपने अपनी आत्मिक आवाज को भी दफना दिया. अन्यथा न मालूम आपकी कलम के एक झटके से अथवा जिह्वा के साधारण व्यापार से कैसी अनिच्छनीय दुःख-दायक घटना घट जाती. परन्तु सच बात तो यह है कि जिस व्यवहार में थोड़ा भी असत्य का मिश्रण हो, ऐसे व्यवहारों पर आप को घृणा तो है ही. इस प्रकार अनेकों प्रसंगों को मैं जानता हूँ कि जब आपने एक दम उलझे मामलों को अपनी चतुराई से सुलझा दिया है.

आप बहुत कम बोलते हैं, जो बोलते हैं, युक्तियुक्त और सुसंगत. वाचाल न होने के कारण समितियों में जाकर व्याख्यान झाड़ने का आपको मर्ज नहीं सा है. यदि कभी किसी अनिवार्य कारणवशात् कहीं किसी सभा समिति में आपको जाना ही पड़ जाय तो उस परिस्थिति को अवाञ्छनीय-संकट की तरह आप सहन कर लेते हैं.

स्वभावतः जब आप सभा समितियों से घबराते हैं तब भला पद-लोलुप तो हो ही कैसे सकते हैं. ऐसे अनेक प्रसंग आपके जीवन में उप-स्थित हुए हैं, जब कि लोगों ने अच्छी प्रकार देखा है—अनुभव किया है कि आपको अपने पद का जरा भी मोह नहीं है. आप बहुधा कहा करते हैं कि इन पदों से न तो लौकिक मुक्ति मिल सकती है, और नाही पारलौकिक, इस लिए मैं तो इन पदों को झंझट और अशान्ति, ईर्ष्या और द्वेष का कारण ही समझता हूँ. आप तो शान्ति से कहीं बैठ कर स्वाध्याय और सरस्वती-आराधना को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं. सचमुच यह होता भी अच्छा ही, यदि आप ऐसे झंझटों से अलग ही रहते. उस अवस्था में आर्य जगत् को आप अब तक संस्कृत का अच्छा साहित्य प्रदान कर सकते. साधारणकाव्यग्रन्थों और भवति, पचति को पढ़ाने वाले बहुत मिल जाते हैं. परन्तु जिस शुद्ध साहित्य की एक दम आवश्यकता आर्यसमाज को है, उसकी रचना करने वाले ऐसे

विद्वान् सर्वत्र कहां मिल सकते हैं? सरस्वती के ऐसे पुत्रों की तो बहुत ही कमी है, जो मौलिक कुछ जनता को प्रदान कर सकें. खेद है कि दशों वर्षों से आपकी यह शक्ति यों ही क्षीण हुई. आपको परिस्थितियों के अनुकूल होकर न चाहते हुए भी इस प्रकार के काम करने पड़े हैं, जो आप जैसे संस्कृतसाहित्य के स्वाभाविक कवि और रचयिता के योग्य नहीं कहे जा सकते. परन्तु क्या आप ही इस प्रकार के एक विद्वान् हैं, जिनकी शक्तियाँ जो साहित्यक्षेत्र में व्यय होनी थीं, और उन्हें अनेक प्रबन्धों के पचड़े में खर्चनी पड़ी,—ऐसों की नामावली बहुत बड़ी है.

आप स्वभाव के बड़े ही सरल एवं शान्त हैं. स्वभाव में गम्भीरता चरम सीमा तक पहुँच चुकी है. कई बार इस लेख के लेखक ने देखा है कि संस्थाजीवन में रहते हुए उत्तेजना के अनेक प्रसंगों के उपस्थित होने पर भी आप वचन, आकृति एवं चेष्टा में एकदम अगम्य से रहते हैं "सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदाम्पदम्" के तो मानों आप साक्षात् उदाहरण ही हैं, कोई भी कार्य आज तक आप ने ऐसा नहीं किया है, जिस के लिए पीछे आप को पश्चात्ताप करना पड़ा हो. आप ने अपनी गीर्वाणी को पूर्णरूप से वश में कर लिया है :—"यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा, परापवादशस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय" के सुष्ठु सिद्धान्त को आप ने हृदयंगम सा कर लिया है. वाणी पर अतिशय काबू के कारण ही आप को इधर उधर के झगड़ों में कभी फँसना नहीं पड़ता है. जिन लोगों को आप के साथ रहने का महीने दो महीने भी अवसर मिला है, वे ही आप के स्वभाव का विश्लेषण कर सकते हैं. प्रकृतिगम्भीर होने के कारण बड़ी से बड़ी घटना को भी आप बहुत ही धैर्य से सुन लेते हैं. उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे आप एक वीतराग संन्यासी न हों. उद्वेगजनक घटनाओं की जब परम्परा होने लगती है, तब आप की उग्रता भी सीमा तक पहुँच जाती है, परन्तु मर्यादा उल्लंघन तो कदापि भी नहीं करती. एक वार आप को अपने साथियों के आचरण से हार्दिक दुःख हुआ था. सार्वजनिक क्षेत्र में जब से आप ने प्रवेश किया था, शायद तब से यह पहला अवसर उपस्थित हुआ था, जब कि आप की कर्तृत्वशक्ति, धैर्य, बुद्धिमत्ता, नीतिमत्ता

तथा महाप्राणता की परीक्षा थी. कोई ख्याल भी नहीं कर सकता था कि एक संस्कृत का पण्डित इस प्रकार कसौटी होने पर खरा उतरेगा. परन्तु लेखक ने तथा उस समय आचार्य मेधाव्रतजी के दूसरे साथियों ने साँस खींच कर देखा कि बड़ी बुद्धिमत्ता से आप उस अग्नि-परीक्षा में पास हो गए. यदि उस समय आपने अपने मस्तिष्क के समतोलन को जरा भी गँवा दिया होता तो मामला बड़ा ही उग्र हो जाता, शायद परिस्थिति आप के हाथों में न रहती. यद्यपि उस प्रकार का बवण्डर उत्पन्न करने में आप ज़रा भी कारण-भूत न थे. आप के शान्त तथा गम्भीर रहने के कारण वह परिस्थिति उन्हीं लोगों के लिए हानि कर हुई, जिन्हों ने जान बूझ कर उसे उत्पन्न की थी. जिन लोगों ने आग लगाई थी, उन्हें ही तापना पड़ा, किसी कवि ने लिखा है:-

" वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥ "

के अनुसार एकाध प्रसंग ऐसा भी आया है कि जब कि आप कह उठते थे " दुष्टानां दलनाय दिव्यबलतो दिव्यं महो धारये " ऐसे ही अनेक प्रसंगों के उपस्थित होने पर इन सच्चे ब्राह्मण की गौ एक बार बिगड़ उठी थी. जिस का परिणाम बड़ा ही भयंकर हुआ था. अस्तु. आप का स्वभाव बड़ा ही विनोदी है. आप के चेहरे पर कभी भी मुर्दनी छाई मैंने नहीं देखी. बात २ में आप हास्यरस का फब्बारा छोड़ते हैं, वस्तुतः कवि का जैसा स्वभाव होना चाहिए उस का आप एक समुचित संस्करण हैं, अभिमान, दुराग्रह और धर्मान्धता तो आप को छू भी नहीं गई है. आप ' आर्यकन्या-महाविद्यालय बड़ौदा ' जैसी विशाल संस्था के आचार्य हैं, बीसों अध्यापक आप के आचार्यत्व में कार्य करते हैं, परन्तु आज तक एक भी ऐसी घटना न घटी, जिस से यह कहा जा सके कि अमुक अध्यापक को आप के अमुक व्यवहार से कष्ट हुआ है जब कि हम देखते हैं कि प्रायः गवर्नमेंट की संस्थाओं की अपेक्षा सार्वजनिक संस्थाओं में ही अधिकांश अधीनस्थ कर्मचारियों को, उन के उच्च कर्मचारियों से पदे पदे अपमानित होना पड़ता है. आप अध्यापकों के साथ मित्रतापूर्ण सहानुभूतिभरा वर्त्ताव करते हैं. कई बार साधारण

अध्यापकों की असुविधा देख कर आप दुःखी हो उठते हैं. यही कारण है कि आप की आज्ञाओं को अध्यापक सहर्ष पालन करते हुए, यह अनुभव नहीं करते हैं कि हम पर हुकूमत किया जा रहा है. अध्यापकमण्डल के साथ इस प्रकार का सुंदर सामंजस्य स्थापित करने वाले मुझे तो केवल एक आप ही दृष्टिगोचर हुए हैं. आज तक किसी भी प्रसंग पर अभिमान के आवेश में आप को किसी ने नहीं देखा.

आप संस्कृत साहित्य के प्रखर पण्डित हैं तो भी साधारण विद्वान् का आप हार्दिक सत्कार करते हैं. कई बार तो आवश्यकता से अधिक आप की निरभिमानता अखरने लगती है. एक बार बनारस से मध्यमा का एक नौसिखिया विद्यार्थी आप के पास आया, आप ने संस्कृत में—एक समस्तपद में '**किन्नामधेयो भवान्**' **किं ग्रामवास्तव्यश्च;** पूछा. विद्यार्थी एक दम बोल उठा यह वाक्य अशुद्ध है, आप ने कहा—ना भाई, अशुद्ध तो नहीं है. वह और अधिक उत्तेजित होता गया, और बोला 'नामधेय' शब्द तो नपुंसक है; आप ने पुल्लिंग में प्रयोग कर अशुद्धि की है. 'किम्' के साथ 'नामधेयम्' का समास करने से समस्तपद विशेष्य 'भवान्' पदके पुल्लिंग होने से पुल्लिंग हुआ. इतना कहकर आप तो कुछ देर चुप रहे. विद्यार्थी अपनी योग्यता की डींग हाँकता ही गया, और फिर इस प्रकार तुच्छता पर उतर आया कि, पास ही बैठे एक सज्जन से न रहा गया, और उस ने उसे खूब फटकारा, जब फटकार से विद्यार्थी देवता का मस्तिष्क कुछ शान्त हुआ, तब आप ने कहा भाई 'किम् क्षेपे,' सूत्र याद है? उस से समास होगा. अस्तु.

ईश्वर करें कि ये आर्य—कवीन्द्र चिरायुष्य हों जिस से आर्यसाहित्य में नित नूतन वृद्धि हो सके. ओ३म् शम्.

ग्राम—डेलहवा
बरबीघा P. O.
जि.—मुंगेर (मगध)
ता. ६—११—३८.

श्रुतबन्धु 'शास्त्री वेदतीर्थ'
उपाध्याय—आर्य—कन्या-
महाविद्यालय, बड़ौदा.

अद्वितीय व्याख्याता महर्षि दयानन्द सरस्वती ।

॥ ओ३म् ॥

दयानन्ददिग्विजयम्

॥ महाकाव्यम् ॥

प्रथमः सर्गः ।

दयामयानन्दनमूलशंकरं
सरस्वतीशं निगमेन्दुसागरम् ।
विभुं निराकारमजं जगत्सृजं
भजामि मेधार्जनतो महागुरुम् ॥१॥

[प्रथम अर्थ-ईश्वरपरक.] जो कल्याणकारी परमेश्वर विद्या का स्वामी है, जैसे सागर से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, वैसे ही जिससे वेदोंका आविर्भाव हुआ है, जो व्यापक, निराकार एवं अजन्मा है, जो अखिल ब्रह्माण्ड का कर्ता है, जो गुरुओं का भी गुरु है, ऐसे दयामय, आनन्दकन्द प्रभु को मैं, सारासार विवेकशालिनी बुद्धि के लिये भजता हूं ॥ १ ॥

[दूसरा अर्थ-दयानन्दपरक.] वाणी के स्वामी, वेदचन्द्र के सागर, समर्थ, निराकारोपासक, भारतभाग्यविधाता, दयामय, आनन्दी, मूलशंकर नामक गुरुवर श्री दयानंद महात्मा का सदसद्विवेकशालिनी बुद्धि के लिए मैं (मेधाव्रत) आश्रय लेता हूं.

[तीसरा अर्थ-कवि के पिता श्री जगजीवनपरक.] सरस्वती के पति, (सरस्वती कवि की माता का नाम) निगम=काव्यशास्त्र के चन्द्र=आनन्दप्रकाशक कवि मेधाव्रत के सागर=उत्पादक=पिता (जगजीवनजी) दयालु, प्रसन्नहृदयशाली, मूलशंकर=संतानहितकारी विभु=सिद्धान्तपालन में समर्थ ओंकारोपासक, महागुरु=महान् पिता जगजीवनजी को मेरी मेधाशक्ति के बढाने में मुख्यनिमित्तरूप होनेसे मैं श्रद्धासहित इस शुभकार्य में स्मरण करता हूं.

चतुर्थ अर्थ–साहित्यवाचस्पति राजकवि श्री दयाशंकरजी जो सनातन धर्म के कट्टर-पक्षपाती तथा समर्थ विद्वान् थे और कविके साथ परममित्रता रखते थे; उनपर घटता है.

पांचवां अर्थ–शुक्लतीर्थ गुरुकुल के कुलपति तथा आचार्य श्री पं. मयाशंकरजीपर घटता है. ये भी कविके परममित्रोंमेंसे एक समर्थ विद्वान् हैं.

छठा अर्थ–काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के आचार्यश्री आनन्दशंकर ध्रुवपरक है. यद्यपि कविके साथ आचार्यश्री आनन्दशंकर ध्रुव का विशेष परिचय नहीं है तथापि हिन्दुओंमें एक अग्रणी विद्वान् एवं अखिलभारतवर्ष के हिन्दुओंके महान् महनीय विश्वविद्यालय के आचार्य होनेके कारण कविने ऐसे महान् विद्वन्महोदय के स्मरणद्वारा मंगलाचरण करना उचित ही समझा है.

ददाति याऽऽनन्दममन्दमात्मने
दयालवे दिव्यगुणा सरस्वती ।
नमाम्यमूं ब्रह्मसुतां कवीश्वरैः
सदा स्तुतां मातरमात्ममंगलाम् ॥२॥

जो सरस्वती ब्रह्म–सुता (ब्रह्म की कला) है, जो अलौकिक दिव्य गुणों को धारण करती है, जो सन्तों एवं कविजनों को अतुल आनन्द प्रदान करती है, बडे बडे कविपुंगवोंने जिसकी निरन्तर स्तुति की है, जो विद्वज्जनों का कल्याण करती है, ऐसी माता सरस्वती को मैं वन्दना करता हूं.

[दूसरा अर्थ] जो उत्तमगुणधारिणी, मंगलकारिणी, सरस्वती नामक मेरी माता बालपनसे मुझ कोमलहृदयवाले पुत्रपर सदा वात्सल्य एवं आनन्दको वर्षा बरसाती रही थी उस आत्ममंगलदायिनी, श्रेष्ठपुरुषोंसे सदा प्रशंसित सन्तानवत्सला अ. सौ. सरस्वती माता को मैं भक्ति और प्रेमविह्वल अन्तःकरणसे प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

दयालवः प्राणिषु सौख्यहेतवः
समस्तसंसारहितं चिकीर्षवः ।
भवन्ति वन्द्या नहि कस्य साधवः
सदा सदन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥३॥

जो साधुजन प्राणियों पर दया बरसानेवाले हैं, जो सब के लिये समानरूप से सुख के हेतु हैं, जो संसार भरका हित चाहते हैं, जिनके श्रेष्ठ अन्तःकरणों में सदा सत्सङ्कल्प ही उदित होते रहते हैं, ऐसे सदाचारी महापुरुष किस व्यक्ति के लिये वन्दनीय नहीं होते ? ॥ ३ ॥

महात्मनां ब्रह्मविदां तपोजुषां
क्व सिन्धुगम्भीरचरित्रमुन्नतम् ।
तरंगिणीसन्तरणैकहेतुका
क्व चाल्पनौकेव मदीयशेमुषी ॥४॥

कहाँ तो ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी महात्माओं का समुद्र के समान गहन और हिमालय सा ऊँचा चरित्र ? और कहाँ केवल मात्र नदी को पार करानेवाली छोटी नैया की तरह मेरी अल्पमति ? अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारी महान् दयानंद के चरित्र-वर्णन की क्षमता मुझ जैसे अल्प-विद्य जनों के लिये नितान्त कठिन ही है ॥ ४ ॥

बुधैकगम्ये चरिते मनोरमे
ममाबुधस्येह गिरामगोचरे ।
अयं प्रयासो विबुधैर्विबुध्यतां
जनस्य पङ्गोरिव शैललङ्घने ॥५॥

जिस महर्षि के मनोरम चरित्र को केवल महाविद्वान् ही समझ सकते हैं, जो चरित्र मेरी वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता, ऐसे महापुरुष के चरित्र के वर्णन करने का मेरा यह प्रयास ठीक वैसा ही है, जैसे कि किसी पंगु का पर्वत लांघना ॥ ५ ॥

गुरोः कृपालोः परिचर्ययाऽर्जितां
कृपातरिं तामधिरुह्य दुस्तरम् ।
अयं दयानन्दचरित्रसागरं
तितीर्षतीमं कविकीर्त्तिकामुकः ॥६॥

तो भी कृपालु गुरुजनों की सेवा से मिली हुई, कृपा-नौका पर चढकर, दयानंद-चरित्ररूपी महासमुद्र को पार करने का मैं साहस करता हूँ और कविजनोचितकीर्त्ति की लालसा करता हूँ ॥ ६ ॥

जगन्नभोऽन्तान्निगमप्रभाकरे
नितान्तमस्ताचललम्बिमण्डले ।
शनैः शनैरार्यवसुन्धराम्बरं
समावृणोन्मोहतमःकदम्बकम् ॥७॥

संसाररूपी आकाश से वेदरूपी सूर्य सर्वथा अस्ताचलगामी हो चुका था, मिथ्या-ज्ञानरूपी घोर अन्धकार धीरे धीरे भारतीय वसुन्धरा के गगनाङ्गन में छा चुका था ॥ ७ ॥

भयंकराज्ञाननिशि प्रमोहतो
निमीलितं भारतलोकपंकजम् ।
व्यबोधयद्यः श्रुतिबोधदीधिति –
प्रभाभिरादित्य इव व्रतीश्वरः ॥८॥

उस समय इस आर्यावर्त में अज्ञानरूपी रजनी का साम्राज्य था । जैसे रात को कमलिनी मुँद जाती है, वैसे ही भारतीय जनता अज्ञान, प्रमाद, आलस्य आदि दोषों के कारण सब उन्नतियों से हाथ धो बैठी थी । ऐसे भयंकर समय में सूर्य के समान तेजस्वी आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्दने वेदोपदेशरूपी किरणों के प्रकाश से अज्ञानी जनता को अज्ञान निद्रा से जगाया ॥ ८ ॥

भवाटवीध्वान्तपथाभिगामिनं
मनुष्यसंघं विषयापगाप्लुतम् ।
प्रबोधदीपप्रभया मुनीश्वरः
प्रकाशकस्तम्भ इवोददीधरत् ॥९॥

उस समय की हालत बडी ही दयनीय थी । मानव-समुदाय संसाररूपी घोर जंगल में अज्ञानव्याप्त मत-पंथों के रास्ते में ठोकरें खारहा था । लोग विलासिता की अधोगामिनी नदी में गोते खा रहे थे । ऐसे समय में इस महामुनि ने वेद-ज्ञानरूप दोपक के प्रकाश से डूबते हुओं को बचा लिया, जैसे समुद्र के यात्रियों को प्रकाश-स्तम्भ बचा लेता है ॥ ९ ॥

अबोधगर्त्ते पतितानयं जनान्
सुबोधसोपानपरम्परां दिशन् ।
यतिर्दयार्द्रेण हृदा य आपदां
पथोऽनयन्मुक्तिसमृद्धिसत्पथम् ॥१०॥

और इस महान् संन्यासी ने दयालु हृदय से मतमतान्तरों की खाइयों में पडे लोगों को सदुपदेश की सीढियों द्वारा बाहर निकाला और दुःख-मार्ग से हटाकर अभ्युदय और मोक्ष के महान् मार्ग पर ला खडा किया ॥ १० ॥

महोग्रतापत्रयतापितं जग –
ज्जगद्गुरुर्वेदमहार्णवोदरात् ।
निपीय बोधामृतमम्बुवर्षणै –
रहर्षयद्योऽम्बुधरो मनोहरः ॥११॥

जैसे मनोहर मेघमण्डल महासागर में से जलग्रहण कर गरमी से तपे भूतल को अपनी सुन्दर वर्षा से आल्हादित करते हैं, वैसे ही जगद्गुरु दयानन्द ने वेदों से उपदेशामृत लेकर त्रिविध उग्रतापों से तपे जगत् को अपनी मधुर वाणी-वर्षा से आनन्दित किया ॥११॥

असाध्यरोगाभिभवेन पीडितं
कलेवरं लोकसमाजरूपकम् ।
विलोक्य तस्मै व्यतरन्महौषधं
भिषग्वरो वीर्यविवर्धनं व्रतम् ॥१२॥

वैदिक आचार विचारों के अनुकूल भारतीय जनता अपना जीवन नहीं बिता रही थी, इसीलिये उसके कलेवर को अनेक असाध्य रोगों ने घेर लिया था, अतः धन्वन्तरि दयानन्दने समाज को ब्रह्मचर्यकी अद्भुत शक्तिशालिनी बूटी प्रदान की ॥ १२ ॥

पुरातनीं भारतभाग्यसम्पदं
गतां महोत्कर्षगिरीन्द्रमस्तकम् ।

विनिर्दिशन् वैदिककालशालिनीं
जनान्य इत्थं समबोधयन्मुनिः ॥१३॥

वैदिक-युग के पुरातन भारत की भाग्यलक्ष्मी उन्नति के हिमाचल-शिखर पर पहुँच चुकी थी, उसे मुनिवर दयानन्दने इस प्रकार समझाया ॥ १३ ॥

सुभोगमोक्षोभयसौख्यभोगिनां
समग्रसंसारहितैषिणां सताम् ।
पदे पदे ते गृहमेधिनामभुः
सुवर्णवर्णीन्द्रविराजिताश्रमाः ॥१४॥

प्राचीन आर्यावर्त में स्थान स्थान पर श्रेष्ठ गृहस्थ जन अभ्युदय और निश्रेयस (भोग और मोक्ष) का आनन्द लूटा करते थे। वे निरन्तर संसार का कल्याण करने में प्रवृत्त रहते थे। इसी लिये गृहस्थों के घरों को तेजस्वी ब्रह्मचारी दिपाते थे ॥ १४ ॥

पवित्रमंत्रध्वनिमंजुलाङ्गणे
गृहे गृहे भारतवर्षवासिनाम् ॥
ललास यज्ञानलधूममालया
निरभ्रमप्यम्बरमम्बुदैर्युतम् ॥१५॥

प्रत्येक भारतवासी के गृहाङ्गण में पवित्र वेदमंत्रों की मञ्जुल ध्वनि सुनाई देती थी, और अग्निहोत्र के धूएँ से बिना बादलों का आकाश भी बादलों से घिरासा शोभित होता था ॥ १५ ॥

अशेषविद्याध्ययनाय भारते
स्थले स्थले योगिगुरोः कुलं बभौ ।
पृथक्पृथग् बालकबालिकागणै
र्व्रतार्थिभिर्ब्रह्ममनोभिरन्वितम् ॥१६॥

भारतवर्ष में विविध विद्याओं को पढ़ाने के लिये संयमी गुरुओं के स्थान स्थान पर बालक और बालिकाओं के पृथक् २ गुरुकुल थे, जिनमें ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कराया जाता था। और प्रकृति से लेकर ब्रह्म पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान कराया जाता था ॥ १६ ॥

वनीश्वराणां फलकन्दभोजिनां
वने वने संयमिनां तपोवनम् ।
प्रशान्तवैरं मृगराजदन्तिभि –
र्निषेवितं प्रीतियुतैर्मिथोमृगैः ॥१७॥

वन वन में जितेन्द्रिय, श्रेष्ठ वानप्रस्थियों के आश्रम थे। वे लोग कन्दमूल और फलों का आहार करते थे। उन तपोवनों में सिंह, हाथी, मृग आदि पशुगण अपने २ वैर त्यागकर प्रेम से रहते थे ॥ १७ ॥

समग्रवेदागममर्मवेदिनां
विनिर्मलज्ञानसुधाप्रवर्षिणाम् ।
गतैषणानामृषिवर्ययोगिनां
पुरे पुरेऽभूदुपदेशवर्षणम् ॥१८॥

नगर नगर में सम्पूर्ण वेदों और शास्त्रों के मर्म जाननेवाले, तीनों (वित्त, पुत्र, लोक) एषणाओं को जीतनेवाले योगनिष्ठ ऋषिगण निर्मल ज्ञानामृत की धारा बहाते थे ॥ १८ ॥

विशुद्धवेदान्तरहस्यवित्तमाः
सभासु शास्त्रार्थविधानपण्डिताः ।
निरञ्जनब्रह्मनिलीनमानसाः
पुरा बभूवुः सुलभादियोषितः ॥१९॥

उस समय सुलभा, गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, घोषा, अपाता सूर्या आदि देवियाँ पवित्र वेदों के रहस्य को समझती थीं। परिषदों में धुरन्धर पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ किया करती थीं। उनका मानसहंस निरञ्जन ब्रह्ममें निमग्न रहता था ॥ १९ ॥

गृहश्रियः श्रीपतिदेवभक्तयः
सदा प्रजामंगलमूर्तयः स्त्रियः ।
स्वराष्ट्रधर्मोदयसिद्धिमातरो
दयार्द्रचित्ता गृहनीतिचन्द्रिकाः ॥२०॥

स्त्रियाँ घर की लक्ष्मी थीं, अपने पतियों पर देवतुल्य भक्ति रखती थीं, प्रजा के लिये साक्षात् मंगलकारिणी देवी थीं। अपने राष्ट्र और धर्म के अभ्युदय के लिये प्रत्यक्ष मूर्तिमती सिद्धि थीं। उनका हृदय कोमल था। वे चन्द्रमा के समान गृहनीति की प्रकाशिका थीं ॥ २० ॥

कृपादरिद्रोग्रकृपाणपाणयः
प्रचण्डकोदण्डविमुक्तमार्गणाः ।
अरातिदन्तीन्द्रमृगाधिपाङ्गना –
रणे विरेजू रणचण्डपण्डिताः ॥२१॥

भारत की क्षत्राणियाँ रणाङ्गण में रणचण्डिका के रूपमें चमका करती थीं। उनके हाथों में सर्पिणीतुल्य लपलपाती तलवारें रहती थीं, और कंधों पर धनुष और बाण लटका करते थे, जिन्हें वे अवसरों पर छोड़ा करती थीं, और शत्रुरूप गजराजों पर सिंहनी के समान टूट पडतीं थीं ॥ २१ ॥

स्वराज्यसंचालनकर्मशिक्षिता –
नरेन्द्रकन्या रणयज्ञदीक्षिताः ।
अनेकविद्यासुकलाभिमण्डिता –
अमण्डयन्नार्यमहीं महीयसीम् ॥२२॥

यहाँ की राजकन्यायें चतुराईसे अपना राज्य संचालन कर सकती थीं। समय पड़ने पर बड़े २ रणयज्ञ भी रचा करती थीं। वे अनेक विद्या और कलाओं को जानती थीं, जिससे भारतमाता का मुखचन्द्र चमकता था ॥ २२ ॥

रवीन्दुवंशोद्भववीरबालकाः
स्ववीर्यविस्मापितदेवदानवाः ।
लवाभिमन्युप्रमुखा बलीश्वरा –
यशोमृगाङ्कैर्व्यधुरुज्ज्वलामिलाम् ॥२३॥

सूर्यवंश और चन्द्रवंश में लव और अभिमन्यु जैसे बलशाली वीर बालक हुआ करते थे, जिनके अमित शौर्य को देखकर देव और दानव भी दातों तले अँगुली दबाते थे। इन बालकों के सुन्दर चरित्र–चन्द्र की छटा भूमण्डल में छिटक रही थी ॥ २३ ॥

विशिष्टविद्याविनयादिसद्गुणै –
रलंकृतान् स्नातकविप्रवर्णिनः ।
अपूपुजन् संसदि नम्रमौलयो
महाप्रतापाःपृथिवीश्वरा हृदा ॥२४॥

उस समय के स्नातक श्रेष्ठ विद्या, विनय आदि सद्गुणों से अलंकृत थे। महाप्रतापी नृपगण उन स्नातकों का भक्ति से शिर नवा कर सभाओं में सत्कार करते थे ॥ २४ ॥

दयामयान्तःकरणास्तपोधनाः
शमान्वितास्सात्विकवृत्तयोऽमलाः।
अमी क्षमादर्शवरा इवाबभु –
र्द्विजेश्वरा ब्रह्मसुवर्चसोज्ज्वलाः ॥२५॥

ब्राह्मणों का तप ही धन था, उनका अन्तःकरण दया से सम्पूर्ण भरा था। शम, दम, तितिक्षा आदि सात्विक गुणों से उनकी वृत्तियाँ निर्मल थीं। क्षमा के तो मानों वे आदर्श ही थे। उनके मुखमण्डल पर ब्रह्मवर्चस तेज की झलक थी ॥ २५ ॥

प्रजामनोरंजनतत्परा नृपाः
प्रजा इव स्वाः प्रकृतीर्नयेन ये ।

अपालयन् पावनधर्ममूर्त्तयो-
जितेन्द्रियाः संचितशीलसंपदः ॥२६॥

प्राचीन भारत के सम्राट् जितेन्द्रिय होते थे। वे आचार, विचार, शील आदि गुणों के धनी थे। वे मानों पवित्र धर्म की मूर्ति ही थे। धर्मानुसार प्रजापर पुत्रतुल्य प्रेमदृष्टि रखते थे, इसलिये उनका पालन करते हुए उनके मनोरंजन का भी ख्याल रखते थे ॥२६॥

सुशिल्पवाणिज्यविशालकर्मणा
दिगन्तसम्पादितभूरिसंपदा ।
परोपकारव्ययितार्थराशिना
व्यभूषि वृन्देन विशां वसुन्धरा ॥२७॥

आर्यभूमि ऐसे वणिक् वर्ण से विभूषित थी, जो सुंदर गृह उद्योग, बडे २ कारखाने और विशाल व्यापार द्वारा देशदेशान्तरों से धनराशि खेंच लाते थे, और उसको परोपकार कार्य में खर्च भी कर देते थे ॥ २७ ॥

वरेण्यवर्णत्रययोग्यसेवया
पवित्रयन्तो निजमानवं वपुः ।
पुरार्यसंस्कारमणिप्रभारते
रराजिरे शूद्रवराः स्वभारते ॥२८॥

अहा! अपना पुरातन भारत आर्यसंस्कारों की दिव्यप्रभा से आलोकित हो रहा था। उस समय के शूद्र भी तीनों श्रेष्ठ वर्णों की योग्य सेवासे मानवजीवन को पवित्र करते हुए धन्य धन्य हो रहे थे ॥ २८ ॥

स्वसत्यचर्याव्रतमंगलावने
नृपा हरिश्चन्द्रनिभा इहावनौ ।
विशालमैश्वर्यमपि प्रदाय ते
प्रहर्षतः कष्टमपि प्रसेहिरे ॥२९॥

अपने सत्यव्रत के पालनार्थ हँसते हुए विशाल साम्राज्य को भी त्याग करके, प्रसन्नतापूर्वक कष्टों को सहने वाले राजा हरिश्चन्द्र जैसे भी तो इसी भारतमही पर पैदा हुए थे ॥ २९ ॥

परोपकारप्रवणाः प्रजेश्वराः
प्रजाहितार्थं वसुसौख्यसुन्दरान् ।
मनोज्ञभोगान् रमणीविलासजान्
स्वजीवनञ्चापि तृणाय मेनिरे ॥३०॥

अपने देशमें प्रजापालक नृपतिगण बडे ही परोपकारी हुआ करते थे। वे प्रजाहित के लिये ऐश्वर्य सुख, सुन्दर भोगविलास तथा स्त्रीसुख को भी त्याग देते थे, और अधिक क्या वे अपने जीवन को भी होम देते थे ॥ ३० ॥

दिनेन्द्रतेजा भृगुनन्दनो मुनि-
र्महीं महिम्ना परशोर्बलेन यः ।
अनेकवारं विदधे विराजकां
समग्रमायुर्व्रतिराज एव सः ॥३१॥

सूर्य के समान तेजस्वी भृगु के पुत्र परशुराम आजीवन कठोर ब्रह्मचारी रहे थे। इन्होंने अपने अतुल तेजसे केवल कुठार से ही सम्पूर्ण पृथ्वीमंडलको अनेकवार निर्वीर्यसा कर दिया था ॥ ३१ ॥

प्रभंजनप्राणसमाञ्जनासुतो-
जगत्त्रयख्यातचरित्रविक्रमः ।
रघूत्तमादर्शसुभक्तपुङ्गवो-
रराज धीमान् हनुमान् व्रतीश्वरः ॥३२॥

वायु के पुत्र अंजनानन्दवर्धन श्री हनुमान् का विक्रम और चरित्र विश्वविश्रुत था। ये बुद्धिमान् मरुत्पुत्र रघुकुलतिलक रामचन्द्र के आदर्श भक्त थे। ये भी अखण्ड ब्रह्मचारी थे ॥ ३२ ॥

अखण्डचारित्र्यपवित्रितान्वयः
पितुर्विदित्वा जनतो मनोऽव्यथाम् ।
चकार संधां व्रतितां निषेवितुं
स भीषणां भीष्मपितामहो महान् ॥३३॥

महाभारत काल में एक और तीसरे महान् आदित्य ब्रह्मचारी भीष्मपितामह हुए थे, जिन्होंने लोगों से अपने पिताकी मानसिक व्यथा जानकर आमरण ब्रह्मचर्य-व्रत-पालन की भीष्म (भीषण) प्रतिज्ञा की थी, इसीलिये लोग इन्हें भीष्म भी कहने लगे थे। इस महात्माने अपने उज्वल चरित्र से चन्द्रवंश को पवित्र कर दिया था ॥ ३३ ॥

तनौ तनौ वीर्यनिरोधसंभवा
व्यराजताभा मनुजन्मदेहिनाम् ।
मुखे मुखे रम्यकलेन्दुसन्निभा
मनोरमा सुन्दरता प्रसन्नता ॥३४॥

एक एक भारतवासी के दिव्यदेह पर ब्रह्मचर्य की अलौकिक कान्ति छा रही थी, आज की तरह उनके मुखों पर मुर्दनी छाई नहीं रहती थी, किन्तु प्रत्येक के मुखमण्डल पर पूर्णचन्द्र की सी मनोहर सुन्दरता और प्रसन्नता टपक रही थी ॥ ३४ ॥

न कुम्भिलो नो कृपणो न मद्यपो –
न यज्ञहीनो न बुधेतरो नरः ।
न मेऽस्ति राज्ये व्यभिचारिनिर्षयः
कुतस्तदा स्त्री व्यभिचारिणी भवेत् ॥३५॥

इति स्वराज्ये समुपेयुषो मुदा
महर्षिसंघानवदत् प्रतिज्ञया ।
स केकयेशोऽश्वपतिः सदग्रणीः
प्रजामनोमन्दिरवन्द्यदेवता ॥३६॥

उपनिषत्काल में केकय देश में अश्वपति नाम के एक राजा थे, जिन्हें प्रजा अपने हृदयमंदिर की देवता मानती थी, ये बडे ही सद्गुणी थे। एक वार इन के यहाँ महर्षियों की एक मण्डली जा निकली। इस मण्डली के स्वागतार्थ महाराजा स्वयं ही आगेवानी करने पधारे। महर्षियों को राजाने अपने महल में पधारकर भोजन करने की प्रार्थना की, परन्तु महर्षियोंने राजअन्न खाने से निषेध कर दिया। ऐसे समय में महाराज अश्वपति प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि, हे ऋषियो। मेरे देश में चोर, कृपण, मद्यपी, यज्ञहीन, मूर्ख, व्यभिचारी पुरुष ही नहीं है, तो स्त्रियाँ तो व्यभिचारिणी कहाँ से होंगी? राजा के यह कहने पर ऋषियों ने प्रसन्नतापूर्वक महाराजा का निमन्त्रण स्वीकार किया ॥ ३५, ३६॥

पितुर्वचः पालयितुं वनं गते
रघूत्तमे श्रीभरतो नृपश्रियम् ।
प्रदातुकामो द्रुतमेत्य सोऽग्रजं
न्यवीविदत्तद्ग्रहणाय साञ्जलिः ॥३७॥

न्यषेधि लक्ष्मीर्भरताग्रजेन सा
न चाग्रजस्नेहवतैष्यतामुना ।
तृणाय लक्ष्मीमिह मन्यमानयो -
र्न लभ्यमेतर्हि निदर्शनं ध्रुवम् ॥३८॥

रामायण के राम और भरतजी का नमूना तो आज संसार में ढूँढे भी नहीं मिलता, जब पिता की आज्ञा पालने के लिये श्रीरामचन्द्रजी चित्रकूट के जंगलों में जाकर रहने लगे, तब भरतजी ने अपने को मिली हुई राजलक्ष्मी श्री रामचन्द्रजी को समर्पण करने के लिये जल्दी उनके पास पहुँच कर फिरसे राज्यसिंहासन पर बैठने के लिये साञ्जलि प्रार्थना की, परन्तु रामचन्द्र जी ने तो एकदम निषेध कर दिया। इधर भरत जी ने भ्रातृस्नेह के कारण राज्य को ठोकर मार दी। देखा! प्राचीन महाकौशल का विशाल साम्राज्य पादकन्दुक (फुटबॉल) की तरह इधर से उधर ठुकराया गया ॥ ३७-३८ ॥

पतञ्जलिव्यासकणादजैमिनि -
प्रमाणसांख्यागमकृन्मुनीश्वराः ।

स्वयं प्रणीतैरतुलैर्नु दर्शनै -
न्यदर्शयन्निर्मलबुद्धिवैभवम् ॥३९॥

सूत्रकाल के महान् दर्शनकार गौतम, कपिल, कणाद, व्यास, जैमिनि और पतञ्जलि जैसे ऋषियोंने षड्दर्शनों की रचना द्वारा अपनी निर्मल बुद्धिका ऐसा अक्षुण्ण प्रभाव विद्वज्जगत् पर जमाया, जिसका दृष्टान्त उन के अतिरिक्त और कोई है ही नहीं ॥३९॥

महेश्वरज्ञानदिवाकरप्रभा-
प्रभासितान्तःकरणा महर्षयः ।
मनुष्यकल्याणधिया धियोज्ज्वलान्
मनोरमान् ग्रन्थमणीन् प्रणिन्यिरे ॥४०॥

पुराने ऋषियों के पवित्र अंतःकरण में ईश्वरीय ज्ञान की दिव्य ज्योति निरंतर जगमगाया करती थी, इसी लिये इन्हों ने अपनी निर्मल बुद्धि से मनुष्य कल्याण की कामना के वशीभूत होकर अनेक ग्रन्थरत्नों की रचना की ॥ ४० ॥

गुणोत्तमानन्दितविज्ञमानसै-
र्यदीयनानागमकाव्यवाङ्मयैः ।
वयं विबोद्धुं प्रभवोऽधुना परां
पुरातनार्यावनिलोकसभ्यताम् ॥४१॥

इन्हीं ऋषिमुनियों में से अनेकों ने काव्य, अलंकार, छन्द, नाट्यशास्त्र, वैद्यक, वास्तुशास्त्र एवं अर्थशास्त्र आदि की रचना द्वारा वाङ्मय के सहृदय रसिकों को आनन्द-विभोर कर दिया था। इन्हीं महान् आत्माओं के रचे ग्रन्थों द्वारा संसार के भिन्न २ भागों में पुरातन आर्य सभ्यता का प्रसार हुआ ॥ ४१ ॥

अनेकदृष्टान्तसुवर्णसुन्दरं
य एवमादर्शसुचित्रमालिखत् ।
नृचित्तभित्तावतुलार्यसंस्कृते-
रहो दयानन्दयतिर्जयत्यसौ ॥४२॥

इस प्रकार उपर्युक्त अनेक दृष्टांत, उदाहरण, आख्यायिका, प्रमाण आदि द्वारा यतिवर दयानन्द ने भारतवासियों के हृदयरूपी भीत पर अद्वितीय आर्यसंस्कृति का सुनहरा आदर्श चित्र खेंचा। आज इन्हीं ऋषिवर का चारों ओर जयजयकार हो रहा है ॥ ४२ ॥

सदोवनान्ते प्रतिवादिदन्तिनो-
भयंकरौङ्कारनिनादगर्जितम् ।
मृगेश्वरस्येव मुनीश्वरस्य तं
निशम्य संशिश्रियिरे दिशो द्रुतम् ॥४३॥

जैसे जंगल में मृगराज की गर्जना से सियार से लेकर गजराजतक छोटे मोटे पशुगण अपनी २ गुफाओं में भागकर छिप जाते हैं, वैसे ही इस प्रतिवादिभयंकर मुनीश्वर का ओंकार नाद सुनकर मतमतान्तरवादिदिग्गज पण्डित भी भाग खडे होते थे ॥ ४३ ॥

प्रमाणनिस्त्रिंशसुतर्कसायकैः
सभारणे तान् प्रतिपक्षिपण्डितान् ।
अधर्मवर्मावृतगात्रमण्डलान्
बिभेद यः शास्त्रिमहारथो भटान् ॥४४॥

जैसे समरांगण में युद्धकलानिपुण सेनापति कवचधारी शत्रुसैन्य के गात्रों को अपने पैने शस्त्रों से छेद कर देता है, वैसे ही शास्त्रार्थ महारथी दयानन्द, धर्मध्वजी संत-महन्तों की मण्डलियों को प्रबल प्रमाण और तर्क से परास्त कर देते थे ॥ ४४ ॥

यदीयतेजोरविणा विकाशिता-
मनोज्ञवेदागमवृक्षवाटिका ।
सतां हृदाशा महिलापिकस्वराः
कवीन्द्रकाव्यप्रतिभासरोजिनी ॥४५॥

इसी ऋषि के तेजरूपी सूर्य ने वेदशास्त्रों के विशाल उद्यान विकसित किये, सत्पुरुषों के हृदय की आशारूपी दिशाओं को आलोकित किया, महिलासमाज रूपी कोकिलागण को बोलने के लिये मधुर कण्ठ प्रदान किया, और कवियों की काव्यप्रतिभारूप कमलिनी को खिलाया ॥ ४५ ॥

षडङ्गवेदाब्ध्यवगाहसंस्कृता
सरस्वती यद्रसनाग्रनर्त्तकी ।
प्रसन्नवर्णा सगुणा श्रुतिप्रिया
मनोहराऽभान्नितरां द्विषामपि ॥४६॥

ये सांगोपांग वेद के महान् पण्डित थे । इनकी जिह्वा पर मानों, सुन्दर वर्णोंवाली (वर्ण=अक्षर) ओजप्रसादादिगुणवती, श्रुतिमधुरा, साक्षात् सरस्वती ही नाचा करती थी, जो शत्रुओंको भी मोहित करती थी ॥ ४६ ॥

स यन्महिम्ना महिलाजनः पुनः
स्ववेदविद्याध्ययनाधिकारवान् ।
सुमन्त्रशिक्षामुपवीतदीक्षया
प्रपद्य भेजे निजगौरवश्रियम् ॥४७॥

इसी ऋषिने स्त्रियों को उपनयन तथा वेदाध्ययन का सम्पूर्ण अधिकार प्रदान किया, और फिर से प्राचीन काल की तरह मातृ-समाज को उसके गौरव पद पर पहुँचा दिया ॥ ४७ ॥

स शूद्रवर्णोऽपि मनुष्यभावतः
स्वजन्मसिद्धाधिकृतिं प्रलम्भितः ।
पवित्रवेदामृतपानदानतः
कृतार्थितो यस्य सुशास्त्रयुक्तितः ॥४८॥

शूद्रों का भी मनुष्योचित अधिकार इन्हों ने शास्त्र, प्रमाण और युक्तियों से सिद्ध कर दिखाया, जिससे ये भी पवित्र वेदामृत के पान से अपने जन्म को सफल करने लगे ॥ ४८ ॥

मुखाम्बुजब्राह्ममहो महोज्ज्वलं
रवेरिवालं न दिवान्धमानवाः ।
निरीक्षितुं यस्य विशालवक्षसो -
निलिल्यिरे तद्गृहकन्दरेषु ते ॥४९॥

जैसे उल्लू सूर्य के प्रकाश को न सहकर गुफाओं में जा छिपते हैं, वैसे ही पापी जन इस ऋषि के ब्रह्मवर्चस युक्त मुखमण्डल तथा विशाल वक्षस्थल को देख कर घरों में घुस जाते थे ॥ ४९ ॥

मोहाब्धिमग्नजनतातरणिं विपत्ते-
रुद्धर्तुमिच्छुरजहान्निजमुक्तिसौख्यम् ।
यो ध्यानदृष्टपरमेश्वरलाभतुष्ट-
स्तस्यास्तु पुण्यचरितं जगतो हितार्थम् ॥५०॥

मोहरूपी समुद्रमें मग्न जनतारूपी नौका को विपत्तियों से बचाने की इच्छा से जिन्हों ने अपने मुक्ति सुख को त्याग दिया, और जो निरन्तर समाधि में परमेश्वर के दर्शनों से ही प्रसन्न रहते थे, ऐसे इस महापुरुष का चरित्र जगत् के कल्याण के लिये हो ॥ ५० ॥

संसारेऽस्मिन् विलसतु पुन-
र्भव्यवेदांशुमाली
संस्काराणां भवतु महतां
पावनानां प्रचारः ।
लोकस्वान्ते सकलसुखदा
स्यन्दतां स्नेहधारा
दिव्यानन्दे मनुजहृदयं
लीयतां ब्रह्मणीदम् ॥५१॥

इस संसार में फिरसे वेद सूर्य का कल्याणकारी प्रकाश फैल जाय, पवित्र वैदिक संस्कारों का आर्यप्रजा में प्रचार हो, लोगों के अन्तःकरणों में सकलमंगलदायिनी प्रेमधारा बहे, और प्रत्येक मनुष्य का हृदय ब्रह्मानन्द नद में डूब जाय ॥ ५१ ॥

**इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य वटोदरार्यकन्या-
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये पुरातन-
भारतगौरववर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ।**

द्वितीयः सर्गः
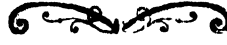
हिमाद्रिविन्ध्याचललालिताभि-
नेदीभिरामण्डितभूमिखण्डा ।
स्वपूर्वजानन्तयशःशशाङ्कैः
शुक्लीकृता भारतभूश्चकास्ति ॥१॥

संसार के ऊँचे से ऊंचे शैलेन्द्र हिमालय और विन्ध्याचल जैसे पर्वतराजों से और गंगा यमुना, सरस्वती, गोदावरी आदि नदियों से भारत-माता के सारे प्रदेश सुशोभित हैं। यह अपने वीर, विद्वान्, सदाचारी, ऋषि मुनि तथा विजेताओं की यशश्चन्द्रिका से प्रकाशित हो रही है ॥ १ ॥

महार्हरत्नोदयशैलराजौ
महाम्बुधी तुङ्गतरङ्गहस्तैः ।
आनीय मालां मणिमौक्तिकानां
यस्या ददाते चरणारविन्दे ॥२॥

अनेक मूल्यवान् रत्नों को उत्पन्न करने वाले हिन्दमहासागर तथा अरबसमुद्र विशाल तरंगरूपी हाथों से मोतियों की माला ला ला कर इस माता के चरणारविन्द पर अर्पण किया करते हैं ॥ २ ॥

फलद्रुमालंकृतसस्यदेशा
नानाविहंगारवगुञ्जिताशा ।
सर्वर्तुशर्मप्रदवायुतोया
सर्वांशतो या सुरलोकसेव्या ॥३॥

यह भारतमाता फलफूल के वृक्षों से और अनाज के लहलहाते खेतों से सर्वदा हरी भरी रहती है । इस में तरह तरह के पक्षी भी हैं, जिन के मधुर कलरव से दिशायें शब्दायमान रहती हैं । इसका जलवायु प्रत्येक ऋतु में सुखदायक है, फलतः यह देवताओं के योग्य है ॥ ३ ॥

वीरैकभोग्या शुभयज्ञयोग्या
पुण्यात्मनां कल्पतरूपमेया ।
निश्रेयसस्वभ्युदयोपलब्धौ
सहायिका या सहधर्मिणीव ॥४॥

इसका उपभोग वीर ही कर सकते हैं, यज्ञ के लिये यह प्रशस्त भूमि है, पवित्र आत्मा के लिये यह कल्पवृक्ष सी है । सांसारिक सुख और मोक्ष प्राप्ति में यह अर्धाङ्गिनी की तरह सहायता देती है ॥ ४ ॥

प्रकाशिका वेदरविप्रभाणां
प्रभातवेलेव मुनीन्द्रवन्द्या ।
विद्याकलारत्नखनिर्वरेण्या
गुरुस्थली याखिललोककाम्या ॥५॥

वेदरूपीसूर्य की यह भारतमाता प्रकाशिका है, इसीलिये उषा की तरह मुनिवरों से यह वन्दनीय है । विद्या, कला आदि की तो यह खान ही है । सबसे पहले शिक्षा से संसार को इसीने शिक्षित किया था, अतः गुरुभूमि होने से यह सब के लिये माननीय है ॥ ५ ॥

हिमालयो रम्यमहीरुहाणां
शाखाकराग्रैर्दलसम्पुटेषु ।
आदाय देव्यै सुफलोपहारान्
यस्यै सदा सेवकवत् प्रदत्ते ॥६॥

इस भारतमाता के लिये पर्वतराज हिमालय सुन्दर वृक्षोंकी शाखारूपी हाथों से पत्तों के दोनों में हमेशा मीठे फलों की भेंट लेकर सेवकतुल्य उपस्थित रहता है ॥ ६ ॥

षण्णामृतूनां रमणीयरूपै-
रुपस्थिता भारतरंगमंचे ।
स्फुरद्विलासा प्रकृति नंटीयम्
यस्या मनो नन्दयति प्रकामम् ॥७॥

भारत के रंगमंच पर प्रकृति नटी समय समय पर छ ऋतुओं के सुन्दर रूपों को धारण कर उपस्थित होती है, और इस माता को अपने सुन्दर विलासों से खूब प्रसन्न करती रहती है ॥ ७ ॥

यशोबलाभ्यां सितचामराभ्यां
साम्राज्यलक्ष्मीस्सह शान्तिदेव्या ।
धर्मातपत्रां नयदण्डहस्तां
यां पुण्यभूमिं सुचिरं सिषेवे ॥८॥

साम्राज्य-लक्ष्मी शान्तिदेवी के साथ, यश और बलरूपी श्वेतचामरों को लेकर धर्म-छत्र और नीति-दण्ड को धारण करने वाली इस भारतमाता की हजारों वर्षों तक सेवा करती रही ॥ ८ ॥

अयोनिभा अन्यदरिद्रदेशा-
यां रत्नधां स्पर्शमणिस्वरूपाम् ।
संस्पृश्य जातास्तपनीयतुल्या
सुवर्णचित्रां रुचिरार्थशोभाम् ॥९॥

यह भारतमाता सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना, नीलम आदि अनेक धातुरत्नों से सुशोभित है। सचमुच यह पारसमणि ही है, इसके संसर्ग से दुनिया के अन्य लोह-तुल्य दरिद्र देश स्वर्णमय बन गये ॥ ९ ॥

एकेश्वरोपासनमात्मनीनं
विहाय वेदप्रतिकूलरीत्या ।

स्वशेमुषीकल्पितमूर्त्तिपूजा-
मारेभिरे कर्तुमिहार्यलोकाः ॥१०॥

आर्यों ने एक ईश्वर की कल्याणकारिणी उपासना को छोडकर, वेदविरुद्ध, स्वक-पोल-कल्पित मूर्तिपूजा करनी प्रारम्भ कर दी थी ॥ १० ॥

लोकोपकारक्षमयज्ञकार्ये
कुक्षिंभरिब्राह्मणबन्धुसंघाः ।
निर्दोषसत्वान् मनुजाँश्च हत्वा
वह्नावहौषुः श्रुतिमन्त्रपूते ॥११॥

पेटू ब्राह्मण लोकोपकारक यज्ञकार्यों में भी बिचारे निर्दोष प्राणियों को ही नहीं, किन्तु मनुष्य तक को भी वेदमन्त्रों द्वारा पवित्र अग्नि में होम देते थे ॥ ११ ॥

दम्भेन गौरीशिवयोर्मदान्धा-
निपीय हालां महिलासहायाः ।
समाचरन्निन्दितकर्म मात्रा
पुत्र्या भगिन्याऽपि च वामशीलाः ॥१२॥

शिव और पार्वती के नाम पर मदान्ध वाममार्गी लोग शराब पीकर स्त्रियों के साथ (बहिन, पुत्री और मातातक से भी) निन्दिताचरण करने लगे ॥ १२ ॥

अनेकदोषाकरमूर्तिपूजा-
मिथ्याप्रभावै र्निगृहीतचित्ताः ।
मूढा महीपालगणाः स्वशत्रो-
र्देवालयाँस्त्रातुमलं न पूज्यान् ॥१३॥

अनेक दोषों की खान मूर्त्तिपूजा के झूठे प्रभाव से वशीभूत होकर, किंकर्तव्यमूढ राजागण शत्रुओं से अपने पूज्य देवालयों की रक्षा न कर सके ॥ १३ ॥

नहोपकर्त्रोर्निजवन्द्यपित्रोः
प्रज्ञानदानां विदुषां गुरूणाम् ।
बुधातिथीनाञ्च विहाय पूजां
जडार्चनायां निरताऽऽर्यजातिः ॥१४॥

आर्यजाति महान् उपकारी, वन्दनीय, मातापिता, विद्वान् गुरु, ज्ञानी अतिथियों का सत्कार करना छोडकर जडपूजा में लग गई ॥ १४ ॥

पत्नी कथं श्रीपतिदेवभक्तिं
कुर्यान्न भर्ता यदि तत्सपर्याम् ।
अन्योन्यसत्कारविनाशहेतो
र्न सन्ततिः सद्गुणसंस्कृता स्यात् ॥१५॥

यदि पति अपनी पत्नी को सम्मानपूर्णदृष्टि से न देखे, तो पत्नी भी अपने पतिदेव की भक्ति कैसे कर सकती है । एक दूसरेपर प्रेम न रहने से सद्गुणी संस्कारी संतान भी कैसे हों ? ॥ १५ ॥

धर्मोपदेशेन मतान्तराणां
प्रकल्पनां किल्विषकारिधूर्त्तैः ।
विधाय वित्ताहरणाय नूनं
कृतानि देवार्चनमन्दिराणि ॥१६॥

धर्म के बहाने पापी धूर्तों ने मिथ्या मतमतान्तरों की रचना की । सचमुच धन अपहरण करने के लिये ही इन धूर्तों ने मंदिरों में मूर्तिपूजा शुरु की ॥ १६ ॥

मृगं यथेहामृग आखुमोतु-
र्यथा खगं श्येन इवैष कह्वः ।
मीनं यथा दाम्भिकपूजकोऽसौ
जग्राह जाले रमणीमणिं नु ॥१७॥

जैसे भेड़िया हिरन को, बिल्ली चूहे को, बाज पक्षी को, और बगुला मछली को अपनी जालमें फंसा लेता है, वैसे ही इन धर्मध्वजी पुजारियों ने रमणीरत्नों को फँसाना आरम्भ किया ॥ १७ ॥

अनेकपत्नीः परिणीय कम्रो-
यूनां गणो भारतवंशजातः ।
भोगातिसंगात्स्वरगादकाण्डे
निपात्य भार्या विरहाग्निकुण्डे ॥१८॥

भारतीय युवक कामी होकर अनेक पत्नियों से विवाह करने लगे; अत्यन्त विषयोपभोग के कारण वे युवक अकाल में ही कालकवलित होने लगे, और अपनी स्त्रियों को वैधव्य के अग्निकुण्ड में डालने लगे ॥ १८ ॥

अतृप्तचित्ता विषयोपभोगैः
स्वच्छन्दगास्ता विधवा विविक्ते ।
तीर्थस्थले देवगृहे मठे वा
शठैर्मठानां व्यभिचेरुरीशैः ॥१९॥

सांसारिक वासनाओं से तृप्ति न होने के कारण, ये विधवाएँ उच्छृंखल होकर, एकान्त में, तीर्थों में, मंदिरों में, और मठों में, धूर्त मठाधीशों के साथ लीला करने लगीं ॥ १९ ॥

श्रद्धालुभिर्मूढजनैः स्वकन्या-
देवालये देववराय दत्ताः ।
श्रीदेवदास्यः कृतगीतलास्या-
बलादभुज्यन्त विटैरजस्रम् ॥२०॥

श्रद्धालु मूढ लोग अपनी कन्याओं को मन्दिरों में देवों को भेंट चढाने लगे, इस से मूर्तियों के आगे नाचगान करनेवाली देवदासियों की प्रथा शुरु हुई। इन देवदासियों पर ये धूर्त पुजारी बलात्कार करने लगे ॥ २० ॥

परात्मकल्याणधनप्रसूतिं
विहाय दैवीं विमलां प्रवृत्तिम् ।
जना महाक्लेशदयोनिहेतुं
तमोमयीं वृत्तिमशिश्रियँस्ते ॥२१॥

अपने और परायों के लिये कल्याण–सम्पदा उत्पन्न करनेवाली विमल दैवी प्रवृत्ति से लोग विमुख होने लगे, और महान् क्लेशदायक, तमोगुणमयी वृत्तियों का आश्रय लेने लगे ॥ २१ ॥

रूढिं गताऽनर्थकरी कुरीति-
निशाचरीवार्यजने चरिष्णुः ।
भद्रान्मनुष्यानपि पीडयन्ती
स्वराज्यमस्थापयदज्ञवृन्दे ॥२२॥

अनर्थकारिणी कुरीति और कुरूढिरूपी निशाचरी आर्य लोगों में बिचरने लगी । इस से भद्र मनुष्यों को कष्ट होने लगा, क्योंकि इस कुरूढिने अज्ञानियों में मानों अपना साम्राज्य ही स्थापित कर लिया था ॥ २२ ॥

अचेतने वारि तरौ कृशानौ
समीरणे ग्रावणि तिग्मभानौ ।
प्रेते च मर्त्ये मतिहीनजन्तौ
देवत्वबुद्ध्या मनुजा विनष्टाः ॥२३॥

पानी, वृक्ष, अग्नि, वायु, पत्थर, सूर्य आदि जड पदार्थों एवं भूत, प्रेत, कब्र तथा बुद्धिहीन पशुओं की पूजा से मनुष्य नष्ट हो गये ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरानन्तरमार्यजातेः
साम्राज्यसूर्योऽम्बरमध्यदेशात् ।

दुर्दैवतः क्षीणमहाः क्रमेण
प्रारब्ध गन्तुं हरितं प्रतीचीम् ॥२४॥

महाराज युधिष्ठिर के बाद दुर्भाग्य से धीरे २ प्रचण्ड साम्राज्य सूर्य क्षीणतेजस्क होते हुए पश्चिम की ओर ही ढलता गया ॥ २४ ॥

भूखण्डपिण्डस्य कृते कृतघ्नै-
र्वैरायमाणै र्जयचन्द्रतुल्यैः ।
आच्छिद्य राज्यं निजबन्धुहस्तात्
पाणौ प्रदत्तं यवनेश्वराणाम् ॥२५॥

जमीन के टुकड़े के लिये कृतघ्न जयचंद जैसे राजाओं ने अपने बन्धुओं से वैर करके, उन के हाथ से राजपाट छीनकर मुसलमान बादशाहों को सौंप दिया ॥ २५ ॥

ऐश्वर्यसंजातविलासितायां
पञ्चेन्द्रियाणां विषयातिसंगात् ।
प्रमादमद्यं परिपीय भूपा-
राज्येन साकं यशसाऽपि हीनाः ॥२६॥

सब राजा ऐश्वर्यजन्य भोगविलास में फँस चुके थे । रातदिन इन्द्रियों को तृप्त करने में लालायित रहते थे, और मानों प्रमादरूपी मदिरा पीकर राज्यरहित होने के साथ ही यश भी गँवा बैठे थे ॥ २६ ॥

परस्परेर्ष्येन्धनघर्षणोत्थ-
द्वेषाग्निदग्धामलहार्दभावैः ।
मदान्धधीभिर्यवनाधिपाना-
मंगीकृता किङ्करता नरेन्द्रैः ॥२७॥

जैसे लकड़ियों के परस्पर संघर्ष से अग्नि सुलग जाती है, और उसी अग्नि से जंगल साफ हो जाता है, वैसे ही राजाओं के परस्पर ईर्ष्या द्वेषादि के कारण एक दूसरे

के प्रति विमल प्रेम नष्ट हो चुका था। इसी लिये इन्हों ने भ्रष्टबुद्धि होकर मुसलमान बादशाहों की दासता स्वीकार कर ली ॥ २७ ॥

मेवाडराष्ट्रावनिराजहंसः
क्षत्रावतंसो रविवंशदीपः ।
प्रतापशाली समभूत् प्रतापः
स्वातन्त्र्यसिद्धयै सहितातितापः ॥२८॥

क्षत्रियों के ऐसे घोर पतन कालमें भी मेवाड माता की कोख से क्षत्रियकुलभूषण, रविकुलदीपक, प्रतापशाली, महाराणा प्रतापसिंह उत्पन्न हुए जिन्हों ने स्वतंत्रता देवी की रक्षा के लिये विपत्ति की पराकाष्ठा को भी सहन किया ॥ २८ ॥

अकब्बराख्यो यवनाधिराजो
वशंवदं यं प्रविधातुमैच्छत् ।
छलैर्वने भिल्लसखं भ्रमन्तं
तथापि निघ्नो न हि तस्य जातः ॥२९॥

भीलों के साथ जंगलों मे भटकनेवाले इस प्रणपालक प्रताप को बहुत बड़े मुसलमान सम्राट् अकबरने अपने अधीन अनेक छलबलसे करना चाहा। किन्तु ये वीर उस के वश में नहीं हीं हुए ॥ २९ ॥

आपञ्चविंशाब्दमयं वनान्ते
सापत्यभार्यः सहमान आर्यः ।
अनन्तकष्टं न जहौ स्वधैर्यम्
प्रवातनिष्कम्प इवाचलेन्द्रः ॥३०॥

पचीस २ वर्षों तक निरन्तर महाराणी और राजकुमारों को साथ लेकर टेक के धनी इस प्रतापी प्रतापने असह्य कष्टों को सहन किया, परन्तु प्रलयकारी आँधी में जैसे हिमालय अपने स्थान से नहीं डिगता; वैसे यह शूरशिरोमणि अपने प्रणसे किञ्चिन्मात्र भी न हटा ॥ ३० ॥

दुःशासनान्मोगलवंशजानां
दिल्लीश्वराणां छलनापराणाम् ।
यज्ञोपवीताहरणं द्विजानां
कन्यापहारः परितः प्रवृत्तः ॥३१॥

भारतवर्ष में उस समय मुसलमान बादशाहों ने खूब छलकपट से शासन किया। हिन्दुओं को विधर्मी बनाने के लिये इन मुगलों ने यज्ञोपवीत उतरवाये और हिन्दुओं की कन्याओं को वे लूटने लगे ॥ ३१ ॥

बाल्ये वयस्येव विवाहिता हा
द्विजैः स्वकन्या अतिकोमलांग्यः ।
नालं मुखाम्भोजमपावरीतुं
भयेन नार्यो रजनीचराणाम् ॥३२॥

हा खेद ! इस आर्य जाति की कोमलाङ्गिनी कुमारियाँ इन दुष्टों के भय से बाल्यकाल में ही व्याही जाने लगीं; और इन्हीं राक्षसों के भय से आर्य रमणियों में पर्दा प्रथा प्रारम्भ हुई ॥ ३२ ॥

महीसुराणामतुलं महस्तद्
राजन्यतेजोऽपि नितान्तनष्टम् ।
दशा विशां द्रव्यवतामवर्ण्या
क्षुद्रस्स शूद्रस्तु भयाद् रिपूणाम् ॥३३॥

ब्राह्मणों का ब्रह्मवर्चस तेज नष्ट हुआ। क्षत्रियों का क्षात्र तेज भी क्षीण हो गया। धनिक वैश्यों की दशा तो शोचनीय हो गई थी फिर बेचारे शूद्रों की तो बात ही क्या ? ॥ ३३ ?

संसर्गदोषात् पिशिताशनानां
मैरेयपानं मतिनाशनं तत् ।

दुरोदरं स्त्री मृगयातिसङ्गो
मांसाशनं चार्यजनेषु वृद्धम् ॥३४॥

इन मांसाहारी म्लेच्छों के संसर्ग दोष से आर्यों में बुद्धिनाशक मदिरापान, जुआ, वेश्यागमन, शिकार और मांसाहार के दोष खूब बढे ॥ ३४ ॥

आर्यापकर्षावधिचित्रदृश्यं
प्रहर्षभिद् भारतवर्षमेतद् ।
विलोक्य विश्वेश्वरमानसान्तात्
कारुण्यगंगाऽस्रवदच्छधारा ॥३५॥

भारतवर्ष में आर्यों की अवनति के विविध दृश्य दृष्टिगोचर होते थे, जिस से मनुष्य व्याकुल हो उठता था । ऐसे भयानक दृश्य को देखकर प्रभु के मानससरोवर से करुणा की पवित्र गंगा बह निकली ॥ ३५ ॥

धर्मान्धतायामुपलब्धकीर्त्तौ
महोग्रमूर्त्ताववरंगजीवे ।
गोवेदधर्मद्विजकर्मघातो-
वृद्धिं गतः शासति नः प्रदेशम् ॥३६॥

मुगल सम्राट् औरंगजेबने यदि किसी बात में कीर्त्ति प्राप्त की थी तो वह धर्मान्धता में । इस के साम्राज्य में गौ, ब्राह्मण तथा वैदिक धर्म का नाश किया जा रहा था । यह औरंगजेब क्रोध की मूर्त्ति था ॥ ३६ ॥

मोहम्मदानां मदमर्दनार्थं
गोवेदविप्रप्रतिपालनाय ।
तदा महाराष्ट्रमहीमहेन्द्रो-
जनिं गतः श्रीशिवराजवीरः ॥३७॥

ईश्वर की कृपा से उसी ही समय गोब्राह्मणप्रतिपालक महाराष्ट्रकेसरी शिवाजी महाराज पैदा हुए। इन्हों ने मुगलों का मदमर्दन किया, इस वीर ने गौ ब्राह्मण तथा हिन्दू धर्म की रक्षा की ॥ ३७ ॥

विनाश्य दिल्लीश्वरदुष्टनीतिं
सूत्रं पवित्रं शुभयज्ञलिङ्गम्।
शिखां शिरोभूषणमार्यचिह्नं
जुगोप यो गोप इहार्यधर्मम् ॥३८॥

और इसीने दिल्ली के बादशाह औरंगजेब की दुष्टनीति का दलन कर के आर्यों के शुभ यज्ञ के चिन्ह शिखा और सूत्र की रक्षा की ॥ ३८ ॥

स्वशौर्यसंत्रासितशत्रुसैन्यं
यं राज्यसंस्थापनलब्धकीर्तिम्।
कृपाणधाराजलधौतकाया
साम्राज्यलक्ष्मीः पुनरालिलिङ्ग ॥३९॥

इस वीरने अपनी शूरता से शत्रु सेना में त्रास फैला दिया था, और फिर से हिन्दू साम्राज्य की स्थापना द्वारा अमर कीर्ति प्राप्त की। मानों तलवार की धारा के गंगाजल से पवित्र होकर साम्राज्य लक्ष्मी ने इस वीरपति को वरण किया हो ॥ ३९ ॥

श्रीरामभक्तो व्रतिरामदासः
स्वामी समर्थो नृपनीतिदक्षः।
सदा स्वराष्ट्राभ्युदयोपदेष्टा
महान् गुरुर्यस्य बभूव धीमान् ॥४०॥

इन के गुरु रामभक्त समर्थ ब्रह्मचारी रामदास स्वामी थे। ये राजनीति के बड़े भारी पण्डित थे। इन्हीं के उपदेश से श्रीशिवाजी राष्ट्र के अभ्युदयकार्य में प्रवृत्त हुए ॥ ४० ॥

ततो समन्ताद् यवनाधिपत्ये
श्रीसूरदेवौ तुलसीकबीरौ ।
साधू तुकाराममुखा बभूवुः
सन्तः कवीन्द्रा इह देवभक्ताः ॥४१॥

जब मुगलों के शासन का मध्यान्ह काल था, और हिन्दु संस्कृति अन्तिम साँस ले रही थी, तभी तुलसी, सूर, कबीर, और तुकाराम जैसे ईश्वर भक्त संत कवियों ने आर्यजाति में पुनः स्वधर्म भक्ति की निर्मल गंगा बहाई ॥ ४१ ॥

आदर्शदेवोत्तमपुण्यवृत्तम्
वर्णाश्रमाचारवृषं दिशन्तः ।
स्वकाव्यरत्नैरुपकारिणो ये
निजार्यधर्मं प्रलयाद् ररक्षुः ॥४२॥

और रामकृष्ण प्रभृति आदर्शपुरुषों के पवित्र चरित्रपर उत्तम २ काव्य लिखकर वर्णाश्रमों के धर्म समझाये तथा डूबते हुए आर्यधर्मको फिरसे बचा लिया ॥ ४२ ॥

स्वराज्यतृष्णाजलसिक्तमूला-
दनैक्यबीजादुपजातशाखम् ।
विपत्फलाढ्यं कलहद्रुमं तं
पुनः सिषेवे नृपपक्षिवृन्दम् ॥४३॥

मुसलमानी शासन के उत्तरार्द्ध काल में, शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् भारतवर्ष के राजारूपी पक्षियोंने इस वसुन्धरा पर फूट का बीज बोया, उस को छोटे २ राज्यखण्डों के तृष्णा जल से सींचा । यह वृक्ष खूब बढा, इस झगड़े के वृक्ष पर विपत्ति के फल लगे, जिसे इन्होंने खूब चखा ॥ ४३ ॥

स्वराज्यखण्डानिव तण्डुलाँस्ते
प्रसार्य भोग्यग्रहणाय लोलान् ।

नृपान् पतंगान्निजकूटयन्त्रे
व्याधा इवांग्ला जगृहुर्नयज्ञाः ॥४४॥

जैसे व्याध चावलों को विखेरकर लोभी पक्षियों को अपनी जाल में फँसा लेता है, वैसे ही नीतिमान् अंगरेजों ने राज्य के छोटे २ टुकडों का लोभ देकर इन राजाओं को अपने कपट जाल में फँसा लिया ॥ ४४ ॥

अराजकत्वादखिले स्वदेशे
विद्रोहिभिर्लुण्ठकसार्वभौमैः ।
प्रजाधनप्राणहरैः प्रजान्त-
रातंकचिन्ता ह्युदपादि नित्यम् ॥४५॥

उस समय सारे भारतवर्ष में चारों ओर अराजकता फैल चुकी थी। राजद्रोही और डाकू प्रजाओं के प्राण और धन का हरण कर रहे थे, जिससे जनता में भय का संचार हो गया था ॥ ४५ ॥

प्रजामनोरंजनचातुरीज्ञैः
सुशासनैरांग्लमहीनरेशैः ।
नियन्त्र्य तन्त्रं निजयुक्तियंत्रै-
रानन्दितं लोकमनः प्रबन्धैः ॥४६॥

ऐसे अन्धकारमय काल में चतुर अंगरेजों ने युक्तियों से शासन की बागडोर अपने हाथों में ली; और उन्होंने कुछ २ अच्छे शासन से प्रजाका मनोरंजन किया ॥ ४६ ॥

बृटीशसाम्राज्यवशंवदानां
राज्यानि राज्ञां करदीकृतानाम् ।
विलासितासादितविक्रमाणां
तदात्र रेजुस्त्रिशतद्वयानाम् ॥४७॥

उस समय विलासिता के कारण राजागण शौर्यहीन हो गये थे, इस लिये लगभग ६०० राजा बृटिश साम्राज्य के अधीन हो गये थे ॥ ४७ ॥

धर्मेण वीर्येण बलेन हीने
दीने दशां शोच्यतरां प्रपन्ने ।
पाखण्डिनां धर्मगुरुब्रुवाणां
पाखण्डलीलाः परितो विलेसुः ॥४८॥

धर्म, वीर्य, और बल में हीन हो जाने से भारतीयों की दशा शोचनीय हो गई थी, इसीलिये पाखण्डी धर्मगुरुओं की पाखण्ड लीला सब ओर फैल गई थी ॥ ४८ ॥

समाजधर्मक्षितिपालनीति-
प्रकामपातोद्भवदुर्दशायाः ।
तस्याः प्रतीच्यां दिशि भारतोर्व्याः
सौराष्ट्रदेशो रुचिरो विभाति ॥४९॥

सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक त्रिविध दृष्टि से अत्यन्त शोचनीय दशा को प्राप्त हुई इस भारतभूमि की पश्चिम दिशा में एक सौराष्ट्र नामक देश था ॥ ४९ ॥

सौराष्ट्रवीरोत्तमकीर्तिकेतू
शत्रुञ्जयश्रीगिरनारशैलौ ।
जिनेन्द्रसन्मन्दिररम्यशृंगौ
सिंहाश्रयैर्यं श्रयतो वनान्तैः ॥५०॥

इसी सौराष्ट्र (काठियावाड़) में वीर रत्नों की कीर्त्ति–पताकासे युक्त शत्रुञ्जय और गिरनार पर्वत शोभित हो रहे हैं। जिन पर्वतों के शिखरों पर, तीर्थंकरों के अनेक संपत्तिशाली बड़े बड़े देवालय हैं और बनों में सिंह हैं ॥ ५० ॥

श्रीकृष्णचन्द्रोज्वलकीर्त्तिचन्द्र-
प्रभाप्रभातार्णववीचिपूता ।
यं द्वारका केशवराजधानी
महार्हहर्म्या समलङ्करोति ॥५१॥

इसी देश में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की बडे २ महलों वाली द्वारिकापुरी शोभित हैं, जिसे श्रीकृष्णचन्द्रजी को उज्वल कीर्त्तिरूपी चन्द्रिकाने प्रकाशित किया था। वह पुरी समुद्र की तरंगों से हमेशा पवित्र रहती है ॥ ५१ ॥

स्तम्भादितीर्थान्तिमकच्छसंज्ञौ
यस्याग्रपाणी इव लम्बमानौ ॥
अम्भोधिकन्यामणिलाभलोलौ
विराजतस्तावुपसागरौ नु ॥५२॥

खंभात और कच्छ के उपसागर मानों काठियावाड़ के दोनों हाथ हैं। इसलिये यह देश इन दोनों हाथों से मानों समुद्र की लक्ष्मीरूपी पुत्री को ग्रहण कर रहा है। अर्थात् सामुद्रिक व्यापार द्वारा इस देश में लक्ष्मी की वृद्धि होती रहती है ॥ ५२ ॥

मनोहरोद्याननदीतडागं
यं काठियावाडपदाभिधेयम् ।
प्रदेशरत्नं शतशो विभक्तं
भुनक्त्यहो भूमिभुजां समूहः ॥५३॥

इस देश में स्थान २ पर मनोहर बागबगीचे नदियाँ और तालाव हैं। इस प्रदेश को अनेक छोटे मोटे राजा पालन कर रहे हैं ॥ ५३ ॥

सुलक्षणाश्वावलिजन्मभूमे-
रापीनशोभाञ्चितगोकुलस्य ।
यस्यानिशं सोऽर्वमहार्णवः स्वै-
रम्भोभिरंघ्रयम्बुजमापुनीते ॥५४॥

यहाँ की घोडियाँ बडी सुलक्षणा होती हैं और यहाँ की गायें घटोध्नी (घड़े के तुल्य बड़े स्तनोंवाली) होती हैं। और इस देश के चरणकमल को अरब महासागर अपने पानी से निरन्तर धोता रहता है ॥ ५४ ॥

स एव सूर्यो रुचिरस्स चन्द्रो-
वायुस्स नन्दी विमलं जलं तत् ।
तदम्बरं सा रमणीयपृथ्वी
प्रभुप्रसादाद्रचनापि सैव ॥५५॥

सा पूर्ववन्मानवमूर्तिरेषा
तानीन्द्रियाण्येव कृतिक्षमाणि ।
तथापि चेतस्सदनादिदानीं
कल्याणकर्माणि लयं गतानि ॥५६॥

भारतीय आकाशमण्डल में (पहले था) वही सूर्य है, वही सुन्दर चन्द्रमा है, वही आह्लादजनक पवित्र हवा है । नदियों और नालों में वही पवित्र जल है, वही आकाश है और वही मनोहर हमारी पृथ्वीमाता है । ईश्वर की दया से सब रचनायें (पूर्वकी सी) ज्यों की त्यों हैं । मनुष्यों की आकृतियाँ भी पहले ही जैसी हैं । मनुष्यों की कार्यक्षम वे ही इन्द्रियाँ भी हैं; तो भी न मालूम आर्यों के हृदयमन्दिरों से वे प्राचीन कल्याणमय आर्यसंस्कार क्यों नष्ट हो गये ॥ ५५-५६ ॥

कृतास्पदे मोहनिशाचरेऽस्मिन्
धर्मेण तप्तुं विपिनाय यातम् ।
न्यायालयं न्याय इतो विधातु-
र्दिवं गता सा हृदयाद्दयाऽपि ॥५७॥

इस देश की जनता में जब मोह निशाचर ने अपना सिंहासन जमा लिया, तब बिचारा धर्म तप करने के लिये जंगल चला गया, और न्याय न्याय कराने के लिये विधाता के न्यायमंदिर में जा घुसा। हृदयमंदिर से दया तो स्वर्ग पधार ही चुकी थी ॥ ५७ ॥

दुर्वृत्तता वैष्णवधर्मनेतु-
र्धर्मान्धता शैवमतस्य वित्ता ।
स्वामिप्रभोर्लोलुभताऽर्थराशेः
सौराष्ट्रगोरप्यघपंकमग्ना ॥५८॥

इस देश में उस समय वैष्णव महंतों की दुराचार-लीला सीमा लांघ चुकी थी। स्वामीनारायणियों की धनलोलुपता जनता को चूस रही थी! खेद है कि बिचारी सौराष्ट्ररूपी गाय पाप-पंक में फँस गई थी ॥ ५८ ॥

इति करुणदशामवेक्ष्य भूमे-
दुरिततमोदलनाय दिव्यधामा ।
भुवनहितकरः प्रकाशितोऽयं
रविरिव विश्वसृजा व्रती महर्षिः ॥५९॥

ऐसी मर्मभेदक करुण दशा को देखकर करुणा-वरुणालय विश्वविधाता ने पाप-अंधकार को नष्ट करने के लिये लोककल्याणकारी तेज के भंडार सूर्य की तरह आदित्य ब्रह्मचारी ऋषि दयानन्द को प्रकट किया ॥ ५९ ॥

प्रथितभुवनदीप्तेः श्रीदयानन्दभानो-
रुदयगिरिभुवो या प्राप पुण्यां प्रतिष्ठाम् ।
प्रकृतिरुचिरशोभा ब्रह्मणः शिल्परूपा
जनयतु हृदि तस्याः प्रेक्षकाणां प्रमोदम् ॥६०॥

जो नगरी (टंकारा) विख्यात तेजस्वी श्री दयानन्दरूपी सूर्य की उदयगिरिभूमि के गौरव पद को प्राप्त कर चुकी है उस नगरी की स्वभावसुन्दर विश्वकर्मा की शिल्पकला की निदर्शनरूप प्राकृतिक शोभा दर्शकों के मनको आनन्दित करे ॥ ६० ॥
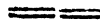
इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य वटोदरार्यकन्या-
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये
भारतदुर्दशाङ्कनं नाम द्वितीयः सर्गः ।

तृतीयः सर्गः ।

सस्यसम्पत्सनाथानां क्षेत्राणां मालयान्विता ।
विलसद्वेदटंकारा टंकारानगरीमणिः ॥१॥

काठियावाड़ में टंकारा नाम की एक बहुत ही श्रेष्ठ नगरी है, यह नगरी अनेक प्रकार के लहलहाते धान्यों के खेतों से हमेशा शोभित रहती है। इस नगरी में निरन्तर वेदपाठी ब्राह्मणगण वेदपाठ किया करते हैं ॥ १ ॥

असुन्धराऽथ डेमीति निर्झरिण्यौ यदङ्गणे ।
सेविके इव शोभेते जनसेवाकृतव्रते ॥२॥

इस नगरी के आंगन में असुंधरा और डेमी नामक दो नदियाँ मानों जन-सेवा-व्रतधारिणी होकर सेविका की तरह विराज रही हैं ॥ २ ॥

दर्भासनफलाहार–स्वच्छनीरसमर्पणैः ।
अतिथीन् नन्दयन्त्यौ ये मन्दचन्दनमारुतैः ॥३॥

ये दोनों नदियाँ दर्भासन, फलाहार, निर्मल जल, तथा शीतल मन्द सुगन्ध पवन द्वारा अतिथियों को आनन्दप्रदान करती रहती हैं ॥ ३ ॥

मुनीन्द्रगणवन्द्ये ये अमन्दानन्दसुन्दरैः ।
कालिन्दीगङ्गयोर्लक्ष्मीं जयन्त्यौ कूलकाननैः ॥४॥

ये नदियाँ अत्यन्त सुखदायक तथा सुन्दर तटोपवन से गंगा और यमुना की शोभा का धारण कर रही हैं इसलिये मुनिगणों से ये वन्दनीय हैं ॥ ४ ॥

दयानन्दसरस्वत्या दिव्यप्रच्छन्नधारया ।
संगते तीर्थराजे ये तरंगिण्याविवामले ॥५॥

जैसे तीर्थराज प्रयाग में गंगा और यमुना की पवित्र जलधारा में गुप्त सरस्वती का संगम माना गया है, वैसे ही इन दोनों नदियों के संगम स्थान पर ऋषि दयानन्द की

गुप्त सरस्वती प्रकट हुई थी, अतः यह स्थान भी तीर्थराज प्रयाग से कम महत्वशाली नहीं है ॥ ५ ॥

चतुर्द्वारयुता भित्तिः प्रस्तरै रचिता दृढा ।
राजते दुर्गवद् यस्या रक्षिणी जननीव सा ॥६॥

इस नगरी के चारों ओर मजबूत पत्थरों की बनाई हुई किले की तरह दीवाल है, जो माता की तरह इसकी रक्षा कर रही है ॥ ६ ॥

निष्पन्दजलवेणीयं निर्मला परिखीकृता ।
पुरीकण्ठगता रम्या मुक्तामालेव शालते ॥७॥

इस नगरी के चारों ओर गंभीर जलधारावाली परिखा थी जो कि इस नगरी के गले में मोती की माला की तरह मालूम होती थी ॥ ७ ॥

अयोध्या रामचन्द्रेण मथुरा श्रीमुरारिणा ।
विश्ववन्द्या यथा पूता टंकारापूर्महर्षिणा ॥८॥

जैसे अयोध्यापुरी श्री रामचन्द्र से, और मथुरानगरी श्री नन्दनन्दन कृष्ण मुरारि से पावन तथा विश्ववंदनीया हैं; वैसे ही पवित्र टंकारानगरी महर्षि दयानन्द से अखिल भूमण्डल के लिये वन्दनीया हो गई है ॥ ८ ॥

आबालवनितावृद्धस्नानयोग्यजलाशया ।
लसल्लास्यकलापीन्द्रद्योतितारामममन्दिरा ॥९॥

इस नगरी में बालक, वृद्ध तथा स्त्रियों के लिये स्थान २ पर स्नानयोग्य घाट बने हैं । इसके बागबगीचे एवं घरों के आंगन नाचते हुए मोरों से मनोहर लगते हैं ॥ ९ ॥

यत्सेतुबन्धरुद्धाम्भःसंतरद्बालमण्डली ।
मनो हरति देवानां प्रफुल्लाननचन्द्रिका ॥१०॥

इस नगरी की दोनों नदियों में स्थान स्थान पर बांध बँधे हैं, इस कारण इन नदियों में हमेशा पानी रहता ही है । इसमें सायं सबेरे बाल-मण्डली प्रसन्न मनसे तैरा करती है, जिसे देखकर देवों के मन भी ललचा जाते हैं ॥ १० ॥

यत्र सायं समायान्ती गोचराद् गोततिर्द्रुतम् ।
घटोध्नी भाति वत्सेभ्यो नयन्तीवोपदापयः ॥११॥

इस नगरी में सायंकाल चरागाह से गौओं की मण्डलियाँ दौडती आती हैं, तब वे ऐसी मालूम होती हैं मानों वे अपने बछडों के लिये भेंटरूप में स्तनघटों में दूध ले जा रही हों ॥ ११ ॥

मोरवीराज्यरत्नस्य यन्नगर्या महापणे ।
लक्षैः स्म पणते द्रव्यैर्वणिग्वर्गो धनीश्वरः ॥१२॥

मोरवी नामक राज्यमें यह श्रेष्ठ नगरी है। इसके बड़े बाजारों में रोज धनिक बनिये लाखों का लेन देन करते हैं ॥ १२ ॥

देवमानवगन्धर्वान् नन्दयन्ती निजाङ्कगान् ।
नानाभोग्यपदार्थैर्या गां गतेवामरावती ॥१३॥

यह मानों पृथिवी की अमरावती है। यह अपनी गोद में आये हुए विद्वानों, मनुष्यों और कलाविदों को अपने नाना भोगपदार्थों द्वारा प्रसन्न करती रहती है ॥ १३ ॥

जनानामष्टसाहस्रीं पोषयन्ती निजाश्रये ।
धनधान्यसमृद्धा या शिवालयविराजिता ॥१४॥

इस नगरी में आठ हजार मनुष्य निवास करते हैं, जिनका यह सम्यक् प्रकार से पोषण करती है। यह समृद्धिशालिनी भी है और अनेकों शिवालयों से सुशोभित है ॥ १४ ॥

स्वच्छाम्भोनिपतद्बिम्बा यद्वप्रस्थमहालयाः
आत्मसौन्दर्यमादर्शे प्रेक्षन्तेव मणिप्रभाः ॥१५॥

टंकारा नगरी के परिखा-तटवर्ती बड़े बड़े महलों का प्रतिबिम्ब खाई के जल में पड़ा करता है; मानों जलदर्पण में वे रत्नजटित अपने स्वरूप का सौन्दर्य देख रहे हों ॥१५॥

एनोमृगनिहन्तारं विषयद्विपमर्दनम् ।
नरकेशरिणं वीरं या प्रासूत महाटवी ॥१६॥

जैसे बड़ा जंगल मृगों को मारने वाले और मतंगजों के मर्दन करने वाले सिंह को पैदा करता है, वैसे ही इस नगरीने नरकेशरी दयानन्द को पैदा किया ॥ १६ ॥

आदित्यब्रह्मचारीन्द्रं ब्रह्मानन्दविदं मुनिम् ।
अद्वितीयं महात्मानं योगिराजं जगद्गुरुम् ॥१७॥
वेदविद्याविदां वर्यं जगदुद्धारकं यतिम् ।
प्रसूयोपाहसद्यालं सकलोर्वीमहापुरीः ॥१८॥

आदित्य-ब्रह्मचारी, ब्रह्मानन्दवेत्ता, मुनिवर, अद्वितीय महात्मा, योगिराज, जगद्गुरु, वेदविद्या के पारंगत, संसारोद्धारक, संन्यासी दयानन्द को पैदा कर के मानों यह नगरी संसारभर की नगरियों को हँस रही हो ॥ १७-१८ ॥

कुशपुष्पवती हव्यद्रव्यौषधिसमिच्चया ।
रेजे यज्ञस्थलीवेयं गोविप्रगणमण्डिता ॥१९॥

यह नगरी पवित्र यज्ञवेदी की तरह मालूम होती थी, क्योंकि यह कुश, पुष्प, हव्य कव्य, द्रव्य औषधियाँ और समिधा तथा गौ एवं ब्राह्मणों से घिरी रहती थी ॥ १९ ॥

शैववैष्णवभक्तानां विप्राणां वणिजां कुलैः ।
मूर्त्तिपूजाप्रसक्तानां मन्दिरैः शुशुभे कृतैः ॥२०॥

मूर्तिपूजक शैव एवं वैष्णवमतावलम्बी ब्राह्मण और वणिक् जनों से बनाये सुन्दर मन्दिरों से यह नगरी शोभित थी ॥ २० ॥

इलाललामरूपायां तस्यां शीलगुणाञ्चितः ।
सहस्रोदीच्यवंशीयब्राह्मणानां शिरोमणिः ॥२१॥
त्रिवेदी सामवेदज्ञः शिवभक्तिपरायणः ।
लालुलालितबालः श्रीकृष्णनामाऽभवद्द्विजः ॥२२॥

पृथिवी की भूषणरूप इस नगरी में सहस्रोदीच्य वंश में उत्पन्न, सामवेदी, शिवभक्ति-परायण, शील और गुण से युक्त श्री लालजी के पुत्र कर्सन जी त्रिवेदी नामक ब्राह्मणश्रेष्ठ रहते थे ॥ २१-२२ ॥

तेजस्वी पुरुषो धीमान् राजसम्मानभूषितः ।
राजकीयपदे श्रेष्ठे वर्त्तमानो यशोधनः ॥२३॥
स्वग्रामशासनेशो यः करसंग्रहकारकः ।
विद्रोहदमनायाजावुपसेनाधिनायकः ॥२४॥
पुण्यलक्ष्मीकृपापात्रं सन्निधिः शीलसम्पदाम् ।
स्वभावे कोमलः क्रूरो यथाकालं यथा रविः ॥२५॥
धर्मनिष्ठोऽमलस्वान्तः समयज्ञः सुनीतिमान् ।
धैर्यशाली कुलाचारप्रतिष्ठापालको महान् ॥२६॥

कर्सन जी बड़े ही तेजस्वी, राज–सम्मान से भूषित, उच्च राजकर्मचारी, यशोधन, अपने ग्राम के स्थानीय शासक तहसीलदार, विद्रोहियों के दमनार्थ कईवार उपसेनापतिपद पर रहने वाले, लक्ष्मी के कृपापात्र, शीलसम्पत्ति के भण्डार, सूर्यसमान यथासमय कोमल और उग्र, धर्मनिष्ठ, पवित्रान्तःकरणयुक्त, देशकाल के ज्ञानी, उत्तम नीतिमान् , धैर्यशाली, कुलाचारविचार के महान् पालक थे ॥ २३–२६ ॥

तस्य सत्यवतो ह्यासीत् सावित्रीव पतिव्रता ।
दयार्द्रहृदया देवी दिव्यसद्गुणशालिनी ॥२७॥
सीतेव रावणाराते रुक्मिणीव मुरद्विषः ।
इन्द्राणीव दिवो भर्त्तुः पार्वतीव पिनाकिनः ॥२८॥
ययातेरिव शर्मिष्ठा वैदर्भीव नलेशितुः ।
हिरण्यरेतसः स्वाहा यामिनीव कलानिधेः ॥२९॥
छायेव या सहस्रांशोश्चञ्चलेव पयोमुचः ।
लावण्यसिन्धुसंभूता रतिर्वा पुष्पधन्वनः ॥३०॥
स्नेहपाथोनिधेर्नूनं रूपलक्ष्मीरनुत्तमा ।
शारदेन्दुमुखी मन्दस्मितनिन्दितचन्द्रिका ॥३१॥

गार्हस्थ्यधर्मनिष्णाता देवातिथ्यर्चनारता ।
दक्षिणा पुण्ययज्ञस्य प्रसन्ना गृहदेवता ॥३२॥

मनसा कर्मणा वाचा भर्त्तृचित्तानुवर्त्तिनी ।
स्वामिनं सानसूयेवानन्दयामास सर्वदा ॥३३॥

सत्यवान् की जैसे सावित्री, रावणरिपु राम की जैसे जानकी, मुरारि की जैसे रुक्मिणी, इन्द्र की जैसे इन्द्राणी, शंकर की जैसी पार्वती, ययाति की जैसे शर्मिष्ठा, नल की जैसे दमयन्ती, अग्नि की जैसे स्वाहा, चन्द्रमा की जैसे यामिनी, सूर्य की जैसे छाया, बादल की जैसे बिजली, कामदेव की जैसे रति, मानों स्नेह-सागर की अनुपम रूपलक्ष्मी, पवित्र यज्ञ की दक्षिणासी, सौन्दर्य-सागर से उत्पन्न हुई, शरच्चन्द्रसी सुन्दर मुखवाली मन्द हास्य से चन्द्रिका को भी हँसनेवाली, गृहस्थधर्म में निष्णात, विद्वानों एवं अतिथियों का सत्कार करनेवाली, दयालुहृदयवाली, दिव्यसद्‌गुणशालिनी, गृहदेवी सी कर्सनजी की रुक्मिणी नामक पत्नी थी। जैसे अनसूया मन वचन कर्म से पति की इच्छाओं के अनुकूल होकर हमेशा पति को प्रसन्न रखती थी, वैसे ही यह देवी भी मनसा, वाचा, कर्मणा पति को सन्तुष्ट रखती थी ॥ २७-३३ ॥

महेश्वरप्रसादात्सा ब्रह्मवंशसमुद्भवा ।
गर्भं बभार कल्याणी जगत्कल्याणहेतवे ॥३४॥

योगसिद्धिरिवानन्दं विद्या गुणमिवामलम् ।
वसुन्धरा यथा रत्नं शमीशाखा यथानलम् ॥३५॥

इस कल्याणी ब्राह्मणी ने ईश्वर की कृपा से जगत् के कल्याणार्थ, योगसिद्धि जैसे ब्रह्मानन्द को, विद्या जैसे पवित्र गुण को, वसुन्धरा जैसे रत्न को, शमीशाखा जैसे अग्नि को धारण करती है, वैसे ही पवित्र गर्भ धारण किया ॥ ३४-३५ ॥

अर्भको गर्भवास्तव्यो ववृधे स यथा यथा ।
प्रमोदो मनसो मातुर्वृद्धिमाप तथा तथा ॥३६॥

ज्यों ज्यों गर्भगत बालक बढता जाता था, त्यों त्यों इस माता की प्रसन्नता भी बढ़ती थी ॥ ३६ ॥

पूर्वजन्मविशुद्धात्मा प्राप्तवानुदरं मम ।
इत्यानन्दघनं तस्यास्तर्कयामास मानसम् ॥३७॥

आनन्द से भरा उस माता का मन कल्पना किया करता था कि कोई पूर्वजन्म का पवित्रात्मा मेरे उदर में आया है ॥ ३७ ॥

युक्ताहारविहाराभ्यां प्रसन्ना पूतमानसा ।
गर्भागतमहात्मानं पालयामास यत्नतः ॥३८॥

वह युक्ताहारविहार से प्रसन्न होती हुई पवित्र मन से यत्नपूर्वक गर्भगत महात्मा का पालन करती थी ॥ ३८ ॥

संस्कृतो यत्स संस्कारैः पुनरुक्तिकलंकितैः ।
पुनरुक्तप्रदोषोऽपि गुणिषु प्रगुणायताम् ॥३९॥

यद्यपि यह महात्मा जन्मजन्मान्तरों के संस्कारों से प्रथम से ही शुद्ध था, तथापि फिर से इस के जो संस्कार किये गये वे पुनरुक्ति दोष से दूषित हो गये। किन्तु यह पुनरुक्त दोष इस गुणवान् महात्मा के संसर्ग से और अधिक गुणवान् हो गया ॥ ३९ ॥

शरपाण्डुमुखेन्दुः सा प्रभाता ललनाक्षपा ।
अल्पाभरणनक्षत्रा कृशाङ्गी शुशुभे तदा ॥४०॥

जैसे प्रातःकाल की रात्रि में चन्द्रमा शरकण्डे के फूल की तरह पीला हो जाता है, और उस समय बहुत ही कम नक्षत्र दीखते हैं; वैसे ही इस कृशाङ्गी देवी का मुख पीला पड़ गया था, और उसने दुर्बलता के कारण आभूषण भी कम पहन रखे थे ॥ ४० ॥

पुत्रगर्भवती माता रुक्मिणी कृष्णभामिनी ।
धान्यश्रीरिव गौराऽभात् प्रच्छन्नफलवर्धना ॥४१॥

खेतों में अन्दर अन्दर फल को बढ़ाने वाले धान्य की शोभा जैसे पीली हो जाती है, वैसे ही पुत्रगर्भवाली कृष्ण जी की रुक्मिणी देवी पीली सी पड गई थी ॥ ४१ ॥

असुन्धरातटे याऽभूद् रम्योद्यानवसुन्धरा ।
प्रायो मनोविनोदार्थं तत्र साऽगात् सखीयुता ॥४२॥

असुन्धरा नामक नदी के किनारे सुन्दर उद्यानभूमि में वह प्रायः सखियों के साथ मन बहलाने जाया करती थी ॥ ४२ ॥

कदाचिच्चन्द्रयामिन्यां देवमंगलगीतिभिः ।
ललनाभिस्सुलीलाभिर्मुमुदे रासकेलिभिः ॥४३॥

कभी कभी चांदनी रात में श्रेष्ठ कुलवती स्त्रियों के साथ रास (गर्बा) में देवताओं के मंगल गीत गाकर प्रसन्न हुआ करती थी ॥ ४३ ॥

कर्हिचिन्निर्मले नीरे स्नानलीलां विधाय सा ।
मुन्यन्नमुपभुञ्जाना विजहार नदीवने ॥४४॥

कभी स्वच्छ जल में आनन्दपूर्वक स्नान कर के फलमूल का आहार कर नदीके तटवर्ती जंगल में घूमा करती थी ॥ ४४ ॥

द्विजः सीमन्तसंस्कारं सीमन्तिन्याः शुभे दिने ।
मिष्टान्नमोदितज्ञातिं विदधे विधिवन्मुदा ॥४५॥

एक शुभ दिन देखकर कृष्ण जी ने अपनी पत्नी का सीमन्तोन्नयन संस्कार बड़े ही धामधूम से किया, जिस में इष्ट मित्र एवं ज्ञाति बन्धुओं को भोज भी दिया ॥ ४५ ॥

विलीनदोहदक्लेशा पीवराङ्गी शशिप्रभा ।
वल्लरीव विरेजेऽसौ सम्पन्ननवपल्लवा ॥४६॥

चन्द्रमा की सी कान्तिवाली यह देवी गर्भकालीन इच्छाओं के पूर्ण हो जाने से और गर्भगतक्लेशों के नष्ट होने से पुष्टांगी हो गई। उस समय यह नवीन पल्लवों से सम्पन्न लता सी शोभने लगी ॥ ४६ ॥

आसन्नप्रसवां पत्नीं विलोक्य मृगलोचनाम् ।
पतिः प्रीततरो जज्ञे कृषिं वा स कृषीवलः ॥४७॥

आकाशवेदिमालोक्य मेघमण्डलमण्डिताम् ।
मयूरो मोदते यद्वत् तद्वत् कृष्णमहोदयः ॥४८॥

मृगलोचना पत्नी का प्रसव काल समीप जानकर कृष्ण महोदय ऐसे प्रसन्न हुए जैसे फल देने वाली कृषि को देखकर किसान और मेघ से छाये आकाश को देखकर मोर प्रसन्न होता है ॥ ४७–४८ ॥

गुरोर्वारे दले गौरे मासे भाद्रपदे शुभे ।
खस्वस्तिकं समारूढे दिनराजे यशस्करे ॥४९॥

नवम्यां मूलनक्षत्रे लग्ने मंगलकारके ।
मृगाङ्कवसुदिक्पालब्रह्मसम्मितहायने ॥५०॥

वैक्रमे श्रीमतः कृष्णब्रह्मणो हृदयेश्वरी ।
सुषुवे दिव्यतेजस्कं दिवाकरमिवात्मजम् ॥५१॥

संवत् १८८१ के भादो शुक्ला नवमी गुरुवार मध्याह्न समय मूल नक्षत्र के मंगल-योग में श्री कृष्ण ब्राह्मण की हृदयेश्वरी ने सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र को उत्पन्न किया ॥ ४९–५१ ॥

ब्रह्मवंशावतंसेन शिशुहंसेन तेजसा ।
निष्कान्तयः कृता नूनं सूतिकागृहदीपकाः ॥५२॥

ब्रह्मवंश में भूषणरूप इस बालसूर्य ने प्रसूति–घर के दीपकों को अपने तेज से सचमुच निस्तेज कर दिया ॥ ५२ ॥

दुर्लभं दैवतो लब्ध्वा दीनो द्रव्यनिधिं यथा ।
आननन्द तथा पुत्रं नररत्नं द्विजेश्वरः ॥५३॥

द्विजेश्वर कृष्ण सौभाग्य से इस नररत्न पुत्र को पाकर ऐसे आनन्दित हुए जैसे रंक दैववशात् दुर्लभ रत्न को पाकर खुश होता है ॥ ५३ ॥

भाग्यवन्तमिहात्मानं मेनेऽयं गुणिनां द्विजः ।
गुरुत्वेन गुरुर्लोके लोकवन्द्यजगद्गुरोः ॥५४॥

लोक वन्दनीय जगद्गुरु के पितापद के कारण गुणिजनों में श्रेष्ठ यह ब्राह्मण अपने को संसार में भाग्यशाली मानने लगा ॥ ५४ ॥

आशास्सुमनसां सर्वाः फलिष्यन्तीति साम्प्रतम् ।
आशा ध्वान्तविमुक्तास्ताः प्रसेदुरुदये गुरोः ॥५५॥

अब देवताओं की सब आशा पूरी होंगी, यह जानकर, गुरु के उदय होने से सब दिशायें अन्धकार रहित हो कर हँसने लगी ॥ ५५ ॥

कृशोदर्या जनन्यास्तु ब्रह्मानन्दसहोदरः ।
पुत्ररत्नभवानन्दः कथं वर्ण्योऽल्पवर्णकैः ॥५६॥

कृशोदरी इस ब्राह्मणी माता के ब्रह्मानन्दतुल्य पुत्ररत्नोत्पत्तिरूप आनन्द का वर्णन इन इने गिने अक्षरों से कैसे करें ॥ ५६ ॥

मंगलैर्गुरवो वाद्यै रमणीनां मनोरमैः ।
गीतैः सम्भावयामासुः सुतजन्ममहोत्सवम् ॥५७॥

घर के सब लोग मंगलवाद्यों से और मनोहरगीतों से पुत्र जन्म का महोत्सव मनाने लगे ॥ ५७ ॥

सलिलं निर्मलं जज्ञे ववौ वायुः सुखावहः ।
अनलो हव्यकव्यैश्च प्रदीप्तो दक्षिणोऽजनि ॥५८॥

पानी स्वच्छ हो गया, हवा शीतल मन्द सुगन्ध हो कर बहने लगी और अग्नि हव्य कव्य द्रव्यों द्वारा अनुकूल ज्वालावाली हो गई ॥ ५८ ॥

वसुमेनं वहन्तीयं वसुधा शस्यशोभिनी ।
विरराज मनोज्ञाभं प्रसन्नं गगनं तदा ॥५९॥

इस दयानन्दरूपी देव को धारण कर के वसुन्धरा हरी भरी हो गई। उस समय आकाश की भी शोभा सुन्दर हो गई थी ॥ ५९ ॥

तारामौक्तिकमालां सा दधाना चन्द्रिकाम्बरम् ।
शरदिन्दुमुखी चक्रे रजनी स्वागतं मुदा ॥६०॥

शरत्कालीन चन्द्रमुखी निशादेवी चाँदनी के वस्त्र पहनकर और ताराओं की मुक्ता–माला धारण कर आनन्द से दयानन्द का स्वागत करने पधारी ॥ ६० ॥

सर्वर्त्तवो यथालिङ्गं स्वस्वोपायनपाणयः ।
हृदयङ्गमया लक्ष्म्या बालेन्द्रं समपूजयन् ॥६१॥

सब ऋतुएँ अपने २ हाथों में भेंट ले कर क्रमशः हृदयहारी संपदा से मानों बाल राजा का स्वागत करने लगीं ॥ ६१ ॥

प्रचीयमानरम्याङ्गो मातृस्तन्यप्रभावतः ।
सूर्यांशुसंप्रवेशेन स रेजे चन्द्रमा इव ॥६२॥
लालितः स्निग्धहृदयैः स्त्रीजनैः पद्मलोचनः ।
वितेने रुचिरां लीलां प्रकृत्या मधुरो बटुः ॥६३॥

सूर्य किरणों के प्रवेश से जैसे चन्द्रमा प्रतिदिन बढता जाता है, वैसे ही माता के दुग्ध के प्रभाव से यह बालचन्द्र पुष्ट होने लगा। स्वभाव से ही सुन्दर यह कमलनयन बालक प्रेमपूर्ण स्त्रियों द्वारा लालित पालित हो कर सुन्दर क्रीडा करने लगा ॥ ६२–६३ ॥

निसर्गमंजुलां वाणीं बालको रुचिराङ्गकः ।
पितरौ प्रीणयामास बापु बाबेति संब्रुवन् ॥६४॥

सुहावने नन्हे २ अंगों वाला यह बालक बापु, बा बा इत्यादि स्वभावसुन्दर तोतली बोली बोलकर माँ बाप को प्रसन्न करने लगा ॥ ६४ ॥

गंगापात्रजले तिष्ठन्नम्बुबिन्दून् कराम्बुजैः ।
उच्छालयन् हसन्नुच्चैर्हासयामास बान्धवान् ॥६५॥

स्नान पात्र में खड़े हो कर हाथ रूपी कमलों से पानी के छींटे उड़ाता हुआ स्वयं हँसता था और बन्धुबान्धवों को भी खूब हँसा देता था ॥ ६५ ॥

धूलिधूसरसर्वाङ्गो वसुधायां लुठन्मुदा ।
भस्मशुक्लतनोः शोभां शंकरस्य बभार सः ॥६६॥

कभी कभी जमीन पर लेटकर प्रसन्नता पूर्वक सारे शरीर पर धूल लगा लेता था। उस समय वह ऐसा सुशोभित होता था जैसे भस्म धारण करने के बाद शंकर सुशोभित होते हैं ॥ ६६ ॥

दधिमन्थनकालेऽसौ नवनीताभिलाषुकः ।
तक्रबिन्दूक्षितास्येन्दुर्जनयामास कौतुकम् ॥६७॥

दही बिलोडने के समय मक्खन लेने की इच्छा से यह कलश के पास चला जाता था, वहाँ उस के मुखपर मठ्ठे के छींटे पड़ जाते थे, जिस से स्वजनों को बड़ा ही कुतूहल होता था ॥ ६७ ॥

नानाभरणरत्नानि गणयन्निगडानिव ।
शरीरात्सारयामास शिशुर्योगीव निःस्पृहः ॥६८॥

अनेक आभूषणों को बेड़ी की तरह समझता हुआ यह शिशु निस्पृह योगी की तरह अपने शरीर पर से उतार फेंकता था ॥ ६८ ॥

देवलक्षणसम्पन्नो भव्यभालार्द्धचन्द्रमाः ।
विशालाक्षः सुनासाग्रः सुश्रवा मृदुकुन्तलः ॥६९॥
सुग्रीवो दीर्घहस्ताब्जः कपाटोरा वरांघ्रिमान् ।
रम्यरूपैर्गुणैरन्वायं जहार सुहृदां मनः ॥७०॥

इस बालक में देवताओं के सब लक्षण थे। अष्टमी के चन्द्रमा की तरह इस का भाल भव्य था, आँखें विशाल थीं, नाक सुन्दर ऊंची थी, स्वच्छ सीप के समान दोनों कान थे। रेशम की तरह कोमल बाल, शंख के समान गर्दन, जानुपर्यन्त बाहु, किवाड़ की तरह विशाल छाती, तथा इस के दोनों चरण सुन्दर थे। इसलिये यह मनोहर रूप एवं गुणों से नगरवासियों के मन हर लेता था ॥ ६९-७० ॥

शुक्ले पक्षे शुभे काले धर्मशास्त्रविदां वरः ।
तस्याभिधानसंस्कारं विदधे प्रीतिमान् पिता ॥७१॥

इस बालक के धर्मशास्त्र-पण्डित पिता ने शुभकाल और शुक्लपक्ष में अपने पुत्र का नामकरण संस्कार किया ॥ ७१ ॥

शंकरं जगतो नाथं सौख्यमूलं भजेदयम् ।
सुतो ममेत्यमुं चक्रे मूलशङ्करनामकम् ॥७२॥

यह मेरा पुत्र सुखमूल जगत् के नाथ शंकर की भक्ति करे इस विचार से उन्हों ने इस का नाम मूलशंकर रखा ॥ ७२ ॥

वयस्या बान्धवाः स्निग्धा मातरो मंगलश्रियः ।
बुधेन्द्रा बालकेन्द्रं तं वर्धयामासुराशिषा ॥७३॥

मित्र, बांधव, स्नेहमयी माता, सौभाग्यवती स्त्रियाँ और विद्वान्‌गण इस बालक को आशीर्वादों द्वारा बढाने लगे ॥ ७३ ॥

निर्निमेषेण नेत्रेण पुत्रास्यं पिबतः पितुः ।
हर्षोऽमृतं ममौ नान्तः सिन्धोः पूर इवैन्दवम् ॥७४॥

जैसे समुद्र में चांदनी देखकर पानी नहीं समाता, वैसे ही एकटक दृष्टि से पुत्र-मुख को देखते हुए पिता के हृदय में आनन्द नहीं समाता था ॥ ७४ ॥

शिशुः शकटिकां धृत्वा कराभ्यामङ्गने चलन् ।
क्रीडन्मुदा हसन्मन्दं मोदयामास मातरम् ॥७५॥

बालक छोटी गाडी को दोनों हाथों से पकड़ कर आँगन में चलता था, क्रीडा कल्लोल करता था और हँसता हुआ माता के आनन्द को बढाता था ॥ ७५ ॥

वदनेन्दोः पिबन्ती सा चुम्बनैरमृतं शिशोः ।
मोक्षानन्दं तृणं मेने लब्ध्वा पुत्रसुखं प्रसूः ॥७६॥

माता बच्चे के मुखचन्द्र से चुम्बन द्वारा अमृत पीती हुई पुत्रसुख को मोक्षानन्द से भी बढ़कर मानती थी ॥ ७६ ॥

बालगन्त्रीं तमारोप्य बालकं मूलशंकरम् ।
आरामे किंकरो रम्ये निन्ये वासुन्धरातटे ॥७७॥

नोकर रोज सायं प्रातः मूलशंकर को बालगाड़ी पर बैठाकर सुन्दर बाग में या नदी तटों पर ले जाया करता था ॥ ७७ ॥

उद्याने खगवृन्दानां गुञ्जनैर्मञ्जुलैः कलैः ।
नानाकुसुममालानां रूपैश्च मुमुदेऽर्भकः ॥७८॥

बालक बाग में अनेक पक्षियों के मधुर कलरवों और रंगबिरंगी फूलों के रूपों से बड़ा ही प्रसन्न होता था ॥ ७८ ॥

तरंगिण्यास्तरंगांभो – बिन्दूत्क्षेपैर्मनोरमैः ।
लुठनैर्वालुकाप्रान्ते डिम्भो रेमेऽन्यबालकैः ॥७९॥

यह मूलशंकर नदी में घुसकर अन्य बालकों के साथ दोनों हाथों से पानी उछाला करता था, और किनारों पर रेत में लोटकर खेला करता था ॥ ७९ ॥

लीलाभिर्मधुरमनोहराभिरेवं
सर्वेषां हृदयहरो वरो बटूनाम् ।
ब्रह्मानुग्रहरुचिराङ्गयष्टिकोऽसौ
पञ्चाब्दप्रमितवयः सुखेन भेजे ॥८०॥

इस प्रकार मधुर मनोहर लीलाओं द्वारा यह चतुर बालक सब के हृदयों को हर लेता था। ईश्वर कृपा से सुन्दर सुडौल शरीरवाले इस बालक के पांच वर्ष सुखपूर्वक व्यतीत हो गये ॥ ८० ॥

इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य वटोदरार्यकन्या-
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षि-
बाललीलावर्णनं नाम तृतीयः सर्गः।

चतुर्थः सर्गः

अथाक्षरं शंकरमाप्तुकामो-
द्विजेन्द्रसूनुर्निजपञ्चमाब्दे ।
गीर्वाणवाणीरुचिराक्षराणां
सुलेखने कौशलमाततान ॥१॥

अपने पांचवें वर्ष में इस ब्राह्मण बालक मूलशंकरने कल्याणकारी वर्णमाला को सीखने की इच्छा से और अविनाशी शंकर की प्राप्ति की इच्छा से देववाणी के सुन्दर अक्षरों के सुलेख में चतुराई प्राप्त की ॥ १ ॥

सुवर्णसूच्चारणशिक्षणस्य
ग्रन्थं गुरोः श्रीपितुरेव तूर्णम् ।
दर्भाग्रबुद्धिः समधीत्य वर्णी
वर्णोपयोगे स विचक्षणोऽभूत् ॥२॥

यह कुशाग्रबुद्धि ब्रह्मचारी अपने पूज्य पिता से ही वर्णोच्चारण शिक्षा को जल्दी पढ़कर वर्णों के उपयोग में निपुण हो गया ॥ २ ॥

पित्रोर्गुरूणां विदुषां वराणां
वन्द्यातिथीनां महतां नराणाम् ।
पूजाविधावेनमनिन्द्यशीलं
बालं पितालं कुशलं चकार ॥३॥

पिता ने पवित्र शील वाले इस मूलशंकर को माता पिता, आचार्य विद्वान्, वन्दनीय अतिथि एवं राजा आदि का सत्कार करने और सभा में बैठने उठने की शिक्षा दी ॥ ३ ॥

मेधोज्ज्वलः शान्तपवित्रशीलः
शिक्षाप्रभावेण पितुः कुमारः ।
सम्भाषणादिव्यवहारदाक्ष्ये
लेभे जनानां बहुधन्यवादान् ॥४॥

इस मूलशंकर की बुद्धि उज्ज्वल थी, स्वभाव शान्त तथा पवित्र था। पिता की शिक्षा के प्रभाव से यह बोलचाल आदि व्यवहारों में हमेशा लोगों के धन्यवाद प्राप्त करने लगा ॥ ४ ॥

देवार्चनायां परमोपयोगि-
स्तोत्राणि कण्ठाभरणीचकार ।
गानेन येषां कलकण्ठनादै-
र्व्यनोदयच्छ्रोतृमनः सदाऽयम् ॥५॥

इसने देवपूजा के उपयोगी स्तोत्रों को कण्ठस्थ कर लिया था। उन स्तोत्रों के मधुर गान से श्रोतागण को यह सर्वदा प्रसन्न करता था ॥ ५ ॥

बाल्येऽप्यबालाशय एष बालः
स्वमित्रमुक्तावलिहारहीरः ।
खेलाखलत्वं खलबालकानां
ततर्ज विज्ञाय बलेन वीरः ॥६॥

यह बालक अपने बालमित्रमंडल रूपी मुक्तावलि का हीरा था। बालक होते हुए भी यह परिपक्व बुद्धि का था। यह वीर बालक खेलों में दुष्ट बालकों की दुष्टता को बलपूर्वक झिडक देता था ॥ ६ ॥

सन्मित्ररक्षाव्रतदीक्षितोऽयं
सुहृत्सु दीनेषु दयालुचेताः ।
आसीदधर्मानृतदाम्भिकत्व-
द्विपेन्द्रसंमर्दमृगेन्द्रवीर्यः ॥७॥

यह बालक श्रेष्ठ मित्रों की रक्षा में हमेशा तत्पर रहता था। और दीनों पर दयालुवृत्ति रखता था। अधर्म, झूठ और दम्भरूपी गजराज को मर्दन करने के लिये सिंह तुल्य पराक्रमी था ॥ ७ ॥

अनेकखेलानिपुणो नदीष्णैः
खेलन् प्रतोल्यां सखिभिः सुकेलीन् ।
पौरान्महाश्चर्यसमुद्रमग्नान्
चक्रे स कृष्णात्मजमूलजीवः ॥८॥

कृष्ण जी का पुत्र मूलशंकर अनेक खेलों में निपुण था। खेल में चतुर मित्रों के साथ गलियों में खेलता हुआ, अनेक प्रकार के खेलों से नागरिकों को आश्चर्य–समुद्र में मग्न कर देता था ॥ ८ ॥

तस्याष्टमे वत्सर आर्यकृष्णो-
द्विजाग्रणीः शास्त्रविधिप्रवीणः ।
व्यधान्निरीक्ष्योज्ज्वलपक्षवारं
यज्ञोपवीतोपनयप्रकारम् ॥९॥

शास्त्रविधि के जानने वाले द्विजश्रेष्ठ आर्य कृष्णजी ने आठवें वर्ष में श्रेष्ठ पक्ष और वार देखकर इस बालक का उपनयन संस्कार किया ॥ ९ ॥

पुरोहितो वैदिककर्मदक्षः
संस्कारकृद् ब्राह्मणवंशहंसः ।
संस्कारमारम्भकमागमानां
द्वारं विमुक्तेरपि तस्य तेने ॥१०॥

ब्राह्मण वंश में श्रेष्ठ वैदिककर्म धर्म में चतुर पुरोहित संस्कार के लिये बुलाये गये। यह उपनयन संस्कार वेदादि विद्याओं के अध्ययन में द्वाररूप है। इस प्रकार इस पुरोहित ने न केवल विद्याओं का ही द्वार खोला किन्तु उसके लिये इसने मुक्ति का द्वार भी खोल दिया ॥ १० ॥

स ब्रह्मचारी द्विजराजपुत्रो
वक्षस्थलालम्बितयज्ञसूत्रः ।
पीताम्बरालङ्कृतपुण्यमूर्ति-
र्गुणिप्रगीतामलचारुकीर्तिः ॥११॥

द्विजराज के पुत्र इस ब्रह्मचारी ने अपने वक्षस्थल पर यज्ञोपवीत और पवित्र शरीर पर पीताम्बर धारण किया। ऐसे समय में इस के सुन्दर पवित्र चरित्र का गुणगान होने लगा ॥ ११ ॥

धृतांसदेशाजिनयोनिचर्मा
सुपादुकाभूषितपादपद्मः ।
रराज पापोद्दलनाय चण्डः
पलाशदण्डाञ्चितबाहुदण्डः ॥१२॥

कंधे पर मृगचर्म, पैरों में सुन्दर पादुका और मानों पाप को दलन करने के लिये प्रचण्ड भुजदण्ड में पालाशदण्ड विराज रहा था ॥ १२ ॥

श्रीबाणकाण्डोत्थितमंजुमौंजी-
सुमेखलामण्डितमध्यभागः ।
सुब्रह्मतेजोजितचण्डतेजाः
श्रीभार्गवो बाल इवाभिरामः ॥१३॥

मूंज की मनोहर मेखला से इन की कमर मण्डित थी। ब्रह्मवर्चस तेज से इसने सूर्य को भी जीत लिया था। इस प्रकार यह बालक बाल परशुराम के तुल्य लगता था॥ १३ ॥

स्वभावसिद्धाद्भुतपुण्यमेधा-
समुज्ज्वला तीक्ष्णतरा च बुद्धिः ।
यथार्थविज्ञानपटीयसीभ्यां
ताभ्यां स वर्णी समलंकृतोऽभूत् ॥१४॥

इस की मेधा स्वभाव से ही पवित्र और अद्भुत थी, बुद्धि कुशाग्र और उज्ज्वल थी; सत्यासत्य–विवेक में चतुर इन दो बुद्धियों से यह ब्रह्मचारी अलंकृत था ॥ १४ ॥

भूयोऽपि भूत्वा बटुरेष नूनं
श्रीशंकराचार्य इहागतो नु ! ।
आम्नायधर्मोद्धरणाय लोकै-
रित्यन्वमानि प्रतिनं विलोक्य ॥१५॥

इस ब्रह्मचारी को देखकर लोगों को ऐसा ज्ञात होने लगा कि, फिर से वैदिक धर्म के उद्धार के लिये साक्षात् श्री शंकराचार्यजी ही ने तो शरीर धारण नहीं किया ! ॥ १५ ॥

श्रीशैवमार्गानुगसार्वभौमः
स्वधर्मनिष्ठः शिवभक्तिशाली ।
अध्यापिपद्विप्रपिता स्वपुत्रं
कुलप्रणालीमनुसृत्य सन्ध्याम् ॥१६॥

इस के पिता शैवों के अग्रणी थे, स्वधर्मनिष्ठ तथा शिवभक्त थे। इन महानुभावने अपनी कुलरीति के अनुसार अपने पुत्र को संध्या पढाई ॥ १६ ॥

सरस्वतीसेवनकांक्षयाऽसौ
सारस्वतं व्याकरणं पपाठ ।
सरुद्रपाठं यजुराख्यवेदं
सस्मार सर्वं स्वरमञ्जुवाचा ॥१७॥

कुछ ही दिनों में विद्या–प्राप्ति की इच्छा से इसने सारस्वत नामक व्याकरण–ग्रन्थ भी पढ लिया और रुद्राध्याय सहित सम्पूर्ण यजुर्वेद का भी सस्वर मधुर वाणी से अध्ययन कर लिया ॥ १७ ॥

अन्यश्रुतीनामपि मन्त्रजातं
विशिष्टमल्पाल्पमधीत्य शिष्यः

कोषाननेकाननुवाच्य वाग्मी
जज्ञे स्ववंशोचितलब्धविद्यः ॥१८॥

अन्य वेदों के भी विशेष मंत्रों को इसने कण्ठस्थ कर लिया। बाद में अनेक कोशों को भी याद कर लिया। इस प्रकार वह अपने कुलोचित विद्या में पारंगत हो गया ॥ १८ ॥

ममात्मजः शैवमतानुयायी
स मादृशः स्याद‌तिरुद्रभक्तः।
इत्यादिशत्तं दशवर्षदेश्यं
तातस्सुतं पार्थिवपूजनार्थम् ॥१९॥

मेरा पुत्र मेरे ही जैसा महेश का महान् भक्त हो और शैवमतानुयायी बने, इसलिये पिताने इसे दश वर्ष की उम्र में ही पार्थिव–पूजा करने की आज्ञा दी ॥ १९ ॥

शम्भोः कदाचिद् गुणकीर्त्तनायां
वाञ्छाविरुद्धं स्वसुतं कथायाम्।
उग्रस्वभावो धृतशुद्धभावो-
निनाय निर्बन्धत आर्यकृष्णः ॥२०॥

उग्र स्वभाव के होते हुए भी शुद्ध भावनावाले ये कृष्णजी बालक की इच्छा के विरुद्ध भी कभी कभी आग्रहपूर्वक शिवजी की कथा में बालक को ले जाया करते थे ॥ २० ॥

जडेश्वरोपासनकारणात्तद्
व्रतोपवासादिकठोरकार्यम्।
पितुर्निदेशेन बभूव सूनो-
रावश्यकं कोमलकाययष्टेः ॥२१॥

कोमल शरीर वाले इस बालक को पिता की आज्ञा से मूर्त्तिपूजा के निमित्त व्रत उपवास आदि कठोर कार्य करने भी आवश्यक हो गये ॥ २१ ॥

महेशलिंगार्चनमन्त्रपाठ-
सन्ध्यादिकार्ये नियमानुकूलम् ।
प्रवर्तमानस्य बटोरजस्रं
पाठेऽन्तरायोऽजनि दिव्यशक्तेः ॥२२॥

दिव्य बुद्धि वाले इस बालक को शिवलिंग–पूजा, संध्या आदि नियमानुकूल कार्य में निरन्तर लगे रहने के कारण पाठ में विघ्न होने लगे ॥ २२ ॥

प्रत्यूहवृन्दे समुपस्थितेऽपि
स्वजन्मसिद्धोज्ज्वलबुद्धिशक्त्या ।
विद्यानुरागी द्रुतमग्रगामी
विद्यार्जनाध्वन्यभवद् व्रतीन्द्रः ॥२३॥

विघ्नों के उपस्थित होने पर भी पूर्वजन्म संचित उज्ज्वल बुद्धि की शक्ति से विद्या-प्रेमी यह ब्रह्मचारी विद्या प्राप्ति के मार्ग में जल्दी जल्दी आगे बढ़ने लगा ॥ २३ ॥

अश्रावयत्त्र्यम्बकभक्तकृष्णः
श्रीकण्ठमाहात्म्यपुराणगाथाम् ।
निजं तनूजं शिवभक्तिलीनं
विधातुकामो मुहुरार्यशीलम् ॥२४॥

शिवभक्त कृष्णजीने अपने श्रेष्ठ-चारित्रशाली पुत्र को शिवभक्ति में लीन करने की इच्छा से अनेकोंवार शिवजी का माहात्म्य एवं शिवपुराण सुनाया ॥ २४ ॥

त्रयोदशं वर्षमुपेयुषेऽस्मै
ब्रह्मार्थिने ज्ञानपरायणाय ।
ब्रह्मान्वयाचारविचारविज्ञः
पिताऽऽदिदेश व्रतमीशरात्रेः ॥२५॥

ब्राह्मणवंश के आचारविचारों के ज्ञाता पिताने वेद पढ़ने के इच्छुक, ज्ञानसंपादन में तत्पर इस त्रयोदशवर्षीय बालक को शिवरात्रि-व्रत करने की आज्ञा दी ॥ २५ ॥

क्लेशं महान्तं व्रतपालनेऽस्मिन्
विचिन्त्य माता मृदुलांगकस्य ।
बालस्य मूलस्य निषेद्धुमायात्
पत्युः समीपं पतिदेवता सा ॥२६॥

पति को देवसमान माननेवाली इस बालक की माताने यह सोचा कि—कोमल—काय इस बालक के लिये इस व्रत का पालन करना अत्यंत क्लेशदायक होगा, अतः मना करने के लिये पति के पास आयी ॥ २६ ॥

प्रसादमाधुर्यमयीं मनोज्ञां
धारां गिरां प्रेमसुधाप्रपूर्णाम् ।
उपाददाना निजगाद कान्ता
कान्तं महेच्छं शिवभक्तमित्थम् ॥२७॥

प्रेमसुधा से सनी हुई, प्रसाद और माधुर्य गुणवाली मनोहर वाणी—धारासे, महत्वाकांक्षी शिवभक्त पति को इस देवीने इस प्रकार कहाः— ॥ २७ ॥

स्वामिन् ! भवान् वाञ्छति धर्मनिष्ठं
स्वसन्निभं शंकरभक्तराजम् ।
विधातुमेनं तनयं निजं यन्-
मुदाऽनुमोदे मनसाऽपि वन्दे ॥२८॥

हे स्वामिन् ! आप अपने पुत्र को अपनी ही तरह धर्मनिष्ठ, शिवभक्त बनाना चाहते हैं, इस का मैं भी आनन्द से अनुमोदन करती हूँ और मन से सराहना भी करती हूँ ॥ २८ ॥

स्वगोत्ररीत्या निजधर्मनीत्या
सुयोग्यसंस्कारगुणैरवश्यम् ।
विभूषणीयो द्विजवंशदीपः
स्थिताऽऽत्मजे हि स्वकुलप्रतिष्ठा ॥२९॥

द्विजवंश में दीपकरूप इस बालक को अपनी कुलमर्यादा, धर्म, नीति, सुयोग्य संस्कार और गुणों से अवश्य ही भूषित करना चाहिये, क्योंकि अपने कुल की प्रतिष्ठा पुत्र ही पर अवलम्बित है ॥ २९ ॥

न बाल्यकाले कठिनव्रतानां
विनिर्दिशन्ति स्मृतयो विधानम् ।
गृहीतशास्त्रार्थविचारसारे
विद्वन्मणौ पल्लवितैरलं मे ॥३०॥

किन्तु स्मृतियाँ बचपन में कठिन व्रतों के पालन की आज्ञा नहीं देतीं। आप जैसे शास्त्रों के रहस्य को समझने वाले विद्वद्वर को विशेष क्या कहूँ ? ॥ ३० ॥

जपोपवासव्रतजागराणां
क्लेशान्न सोढुं प्रभुरेष बालः ।
ततो न योज्यो वचनेस्थितोऽस्मि-
न्नित्यस्ति नम्रानुमतिर्व्रतेऽस्याः ॥३१॥

यह बालक जप, उपवास, व्रत और जागरण के दुःखों को सहन करने में असमर्थ है, इस लिये इस आज्ञाकारी बालक को आप इन व्रतों में न लगावें—ऐसी मेरी नम्र सम्मति है ॥ ३१ ॥

पतिव्रतायाः सुतवत्सलाया-
निशम्य पत्न्या मधुरां गिरं ताम् ।
स्नेहानुरूपामपि युक्तरूपा-
मित्याचचक्षे सुविचक्षणस्ताम ॥३२॥

पुत्रवत्सला पतिव्रता स्त्री की स्नेहपूर्ण होने पर भी योग्य एवं मधुर वाणी सुनकर सुविचक्षण पति स्त्री से इस प्रकार कहने लगे ॥ ३२ ॥

सुलक्षणे हे गृहलक्ष्मि ! रम्यं
वचस्तवेदं ननु मातृयोग्यम् ।
विभिद्यते शास्त्रवचःप्रमाणा-
न्निशम्यतां तत्तु मनाङ् मनोज्ञे ! ॥३३॥

हे सुन्दर लक्षणोंवाली गृहलक्ष्मी ! तुम्हारे ये मधुर वचन माता के योग्य ही हैं, किन्तु हे मनोज्ञे ! तुम्हारा यह कथन शास्त्राज्ञा का विरोधी है; यह जरा सुन लो ॥ ३३ ॥

सुब्रह्मवर्चस्विसुतं चिकीर्षु-
र्विप्रो वितन्यादुपवीतदीक्षाम् ।
तत्पंचमे हायन एव पुण्या-
मित्येष कल्पः स्मृतिषूपदिष्टः ॥३४॥

ब्राह्मणों को यदि अपने पुत्रों को उत्तम ब्रह्मवर्चस्वी, विद्वान् एवं गुणवान् बनाना हो तो पाँचवें वर्ष में ही उन का पवित्र यज्ञोपवीत संस्कार कर देवें—ऐसा स्मृतियों में विधान है ॥ ३४ ॥

व्रतं कठोरं खलु सत्यमार्ये !
परं तदभ्यासवशेन साध्यम् ।
नाभ्यस्यते चेदिह बाल्यकाले
तद् दुष्करं नुस्तरुणस्य नूनम् ॥३५॥

हे आर्ये ! यह बात सच है कि व्रत बड़े ही कठोर होते हैं, किन्तु वे अभ्यास से ही सिद्ध किये जाते हैं । यदि बाल्यावस्था से इन व्रतों का अभ्यास न किया जाय तो सचमुच युवावस्था में भी ये नहीं साधे जा सकते ॥ ३५ ॥

वयो न वीक्ष्यं द्विजदारकाणां
तेजः परीक्ष्यं गृहनीतिदक्षे ! ।

उद्दामनागेन्द्रविमर्दने किं
नालोक्यतेऽलं हरिणेन्द्रबालः ॥३६॥

हे गृहनीति में चतुरे ! ब्राह्मण बालकों की उम्र नहीं देखी जाती। उन के तो तेज की ही परीक्षा की जाती है। सिंहों के बच्चे क्या मदमस्त गजराज के मर्दन करने में समर्थ नहीं देखे जाते ? ॥ ३६ ॥

तदेव कार्यं करणीयमार्यै-
रादौ समं यद् गरलेन पश्चात् ।
पीयूषतुल्यं प्रतिभातु भद्रे !
तपांसि तादृक्फलवन्ति कान्ते ! ॥३७॥

हे भद्रे ! उसी कार्य को करना चाहिये जो पहले भले ही विषतुल्य लगे, परन्तु अन्त में अमृततुल्य प्रतीत हो। हे कान्ते ! तप भी ऐसे ही होते हैं; अर्थात् पहले दुःखकर और पश्चात् सुखकर ॥ ३७ ॥

एवं प्रसन्नां प्रविधाय भार्यां
सूनुं समाहूय विनम्रशीलम् ।
विज्ञाप्य लाभं च सुखं व्रतानां
व्रतेषु पुत्रं प्ररुचिं चकार ॥३८॥

इस प्रकार पत्नी को प्रसन्नकर उस की सम्मति से आज्ञाकारी पुत्र को बुलाकर, उसे व्रतों के फल और सुख बताये, जिस से उसे व्रतोंपर रुचि हो गई ॥ ३८ ॥

आज्ञाङ्कितोऽयं तनयस्स्वशीर्षे
मालामिवाज्ञां प्रमुदा प्रधार्य ।
पितुस्तदा शंकररात्रिपुण्य-
व्रतोपवासं विदधौ विधिज्ञः ॥३९॥

इस आज्ञापालक पुत्रने पुष्पमाला की तरह प्रसन्नतासे उन की आज्ञा को शिरोधार्य किया, और व्रत विधि को जानकर शिव–रात्री का उपवास किया ॥ ३९ ॥

मृत्युञ्जयस्य क्षणदा महर्षे-
मृत्युञ्जयस्य क्षणदाऽजनीयम् ।
ओंसच्चिदानन्दमहेशलाभा
विश्वस्य कल्याणकरी च नूनम् ॥४०॥

शंकर की यह रात्रि महर्षि दयानन्द के लिये मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिये उत्साह देनेवाली सिद्ध हुई। सचमुच यह रात्रि ओंसच्चिदानन्दस्वरूप पर ब्रह्म की प्राप्ति के लिये साधन होकर जगत् के लिये कल्याणकारिणो बन गई ॥ ४० ॥

श्रद्धामयो मंगलमूर्त्तिबालः
क्षुधाव्यथां धैर्यबलेन जित्वा ।
निनाय तं वासरमीशभक्त्या
भक्त्या ह्यसाध्यं किमिवास्ति वस्तु ॥४१॥

मंगलमूर्ति इस बालक ने श्रद्धामय हृदयसे धैर्यपूर्वक भूख की पीडा को जीतकर ईश्वर भक्ति में उस दिन को व्यतीत किया। भक्ति से संसार में कौन सी वस्तु सिद्ध नहीं होती ? ॥ ४१ ॥

रुद्राक्षमालाललिताग्रकण्ठः
श्रीचन्दनालङ्कृतदिव्यभालः ।
स शुक्लवासा जनकेन साकं
सायं ययौ मन्दिरमिन्दुमौलेः ॥४२॥

उसने गले में सुन्दर रुद्राक्ष की माला डाली, दिव्य ललाटपर चंदन का तिलक किया, और शरीर पर श्वेत वस्त्र धारण किया, पश्चात् सायंकाल के समय यह पिताजी के साथ शिवालय गया ॥ ४२ ॥

यद् विप्रकृष्टं वरविप्रजुष्टं
ज़डेश्वराख्यं नवचार्वभिख्यम् ।

प्राच्यां दिशि क्रोशयुगं नगर्या-
बभौ सुशालं चलकेतुमालम् ॥४३॥

नगर की पूर्व दिशा की ओर दो कोस दूर एक जडेश्वर महादेव का शिवालय था, जिस में इस प्रसंग पर दूर दूर से विप्रगण आया करते थे। इस से उन दिनों इस मन्दिर की चहल पहल खूब बढ जाती थी। इस मन्दिर के सब मकानों को इन दिनों में खूब ध्वजा पताकाओं से सजाया जाता था ॥ ४३ ॥

सौराष्ट्रदेशे प्रथितप्रतिष्ठं
प्रतिष्ठितं श्रेष्ठिभिरीशनिष्ठैः ।
अधिष्ठितं यच्छतशो द्विजेन्द्रैः ।
श्रीचन्द्रचूडार्चनपुण्यरात्रौ ॥४४॥

काठियावाड़ के इस जडेश्वर–मंदिर की प्रतिष्ठा खूब बढ़ी चढ़ी थी। शंकर के भक्त बड़े २ सेठोंने इन मंदिर की स्थापना की थी, इसलिये शिवरात्रि व्रत के समय सैंकडों शिवभक्त ब्राह्मण आया करते थे ॥ ४४ ॥

चतुः सपर्या गिरिशस्य नक्तं
विधीयते भक्तगणैः सुभक्त्या ।
धर्मानुरक्तैर्विषयेष्वसक्तैः
शिवव्रताचारविधानदक्षैः ॥४५॥

धर्मानुरागी, विषयों से विमुख, शिवव्रत के अनुष्ठान को जानने वाले श्रेष्ठ भक्तगण भक्ति से शिवरात्रि में शिवजी की चार वार पूजा करते हैं ॥ ४५ ॥

शम्भोर्महिम्ना विजितान्तरेण
स्वधर्मदीक्षावनतत्परेण ।
द्वितीयरात्रिप्रहरस्य पूजा
व्यधायि मूलादिकशङ्करेण ॥४६॥

मूलशंकर का हृदय शिवजी की महिमा से आकृष्ट था, इसलिये इसने अपने धर्म नियमों का अच्छी प्रकार पालन किया और रात्रि के द्वितीय प्रहर की पूजा सफलता से की ॥ ४६ ॥

याते निशीथे व्रतिनो गृहस्थान्
व्रतीश्वरो मन्दिरपूजकेन्द्रम् ।
ददर्श निद्रावशतां गतान् स्वं
सविस्मयस्तातमपि प्रसुप्तम् ॥४७॥

आधी रात के बाद इस बालक ने आश्चर्य से देखा कि सारे गृहस्थ, पूजारी और अपने पिता भी निद्रा के वशीभूत हो गये हैं ॥ ४७ ॥

असौ कुमारो व्रतभंगभीरु-
र्निद्रारयं तं प्रबलं निवार्य ।
जलाभिषेकैर्नयनाम्बुजान्त-
रजागरीदीश्वरमूर्त्तियोगः ॥४८॥

अपना व्रत भंग न हो इस डर से यह कुमार आँखों में पानी के छींटों से निद्रा के प्रबल वेग को रोक कर मूर्ति पर ध्यान लगाता हुआ जागता रहा ॥ ४८ ॥

निमीलितब्राह्मणनेत्रमाले
दीपप्रभालोकितभव्यशाले ।
शिवाशयः शंकरभक्तबालो-
निशीथकालेऽथ विशालभालः ॥४९॥

नितान्तनिस्तब्धतया प्रशान्ते
महोन्दुराणां शिवमन्दिरान्तः ।
वृन्दं बिलान्निर्गतमालुलोके
सकौतुकाक्षं लघु निःशलाके ॥५०॥

मध्यरात्रि का नितान्त निस्तब्ध एवं प्रशान्त समय था। सब ब्राह्मण सो चुके थे; केवल मात्र दीपकों की प्रकाश-प्रभा से मंदिर आलोकित हो रहा था। ऐसे समय में कल्याणभावनाशाली इस विशालभालमण्डित बालकने आश्चर्यमय आँखों से बिल से निकले हुए चूहों को शिवजी के मंदिर में देखा ॥ ४९-५० ॥

कोप्युन्दुरुस्त्र्यम्बकमूर्त्तिशीर्षे
तस्थौ समारुह्य प्रलम्बलूमः ।
निवेदितं तण्डुलमोदकाद्यं
खाद्यं स खादँश्चटुलाग्रजिह्वः ॥५१॥

उन में से एक चूहा शिवजी के माथे पर चढ़ पूंछ नीचे लटका कर बैठ रहा, और दूसरा चूहा धरे हुए नैवेद्यों, लड्डु, चावल आदि को चंचल जीभ से खाने लगा ॥५१॥

अन्याखुवर्याः प्रतिमान्यभागे
स्वच्छन्दमानन्दनकेलिलीनाः ।
धन्यं निजं तन्निशि मन्यमाना-
नानासुभोज्याँल्लिलिहुः पदार्थान् ॥५२॥

कुछ चूहे मूर्ति के भिन्न भिन्न भागों पर स्वच्छन्द आनन्दलीला करते हुए उस रात में अपने जीवन को धन्य मानते हुए अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों को चखने लगे ॥ ५२ ॥

निभाल्य भालेन्दुतनूत्तमाङ्गं
तदुन्दुरुस्वांघ्रिकलंकितं तत् ।
श्रीशंकरे शंकितमानसोऽसौ
व्यतर्कयत्तार्किकबालसिंहः ॥५३॥

फिर यह तार्किक बालक शिवजी के शिर और शरीर को उन चूहों के चरणों से तिरस्कृत देखकर श्रीशंकर के विषय में शंकित मन से तर्कना करने लगा ॥ ५३ ॥
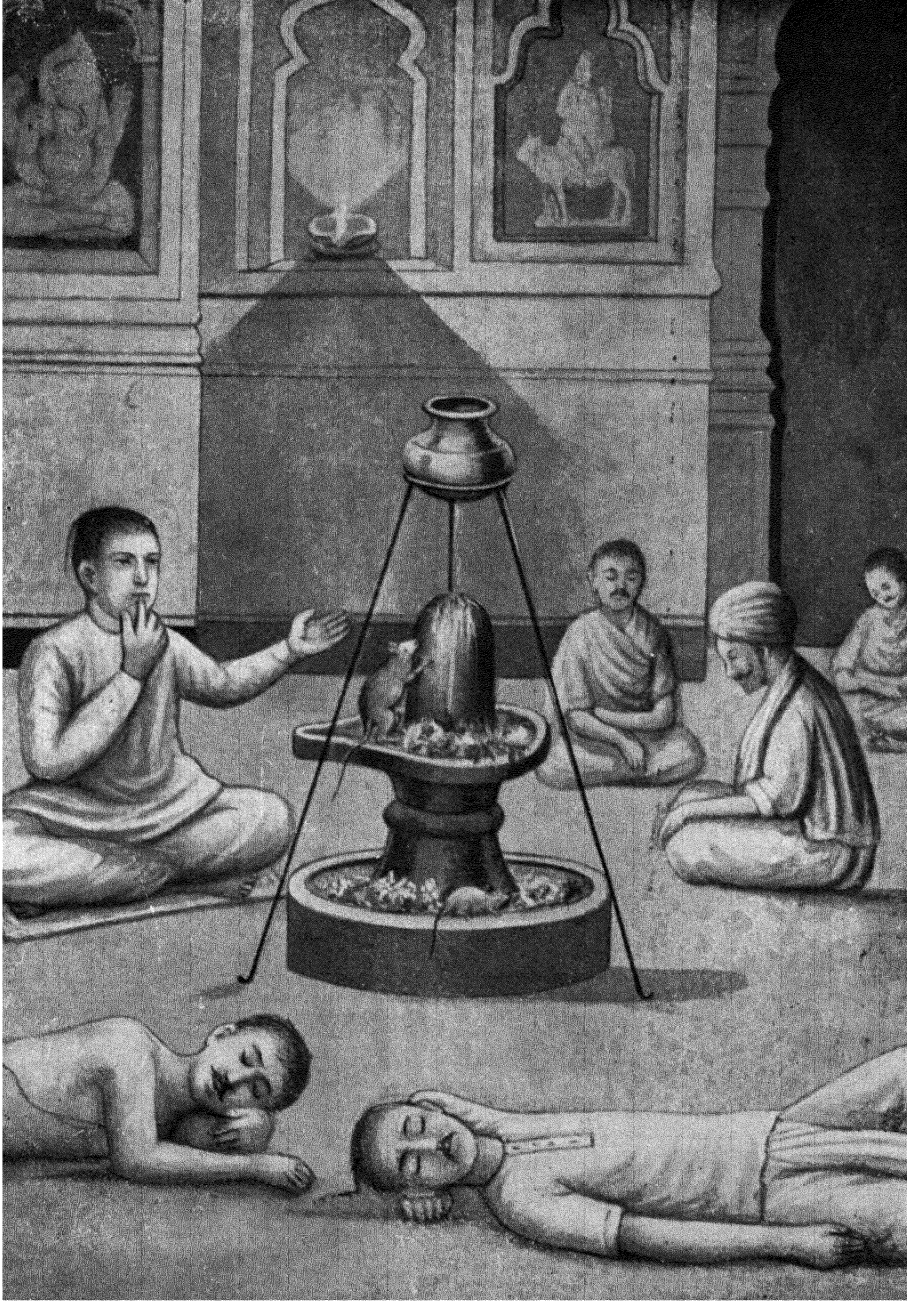
शिवरात्रि जागरण और ऋषिबोध।

त्रिशूलधारी बहुरुद्ररूपः
कैलासवासी किमयं महेशः ।
यद्विक्रमैर्विस्मितविश्वचित्तं
श्रुतं कथायामतिवीर्यवृत्तम् ॥५४॥

त्रिशूलधारी, अति उग्र स्वरूप, कैलासवासी क्या वे यही शिव हैं । जिनके पराक्रम से विश्व चकित हो गया है, जिन का वर्णन कथाओं में मैंने अनेक वार सुना है । क्या ये वही महेश्वर हैं ! ॥ ५४ ॥

यो दैत्यवृन्दद्विपदर्पनाशे
निरन्तरं सिंहसमानतेजाः ।
कथं स तुच्छाखुतिरस्कृताङ्गः
पराक्रमी नैव पराक्रमेत ॥५५॥

जो शिवजी दैत्यरूपी गजराजों के दर्प को दलन करने में निरन्तर सिंहसमान तेजस्वी हैं । वे भला तुच्छ चूहों से तिरस्कृत होनेपरभी पराक्रम क्यों न दिखाते ? ॥ ५५ ॥

बली बलीवर्दवराधिरूढः
पिनाकभृत्पाशुपतास्त्रशोभी ।
सलीलमाक्रम्य पुरत्रयं यो-
ददाह चण्डे निजकोपवह्नौ ॥५६॥

महेश्वर बड़े ही बलवान्, बैल पर चढ़ने वाले पिनाक नामक धनुष को धारण करने वाले और पाशुपतास्त्र से शोभित हैं, तथा जिन्होंने बड़ी सरलता से त्रिपुरासुर के तीन नगरों पर चढाई कर के अपने प्रचण्ड क्रोधाग्नि से उन को जला दिया था । क्या यह वे ही शिवजी हैं ? ॥ ५६ ॥

यः सर्गसर्गस्थितिनाशकारी
भर्गोऽपवर्गाभ्युदयाधिकारी ।

प्रशान्तरुद्रोभयपुण्यमूर्त्तिः
क्षुद्रापकृत्यं स कथं सहेत ॥५७॥

जो महेश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले हैं, जो तेजस्वरूप अभ्युदय और मोक्ष के देने वाले हैं, और जिन की पवित्र मूर्ति कभी प्रशान्त और कभी उग्र होती है; वे इस क्षुद्र चूहे का तिरस्कार कैसे सहन करते हैं ? ॥ ५७ ॥

यो मूषकेभ्योऽपि विरक्षितुं स्वां
मूर्तिं न शक्तो निजभक्तलोकान् ।
त्रातुं समर्थः शरणागतान् स्यात्-
कथंन्वसावुन्दुरुदूषितान्नः ॥५८॥

जो रुद्र चूहों से भी अपनी मूर्ति और अन्न को नहीं बचा सकता, वह अपने शरणागत भक्तों को कैसे बचावेगा ? ॥ ५८ ॥

एवं वितर्काकुलचित्तनौकां
शंकार्णवोत्तुङ्गतरङ्गमग्नाम् ।
स बालयात्री द्रुतमुद्दिधीर्षुः
प्राबोधयत्तातसुकर्णधारम् ॥५९॥

इस तरह से इस बाल-यात्री ने शंकारूपी समुद्र की ऊँची तरंगो में डगमगती, वितर्क वायु से व्याकुलचित्तरूपी नौका को जल्दी बचाने की इच्छा से अपने पितारूपी कर्णधार को जगाया ॥ ५९ ॥

किं वत्स ! वृत्तं कथमाकुलोऽसि
प्रजागरोऽयं तव बाधते किम् ? ।
अदर्शि किं वा चकितेन तादृक्
पित्रेति पृष्टः सुत एष नम्रः ॥६०॥

पिताने जाग कर अपने विनीत पुत्र से पूछा कि–हे पुत्र ! क्या बात है ? क्यों घबरा रहे हो, क्या तुम्हें नींद सता रही है ? क्या तुमने कुछ देखा है जिससे चकित प्रतीत हो रहे हो ? ॥ ६० ॥

श्रीमत्सु सुप्तेषु पितः प्रशान्ते
शिवालये नीरवताधिपत्ये ।
आरुह्य कायोपरि मूषकाली
हरस्य रेमे बुभुजे च भोज्यम् ॥६१॥

पुत्रने कहा:—पिताजी, आप सब जब सो गए थे, और चारों ओर नीरवता छा रही थी, तब उस समय मूर्ति पर चूहे चढ़ कर खेलने लगे और भोज्य पदार्थों को खाने लगे ॥ ६१ ॥

किं सत्यरूपो भगवान् गिरीशो-
विश्वंभरः शंकर एष साक्षात् ।
आहोस्विदेषा प्रतिमा तदीया
संराजते राजतरूपरम्या ॥६२॥

क्या ये गिरीश, विश्वंभर, सत्यस्वरूप साक्षात् शंकर भगवान् हैं ? अथवा इन की चाँदी की बनी यह मूर्ति है ॥ ६२ ॥

शक्ता न मूर्त्तिर्निजमस्तकस्थाँ-
स्तानुन्दुरान् भक्षितमिष्टभोगान् ।
पिनाकिनः ख्यातपराक्रमस्य
रुद्रस्य विद्रावयितुं यदेषा ॥६३॥

क्योंकि विख्यात पराक्रमशाली, पिनाकधारी रुद्र की यह मूर्ति अपने शिर पर बैठे हुए, खाद्य पदार्थ खाने वाले चूहों को भगाने में असमर्थ है ? ॥ ६३ ॥

शंकाप्रदोलामधिरूढमेतन्-
मनो मदीयं भ्रमति प्रकामम् ।

तत्तीर्थरूपाङ्ग ! गुरो ! निवार्या
शंकेयमस्याकुलबालकस्य ॥६४॥

तो हे पूज्य पिताजी ! शंका के झूले पर चढ़ा हुआ मेरा मन एकदम घूम रहा है; इस लिए इस व्याकुल बालक की शंका को आप दूर करें ॥ ६४ ॥

निशम्य वाणीं शुभतर्कशीलां
पुत्रस्य गांभीर्यमयीं तदानीम् ।
महेशभक्तस्य पितुर्नु मूर्ध्नि
किंकार्यमूढस्य पपात वज्रम् ॥६५॥

उस समय पुत्र की शुभ तर्क शालिनी गंभीर वाणी सुनकर महेशभक्त पिता के मस्तक पर मानों वज्रपात हुआ । इस लिये वे किंकर्तव्यमूढ़ हो गये ॥ ६५ ॥

शिवक्षपायां शिवमन्दिरान्तः
शिवाग्रतः शंकरभक्तिशाली ।
शिवव्रतं धारयतः सुतस्य
साश्चर्यचेताःश्रुतवान् गिरं ताम ॥६६॥

शंकरभक्त पिताने शिवरात्रि में, शिवमन्दिर के अन्दर, शिवजी के सामने, शिवरात्रि के व्रत को धारण करते हुए इस बालक की उस वाणी को आश्चर्यमय हृदय से सुना ॥ ६६ ॥

सर्वस्वनाशं समवेक्ष्य सूनुं
रोषारुणाक्षः समुवाच विप्रः ।
कुतर्कपंकैर्मलिनां स्वबुद्धिं
श्रद्धाम्बुना क्षालय मूढबुद्धे ! ॥६७॥

इस ब्राह्मण की आँखें लाल हो गईं, पुत्र का सर्वस्व नाश देखकर वह बोला कि हे मूर्ख, तेरी बुद्धि कुतर्करूपी कीचड़ से मलिन हो गई है, इस लिये तू इसे श्रद्धारूपी जलसे धो डाल ॥ ६७ ॥

नायं महादेव इहाग्रतस्ते
स्थिता परं तत्प्रतिमूर्तिरेषा ।
कैलासशैले स हि नित्यमास्ते
तुष्यन् स्वभक्ते निजमूर्त्तिभक्त्या ॥६८॥

यह तुम्हारे आगे जो मूर्ति है, यह साक्षात् महेश्वर नहीं हैं, किन्तु यह तो उन की केवल प्रतिमा है, वे स्वयं तो हमेशा कैलास पर्वतपर विराजमान रहते हैं। प्रसन्न होनेपर अपने मूर्तिपूजक भक्तों को दर्शन देते हैं ॥ ६८ ॥

जीवात्मनां ज्ञानजुषां कृते या
जडार्चना नैव फलं प्रसूते ।
तत्सेवया कः परमार्थलाभः
शिवोपलब्धिश्च कथं भवेन्नु ॥६९॥

पिता के इस वचन को सुनकर बालकने कहा कि जीवात्मा तो हमेशा ज्ञानाभिलाषी है, और मूर्ति जड़ है; अतः मूर्ति उस के ज्ञान की वृद्धि म किंचित् भी सहायता नहीं करती है। इस लिये इस मूर्ति को पूजा से मुक्ति एवं परमात्मप्राप्ति क्योंकर संभव है ? ॥ ६९ ॥

यः सच्चिदानन्दमहेशलाभे
मार्गो गरीयान् गुरुवर्य सत्यः ।
ब्रवीतु तं मां भगवन् मदीये
स्वान्ते तदालोकनतीव्रकांक्षा ॥७०॥

हे पितृवर्य ! सच्चिदानन्द शंकर की प्राप्ति के लिये जो सच्चा और श्रेष्ठ मार्ग हो उसे आप कृपया बतावें, क्योंकि मेरा अन्तःकरण उन के दर्शनों के लिये खूब लालायित हो रहा है ॥ ७० ॥

यथार्थरूपं गिरिशं न साक्षात्
कुर्यामहं यावदमुं स्वदृष्ट्या ।

तावद् विदध्यां नहि तत्सपर्या-
मित्यब्रवीद्धीरतया कुमारः ॥७१॥

जबतक कि मैं अपनी आँखों से सच्चे महेश्वर का साक्षात्कार न कर लूं, तबतक मैं इस मूर्ति की पूजा नहीं करूँगा, ऐसा धीरतापूर्वक उत्तर इस कुमार ने दिया ॥ ७१ ॥

सुयोग्यतर्काय सुताय योग्यं
तदुत्तरं दातुमनीश्वरोऽयम् ।
कृष्णः स्वकोपज्वलितान्तरोऽभूत्
फणीव मन्त्रागदयंत्रितौजाः ॥७२॥

पिता अपने पुत्र के योग्य तर्कों का उत्तर न दे सका, इस लिये जैसे मंत्र और औषधि से सर्प का ओज रोक दिया जाता है, वैसे ही कृष्णजी का क्रोधावेग हृदय में ही रुक गया ॥ ७२ ॥

स संशयान्दोलितमानसस्य
सूनोरत्रस्थानमयुक्तरूपम् ।
तत्रावधार्याधिककालमार्य-
स्तं प्राहिणोदात्मगृहं गृहीन्द्रः ॥७३॥

इस श्रेष्ठ गृहस्थ ने विचारा कि पुत्र का मन शंकाओं से डाँवाडोल हो रहा है, इसलिये पुत्र का अब यहाँ अधिक काल रहना योग्य नहीं है; अतः इन्हों ने इसे अपने घर भेज दिया ॥ ७३ ॥

स सत्यसंकल्पवतां वरेण्यो-
दृढप्रतिज्ञो व्रतिबालवीरः ।
भटेन साकं प्रविलम्बमार्गं
नक्तं विलंघ्यालयमाजगाम ॥७४॥

सत्य संकल्पियों में अग्रगण्य, दृढप्रतिज्ञ, ब्रह्मचारी बालक मूलशंकर एक सिपाही के साथ आधी रात के समय लंबा मार्ग लाँघ कर घर आ गया ॥ ७४ ॥

शिवव्रतस्थं तनयं निशाया-
स्तृतीययामे सहसागतं तम् ।
शिवालयात्सद्मनि वीक्ष्य माता
स्नेहाञ्चितैवं निजगाद मंजु ॥७५॥

शिव व्रत धारी पुत्र को रात के तीसरे पहर में ही अचानक शिवालय में से घर में आया देख कर स्नेहमयी माता ने इस प्रकार मीठे स्वर से कहा:—॥ ७५ ॥

व्रतं न खल्वद्य गृहाण वत्स ?
क्लेशं निराहारभवं कठोरम् ।
सोढुं न शक्तासि पुरेति किं नो
मयात्वमुक्तः सुकुमारगात्रः ॥७६॥

कि बेटा ! मैंने तुझे पहले ही कह न दिया था कि तू व्रत मत कर । उपवास का दुःख तुम सह न सकोगे, क्योंकि तुम्हारा शरीर अभी कोमल है ॥ ७६ ॥

इत्थं निगद्य जननी सुतवत्सला सा
मिष्टान्नजातमददात्तनयाय तूर्णम् ।
सोऽपि क्षुधापरवशोऽघसदुत्तमान्नं
प्रेम्णा प्रदत्तममलेन हृदा जनन्या ॥७७॥

ऐसा कह कर पुत्रवत्सला माता ने जल्दी ही अपने पुत्र को मिठाई खाने को दे दी । वह भूखा तो था ही, माता के प्रेम से दिये हुए अन्न को जल्दी से ही खा गया ॥ ७७ ॥

व्रतविभङ्गविकोपितचेतसो-
दिनयुगं न पितुः पुरतो व्रजेः ।
यदि कदापि गतो न वदेर्वचः
प्रियसुतेत्यवदज्जननी सुतम् ॥७८॥

खाने के बाद माता ने कहा कि:—देखो बेटा, तुम्हारे व्रतभंग के कारण पिताजी क्रोधित होंगे। दो दिन तक उन के पास भी मत फटकना, और कदाचित् उन का सामना हो ही जाय तो चुप ही रहना, एक अक्षर भी मत बोलना ॥ ७८ ॥

द्विजवंशजबालकहंसवरः
शुचिहंसरुचिं मृदुतल्पमणिम् ।
रुचिरेन्दुमुखः प्रतिगम्य ततः
प्रमुदाऽध्यशयिष्ट विशिष्टमनाः ॥७९॥

इस के बाद 'बहुत अच्छा' कह कर वह हंस के समान सफेद चादर वाली सुन्दर कोमल शय्या पर जा कर आनन्द से सो गया। यह बालक ब्राह्मण वंश में सूर्यतुल्य तेजस्वी था, चन्द्रमा जैसा मनोहर इस का मुखड़ा था, और हृदय इस का महान् पुरुषों का सा था ॥ ७९ ॥

भवन्ति भूतेश्वरभव्यभूतले
न वा कियत्यो घटना नवा नवाः ।
निरीक्ष्य ता जाग्रति ये विचक्षणा-
भवन्ति ते केऽपि विलक्षणेक्षणाः ॥८०॥

जगदीश्वर के इस विशाल जगत् में रोज कितनी ही नई नई घटनाएँ घटा करती हैं; परन्तु कुछ ही एक विलक्षण पुरुष होते हैं, जो उन्हें देखकर और उन से शिक्षा ग्रहण कर जगत् के लिये अपूर्व जागृति का संदेश देते हैं ॥ ८० ॥

तरोः फलं वीक्ष्य पतन्महीतलं
गतं पुरा न्यूटननामधारिणा ।
गुरुत्वशक्तिः प्रविचिन्त्य किं तदा
विचक्षणेनाविरकारि नो नृणाम् ॥८१॥

संसार में वृक्षों पर से गिरते हुए फलों को किस ने नहीं देखा है? परन्तु विलक्षण आँखों वाले विज्ञानी न्यूटन का वृक्षों से गिरते हुए फलों का देखना कुछ और प्रकार का था। इन्होंने इस फल-पतन से ही 'गुरुत्वाकर्षण' का आविष्कार किया ॥८१॥

विलोक्य जीर्णं जरया कदर्थितं
महात्मबुद्धस्स विरज्य संसृतेः ।
महेश्वरत्वं परिहाय काननं
जगाम निर्वाणपदं प्रलाभुकः ॥८२॥

बुढ़ापे के कारण जीर्णशीर्ण शरीर वालों को, मूर्दों को और सन्यासियों को राजा से लेकर रंक तक नित्य देखा करते हैं। परन्तु जगत् के महान् उद्धारक राजकुमार सिद्धार्थ का अवलोकन संसार के लिये विशिष्ट प्रकार का था। उन्हें इन दृश्यों ने संसार से विरक्त कर दिया। वे राजपाट छोड कर निर्वाण प्राप्ति की इच्छा से गहन कानन के पथिक बने ॥ ८२ ॥

अदन्तमाखुं शिवमूर्त्तिमस्तक-
स्थितं निभाल्यैव हि तण्डुलादिकम् ।
मनो दधौ बालकमूलशंकरो-
महेश्वराप्तावमलं निरन्तरम् ॥८३॥

ऐसे ही मूर्तियों पर चूहों का खेलना, नैवेद्यादि का उडाना क्या पुजारी लोग नहीं देखा करते थे ? किन्तु बालक मूलशंकर का निरीक्षण साधारण चर्मचक्षुओं का निरीक्षण न था। उस में थी विशेषता, जिसने मूलशंकर के पवित्र मन को सच्चे महेश्वर की प्राप्ति के लिये प्रबल प्रेरणा की ॥ ८३ ॥

स जर्मनीं प्रोज्ज्वलगौरवश्रिया
विभूषयिष्यन् बुधगेटिबालकः ।
दयानिधेर्लिस्बनभूमिकम्पन-
श्रुतेर्दयायामकरोद् विशंकनाम् ॥८४॥

जब लिस्बन का प्रलयकारी भूकंप हुआ था, और हजारों स्त्री पुरुष जलती ज्वाला के भेंट हुए थे, तब जर्मनी के मुख को उज्वल करने वाले गौरवशाली बुद्धिमान् बालक गेटी ने जगदीश्वर की दया पर ऐसी शंकाओं की भरमार कर दी कि योरुप में नास्तिकता की लहर चल पड़ी ॥ ८४ ॥

सकलजनताश्रेयोयानं समुन्नतिपर्वतं
पुरुषमणयो जायन्ते ये निनीषव उज्ज्वलाः ।
सुगुणनिकरं तेषां तादृग् दधन्निजशैशवे
जगति जयति ब्रह्मानन्दं प्रलिप्सुरयं बटुः ॥८५॥

सम्पूर्ण जनता के कल्याण रूपी यान को उन्नति के शिखर पर ले जाने वाले जो उज्ज्वल पुरुषरत्न उत्पन्न होते हैं, उनके सम्पूर्ण श्रेष्ठ गुणों को अपनी बाल्यावस्था में ही धारण करने वाला, ब्रह्मानन्द प्राप्ति का इच्छुक यह बालक संसार में विजयी हो ॥८५॥

इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य वटोदरार्यकन्या-
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षि-
शिवरात्रिप्रबोधो नाम चतुर्थः सर्गः ।

पञ्चमः सर्गः

उषसि व्रतधारिणः पिता
व्रतभंगं तनयस्य शुश्रुवान् ।
अधिकं स चुकोप सूनवे
कृपणो नेव धनापहारिणे ॥१॥

पिताने बडे सबेरे ही व्रतधारी पुत्र के व्रतभंग का समाचार सुना और वे पुत्र पर ऐसे ही अधिक क्रोधित हुए जैसे चोर पर कंजूस क्रोध करता है ॥ १ ॥

द्रुतमेत्य तदा सुताग्रतो-
ज्वलदङ्गारमयाम्बकद्वयः ।
स ततर्ज रुषा वृषावने
कृतमन्तुं तमलं गुरुर्यथा ॥२॥

कृष्णजी झट पुत्र के सामने आ उपस्थित हुए । उस समय उन की आँखें अंगारे की तरह जल रही थीं । वे अपने पुत्र को झिडकने लगे, जैसे नियम भंग करने वाले अपराधी शिष्य को गुरु धमकाता है ॥ २ ॥

स्वविचारदृढत्वधारणे
स्थिरधीःशैल इवाचलो दृढः ।
कुपितस्य पितुर्वचःशरान्
नतशीर्षं जगृहे स मौनभाक् ॥३॥

पुत्र अपने विचारों में निश्चल था । पर्वत की तरह अचल होकर क्रोधित पिताके वचन बाणों को मौन होकर तथा शिर झुका कर सहता रहा ॥ ३ ॥

ऋतवर्मधरं मनः शिशो-
विविशुर्नैव पितुर्वचःखगाः ।
किमु सिन्धुगभीरमानसं
प्रभवेद्दग्धुमहो वनानलः ॥४॥

बालक का मन सत्य के कवच को धारण किए था। अतः पिता के वाग्बाण उस में प्रवेश न कर सके; क्या जंगल की आग गहरे समुद्र को जला सकती है? ॥ ४ ॥

बुधबालकमूलशंकरः
प्रतिमापूजनतः पराङ्मुखः ।
उपवासमजीगणन्मुधा
तमजाकण्ठभवस्तनोपमम् ॥५॥

बुद्धिमान् बालक मूलशंकर प्रतिमापूजन से विमुख हो चुका था। इसलिये व्रतोपवास को इसने बकरी के गले के स्तन के समान व्यर्थ समझा ॥ ५ ॥

विमलेन विवेकचक्षुषा
प्रसमीक्ष्यानृतकर्म धर्मभृत् ।
यदमंस्त दृढं ततोऽन्यतो-
न विधिर्नेतुमलं कुतः पिता ॥६॥

धर्मधारी इस बालकने पवित्र विवेक बुद्धि से जिसे झूठा समझ लिया उस से इसे ब्रह्मा तक भी तिल मात्र भी नहीं हटा सकते थे, फिर इन बिचारे पिता की तो बात ही क्या? ॥ ६ ॥

असहिष्ट पराकपालने
बहुकष्टं शिशुरेष शंकरः ।
भविता पठनेऽपि विघ्नित-
स्तदयं बाल्यवया विमुच्यताम् ॥७॥

इति तस्य पितुः सहोदरो-
जननी स्नेहयुताश्च बान्धवाः ।
मधुरं तमबूबुधन् बुधा-
द्विजकृष्णं तनये रुषान्वितम् ॥८॥

तदनन्तर कृष्णजी के भाई, स्नेहमयी पत्नी तथा अन्य बन्धुबांधवों ने पुत्रपर क्रोधानल बरसानेवाले कृष्णजी को मधुरता से इस प्रकार खूब समझाया कि इस बिचारे बालक मूलने तो व्रतोपवास के लिये खूब ही कष्ट उठाया है। इस से इस के पठनपाठन में भी विघ्न होने की संभावना है, और यह अभी उम्र में भी छोटा है, अतः क्रोध मत कीजिए ॥ ७–८ ॥

अजनिष्ट मनो व्यथाकुलं
कुलकेतोरवलोक्य वर्त्तनम् ।
शिवभक्तपितुः कुलक्रमात्
प्रतिकूलं सुगिरां पटोर्बटोः ॥९॥

मूलशंकर के पिता महान् शिवभक्त थे और कुल–परम्परा के मानने वाले थे। इन के कुल की ध्वजारूप यह पुत्र तो बड़ा ही वाणी–चतुर था। इसने कुलपरम्परा के अनुकूल प्रतिमा पूजन के प्रतिकूल अपना व्यवहार बताया, अतः इस रुढिचुस्त पिता का मन दुःख से व्याकुल हो उठा ॥ ९ ॥

जनकात्मजयोर्विरोधिता
चिरकालं व्रतहेतुकाऽवृतत् ।
सुततर्कमतिं निजा मति-
र्न जयेदित्यमुना स संदधे ॥१०॥

पुत्र और पिता का यह व्रत सम्बन्धी विरोध चिरकाल तक चलता रहा। अंत में जब पिताने देखा कि अब पुत्र की तार्किक बुद्धि के आगे मेरी नहीं चल सकती, तब हारकर सलाह कर ली ॥ १० ॥

गुणवन्मतिमत्पितृव्यजं
　　सहजं प्रेम स निर्विशन्मुदा ।
विविधागमकर्मकाण्डिनां
　　विषयग्रन्थमधीतवान् सुधीः ॥११॥

मूलशंकर के चाचा बड़े ही गुणवान् और बुद्धिमान् थे। वे इस पर खूब ही स्नेह रखते थे। यह बुद्धिमान् बालक इन के स्वाभाविक स्नेह का उपभोग करता रहता था। अपने चाचा से ही यह अनेक शास्त्र और कर्मकाण्ड के ग्रन्थ पढ़ा करता था ॥ ११ ॥

निगमोक्तपदानि निर्ब्रुवत्
　　सनिरुक्तं सनिघण्टुघोषणम् ।
अपठन्मखकृन्निदर्शनं
　　रुचिमाञ्जैमिनिदर्शनं व्रती ॥१२॥

बाद में इस ब्रह्मचारी ने निघण्टु और निरुक्त का अध्ययन किया। पश्चात् पूर्वमीमांसा का भी सम्यक् प्रकार से अनुशीलन कर लिया ॥ १२ ॥

अनुसृत्य निजां कुलप्रथां
　　शुभविद्यां स समाप्य शर्मदाम् ।
विनयेन महोज्ज्वलो मणिः
　　कृतसंस्कार इवातिदिद्युते ॥१३॥

इसने अपनी कुल प्रथा के अनुसार कल्याणकारिणी सब शुभ विद्याएँ समाप्त कर ली। जैसे मणि संस्कार पाकर और भी अधिक चमकने लगता है, वैसे ही मूलशंकर विद्याओं के अध्ययन से विनीत होकर चमकने लगा ॥ १३ ॥

धृतिमान्मतिमान् श्रुतान्वितो-
　　गुणवान् स्नेहयुतो दयाञ्चितः ।

सुहृदां सुहृदां सतां मतः
स सदानन्दयिताऽभवद्गुणैः ॥१४॥

यह बालक धैर्य, बुद्धि, विद्या, गुण, प्रेम एवं दया आदि गुणों से मित्रों और सहृदय विद्वानों को निरन्तर प्रसन्न करने लगा ॥ १४ ॥

स चतुर्दशवत्सरे निजे
जितकन्दर्पशरीरसुन्दरः ।
चरितैर्विमलैर्महामना-
अजयत् पौरमनो मनोहरैः ॥१५॥

जब यह बालक चौदह वर्ष का हुआ, तब इस के शरीर की सुन्दरता कामदेव के समान हो गई। उस समय इस महामना बालकने अपने मनोहर पवित्र व्यवहारों से नगर-वासियों के मनों को जीत लिया ॥ १५ ॥

प्रतिकल्यमितो नदीवनं
प्रकृतिश्रीरुचिरं सुहृद्युतः ।
अमलाम्बुनि संतरन्नृणां
हृदयं नन्दयति स्म केलिभिः ॥१६॥

वह प्रतिदिन सबेरे मित्रों के साथ प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त नदी तट के उद्यानों में जाया करता था और वहाँ स्वच्छ जल में तरता हुआ मनुष्यों को प्रसन्न करता था ॥ १६ ॥

अथ शान्तवने शुचिव्रतः
कुहचिज्जातु स एककः शिवम् ।
उपलब्धुमतीव विह्वलः
सुचिरं भावयति स्म तन्मनाः ॥१७॥

यह पवित्र व्रतधारी बालक कभी कभी अकेला ही एकान्त शान्त बन में चला जाया करता था और वहाँ शंकर की प्राप्ति के लिये विह्वल होकर दीर्घ काल तक ध्यानमग्न होकर सोचा करता था ॥ १७ ॥

इति मातृपितृव्यलालितो-
जनकोग्राम्बकलोकितो व्रती ।
सवयोभिरलंकृतः समा-
अनयद् वेदमिताः सुखं हिताः ॥१८॥

इस प्रकार पूजनीया माता एवं चाचा द्वारा लालित पालित होकर मित्रों के साथ इस के सुखपूर्वक चार बर्ष और बीत गये। परन्तु पिता की उग्र दृष्टि तो इसपर अबतक भी शान्त न हो पाई थी ॥ १८ ॥

निजबन्धुनिकेतमेकदा
निशि नृत्योत्सवमात्मबान्धवैः ।
व्रतिवर्य इयाय वीक्षितुं
सुखदुःखोपगमे हि बन्धुता ॥१९॥

एकबार रात को अपने एक सम्बन्धी के घरपर नृत्योत्सव देखने के लिये ब्रह्मचारी मूलशंकर अपने परिवार के साथ गया था। क्योंकि सुख दुःख में शामिल होना ही पारिवारिक जनों का कर्तव्य है ॥ १९ ॥

अथ तत्समये निकेतनाद्
विषमोदन्तहरः सुकिंकरः ।
उपगम्य जगाद पीडितां
भगिनीं तीव्रगदेन बान्धवान् ॥२०॥

थोड़ी देर के बाद ही इन के घर का एक नौकर आया और उसने एक बड़ा शोकजनक समाचार सुनाया कि मूलशंकर की बहिन बहुत जोर से बीमार पड़ गई है ॥ २० ॥

तमुदन्तमरुन्तुदं तदा
विकलान्तःकरणा निशम्य ते ।

निलयं द्रुतमाययुर्महः
किमु कल्पेत हृदः सुखाय सः ॥२१॥

हृदयविदारक इस समाचार को सुनकर सभी कुटुम्बीजन व्याकुल हो गए और शीघ्र घर पहुँच गए। ऐसे समय में वह उत्सव क्या हृदय को सुखदायक हो सकता था ॥ २१ ॥

ददृशुस्तनयां कनीयसीं
बलवद्वैरिगदेन तापिताम् ।
चकितैर्नयनैः कुटुम्बिनो-
हरिणाक्रान्तमृगीमिवाकुलाः ॥२२॥

घर आ जाने पर सब ने चकित नेत्रों से छोटी लडकी को प्रबल रोग से पीडित देखा। जैसे सिंह से आक्रान्त हुई व्याकुल हरिणी को कोई चकित आँखों से देखता है ॥२२॥

उपचारविधानपण्डितै-
र्भिषजां सा प्रवरैश्चिकित्सिता ।
अगदैरतुलैः परं मुधा
विफलं ह्यौषधमायुषः क्षये ॥२३॥

चिकित्सा शास्त्र के विद्वान् बड़े बड़े वैद्यों ने इस कन्या की अपूर्व औषधियों से चिकित्सा की, पर सब व्यर्थ; क्योंकि आयुष्य नाश होने पर सब औषधियाँ बेकार हो जाती हैं ॥ २३ ॥

सु चतुर्दशवार्षिकीं तनुं
परिहायेह यशोमयीं ययौ ।
भगिनी व्रतिनः सुरालयं
स्वगुणानन्दितदेवमण्डला ॥२४॥

इस ब्रह्मचारी की बहिन चौदह वर्ष की छोटी उम्र में ही स्वर्ग पधार गई। इसने अपने गुणों से सब विद्वानों को मुग्ध कर लिया था ॥ २४ ॥

शरदिन्दुमुखीं शुचिस्मितैः
प्रसरत्कान्तिमनिन्द्यसुन्दरीम् ।
स्वरनिन्दितकोकिलस्वनां
व्रतिनः स्नेहमयीं सहोदराम् ॥२५॥

शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान इस का मुख था, इस की मुसक्यान में पवित्र सौन्दर्य था, यह अनुपम सुन्दरी थी, कोयल के समान इस का मीठा स्वर था। ब्रह्मचारी मूलशंकर की एक मात्र यह स्नेहमयी भगिनी थी ॥ २५ ॥

जननीहृदयाम्बुधिश्रियम्
पितृसन्मानसराजहंसिकाम् ।
हरिणीचललोचनाञ्चलां
कलहंसीचलनां गुणालयाम् ॥२६॥

माता के हृदय सागर की लक्ष्मी थी, पिता के उत्तम मानस–सरोवर की राजहंसी थी और हरिणी जैसे थे इस के नेत्रप्रान्त, कलहंसिनी सी थी इस की चाल; इस प्रकार यह कन्या मानों गुणों का आगार थी ॥ २६ ॥

द्विजकृष्णसुतां कनीयसीं
सुमनोलोकमुपेयुषीं द्रुतम् ।
अवलोक्य कुटुम्बिनोऽखिला-
रुरुदुर्मुक्तगलं शुचाकुलाः ॥२७॥

कृष्णजी की ऐसी छोटी कन्या अकाल में ही देवलोक चली गई थी। इस दुखद घटना को देख कर कुटुम्बी जन शोक से व्याकुल हो गए और मुक्तकण्ठ से रोने लगे ॥ २७ ॥

तनयाविरहार्त्तिविह्वला
जननी हा ! विललाप वत्सला ।

करुणार्द्रगिरा तथाविधं
विदलेद् वज्रमपि प्रभावितम् ॥२८॥

पुत्रीवत्सला माता लड़की के विरह से व्याकुल हो कर करुणा भरी वाणी से विलाप करने लगी, जिसे सुनकर वज्र भी पिघल जाय ॥ २८ ॥

तनुजे हृदयंगमे कथं
सहसा हा ! परिहाय मां गता ।
अपराद्धमये मयेदृशं
किमनावृत्तय एव यद्दिवम् ॥२९॥

हे प्यारी पुत्री, हाय मुझे छोड़कर एक दम कहाँ चली गई । हे बेटी, मैंने ऐसा कौनसा अपराध किया था कि तू सर्वदा के लिये स्वर्ग चली गई ॥ २९ ॥

जनकस्तु नितान्तवत्सल-
स्त्वयि वत्से ! सततं दयार्णवः ।
अयमग्रजमूलशंकरो-
भगिनीप्रेमवियोगविक्लवः ॥३०॥

हे पुत्री ! तेरे दयालु पिता तुझ पर कितना प्रेम करते थे । अब उन की क्या हालत होगी ? और यह तेरा बड़ा भाई बिचारा मूलशंकर तेरे पवित्र प्रेम के वियोग से व्याकुल हो रहा है ॥ ३० ॥

भवनोपवनं मनोज्ञया
कलकण्ठ्येव विना त्वयाऽधुना ।
पितृकाननकल्पदारुणं
नितरां धावति मां नु खादितुम् ॥३१॥

अरी, ये सुन्दर भवन रूप उपवन तुझ सी मनोहर कोकिलकंठी के बिना अब स्मशान तुल्य ड़रावने लग रहे हैं, और मानों हमें खाने को दौड़ से रहे हैं ॥ ३१ ॥

स सुवर्णशलाकपञ्जरे
मधुरालापमनोरमः शुकः ।
अशिता फलकन्दमंग तत्
त्वदृते हा ! शुकवत्सले ? कथम् ॥३२॥

हे अपने तोते को प्यार करने वाली पुत्री ! सोने के पिंजरे में पड़ा मधुर आलाप करने वाला यह तोता तेरे बिना कन्दमूल फल कैसे खायगा ॥ ३२ ॥

हरिणी मृगचारुलोचने !
जलमन्नं त्वदृते न गृह्णती ।
भवतीमनिरीक्ष्य साम्प्रतं
वद सा कां नु दशां गमिष्यति ॥३३॥

हे मृग के समान सुंदर आँखोंवाली मेरी दुलारी, यह बिचारी हरिणी तेरे बिना अन्न जल भी कभी ग्रहण नहीं करती हैं। अब तुझे न देखकर कहो, उस की क्या हालत होगी ॥ ३३ ॥

रजनीदिनसन्धिवेलयो-
स्त्वमदुग्धा मधुरं पयो नु याम् ।
कपिला तव सा पयस्विनी
विरहार्त्ता न तृणं चरिष्यति ॥३४॥

सायं प्रातः तू जिस कपिला गौ का मधुर दूध दुहा करती थी, वह अब तेरे वियोग से दुखी होकर घास नहीं खायगी ॥ ३४ ॥

सुमनोनवमालिकासहाः
स्वकराम्भोरुहरोपिता इमाः ।
कुसुमै रचयेयुरुत्तमै
रयि कस्याः शिरसो नु मण्डनम् ॥३५॥

गुलाब, चमेली और सेवती आदि के पौदे जो तुमने आंगन में लगाए हैं, उस के सुन्दर फूलों से अब कौन अपने मस्तक को सजाया करेगा ॥ ३५ ॥

मृगदंशकबालकाय का
नवतक्राञ्चितपोलिजेमनम् ।
मृगवत्सदये त्वया विना
वितरेदुन्मनसे बतानिशम् ॥३६॥

हे पशुओं के बच्चों पर दया करने वाली पुत्री, तेरे बिना व्याकुल इस कुत्ते के बच्चे को ताजे मट्ठे के साथ अब रोटियाँ कौन खिलाया करेगा ? हाय शोक ! ॥ ३६ ॥

सकलं भवसौख्यसाधनं
विमलस्नेहमयाश्च बान्धवाः ।
पशुपक्षिविगुञ्जिते गृहे
किमिवासीन्न यतो दिवं गता ॥३७॥

बेटी, तुम्हारे घर में क्या नहीं था कि तू स्वर्ग को सिधार गई ? संसार के सभी सुखसाधन तेरे लिये उपस्थित थे। विमल प्रेम करने वाले भाई बन्धुओं से तेरा घर भरा था और सदा तुम्हारा आंगन पशुपक्षियों से गुंजायमान रहता था ॥ ३७ ॥

विरहानलदग्धमानसान्
मृगकीरप्रियबान्धवानिमान् ।
मृदुमञ्जुलमेघनिस्वनै-
रमृतैस्तर्पय नः प्रियम्वदे ॥३८॥

हे मधुरभाषिणी, तेरे वियोग से हरिण, तोते, गाय आदि पशु पक्षी और प्रिय बांधवगण जल रहे हैं। जरा तू इन्हें अपने कोमल, गंभीर और मंजुल वचनामृत से शान्त तो कर ॥ ३८ ॥

इति मर्मभिदं निरर्गलां
जननीशोकगिरं निशम्य ताम् ।

जडमूर्त्तिनिभस्स तस्थिवान्
मनसा चिन्तितवानिदं व्रती ॥३९॥

जब माता अपनी प्यारी पुत्री के शोक में विह्वल होकर हृदयविदारक लगातार विलाप कर रही थी, तब एक ओर ब्रह्मचारी मूलशंकर जड़मूर्ति सा खड़ा खड़ा इस प्रकार सोच रहा था ॥ ३९ ॥

किमिदं तनुभृत्कलेवरं
शरदम्भोधरखण्डचंचलम् ।
रुचिराम्बुधिबुद्बुदोपमं
परिणामेऽस्ति नितान्तभंगुरम् ॥४०॥

क्या मनुष्यों का शरीर शरद्कालीन बादल के टुकड़े की तरह चंचल है ? क्या यह शरीर समुद्र के बुदबुदे की तरह क्षण में ही अंत में सर्वथा विनश्वर है ॥ ४० ॥

मरणं यदि मेऽपि निश्चितं
विपदो मोचनयोगमार्गणम् ।
करणीयमवश्यमात्मनो-
न पुनर्जन्म लभेय दुःखदम् ॥४१॥

यदि मेरा भी मरण निश्चित है तो इस मृत्यु के छूटने का कोई न कोई उपाय अवश्य करना चाहिए, जिससे दुःखदायक जन्ममरण के चक्र में न पड़ना पड़े ॥ ४१ ॥

सकलेन्द्रियभोगसम्पदो-
विषया आपतनं हि सुन्दराः ।
परिणामविषोपमा न्वहो
अमृतं मृग्यमतो मया ध्रुवम् ॥४२॥

सचमुच सब इन्द्रियों के भोगविलास तभीतक अच्छे लगते हैं, जब तक कि उन का नाश नहीं हो जाता, क्योंकि परिणाम तो इनका विषतुल्य ही है। इसलिये अमरपद पाने के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४२ ॥

स विरक्तमहात्मबालको-
बहुचिन्ताब्धितरंगशङ्गितः ।
भगिनीमरणस्य जन्मनि
प्रथमं क्लेशदशोकमाप्तवान् ॥४३॥

वह महान् धैर्यशाली बालक विरक्त हो गया और अथाह चिन्ता–सागर के तरंगों में गोते खाने लगा, क्योंकि बहिन के मरने का क्लेशदायक शोक अपने जीवन में उसने पहली बार ही अनुभव किया था ॥ ४३ ॥

बटुरात्ममनःसुदर्पणे
विमले शंकरदर्शनाकुले ।
जनिमृत्युरथाङ्गमुक्तये
विषयत्यागमुपायमैक्षत ॥४४॥

शंकर दर्शन के लिये उत्कंठित इस ब्रह्मचारी ने अपने पवित्र अंतःकरणरूप दर्पण में जन्ममरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिये विषयवासनाओं के त्याग को ही एकमात्र उपाय देखा ॥ ४४ ॥

मृतिकालरुजानियन्त्रणा-
परिरक्षाऽक्षयसौख्यसाधिका ।
नहि यावदवाप्यते मया
शुभमुक्तिस्समुपास्यते तपः ॥४५॥

और उसने निश्चय किया कि–मैं जबतक मरण काल के दुःख की पीड़ा से बचाने वाली और अक्षय आनन्द को सिद्ध कराने वाली मंगल कारक मुक्ति को प्राप्त न कर लूंगा, तब तक तपश्चरण करता ही रहूंगा ॥ ४५ ॥

भवदुःखनिवारणक्षमं
परमानन्दपदं निरंजनम् ।

शिवशंकरमीश्वरं यदा
शममाप्स्यामि लभेय तं तदा ॥४६॥

जब मैं सांसारिक त्रिविध तापों के निवारण करने में समर्थ, परम आनन्द के धाम, निरञ्जन कल्याणकारी परमेश्वर का साक्षात्कार कर लूंगा, तभी शान्ति प्राप्त करूँगा ॥ ४६ ॥

मनसेति विमृश्य मारहा
निजसंकल्पदृढेन तत्स्थले ।
स बभूव निगूढभावनः
शिवनिर्वाणपदं प्रलाषुकः ॥४७॥

उसी जगह कामदेव को जीतने वाले इस ब्रह्मचारी ने मन में दृढ संकल्प कर लिया और अपने भावों को गुप्त रख कर कल्याणमय निर्वाण पद का अभिलाषी हो गया ॥ ४७ ॥

भगिनीमृतिकालसंस्मृति-
र्हृदयान्नापगतैव साधुना ।
लघु यावदरुन्तुदाऽपरा
घटना तावदभूदहो गृहे ॥४८॥

बहिन की मृत्यु की स्मृति अभी तो ताजी ही थी, कि इतने में एक और हृदय-विदारक घटना घर में घटी ॥ ४८ ॥

द्विजमण्डलमण्डनः सतां
हृदयानन्दकरो दयानिधेः ।
हृदयालुपितृव्यपुंगव-
स्त्रिदिवेशातिथितां गतोऽस्य हा ॥४९॥

ब्राह्मणों में अलंकाररूप, सब सज्जनों को प्रसन्न करने वाले दयालु, मूलशंकर के चाचा, हा ? स्वर्ग पधार गए ॥ ४९ ॥

शिशुकालत एव योऽकरो-

दतिहार्दं शिशुमूलशंकरे ।

प्रियतामृतसागरोऽगमत्

सहसा तं परिहाय पञ्चताम् ॥५०॥

मूलशंकर के चाचा इस पर बाल्यावस्था से ही हार्दिक प्रेम करते थे। प्यार के सागर ये चाचा इसे छोड़ कर अचानक चल बसे ॥ ५० ॥

गुणिपण्डितगीतसद्गुणः

सदसत्तत्त्वविवेकभृन्मतिः ।

जनकादधिकं स्वबन्धुजे

विमलप्रेमकरो दिवं गतः ॥५१॥

मूलशंकर के स्वर्गवासी चाचा के गुण बड़े बड़े सज्जन गण गाया करते थे। सद सद्विवेकशालिनी इन की बुद्धि थी। वे अपने भतीजे पर पिता से भी अधिक प्रेम रखते थे ॥ ५१ ॥

जनकोपमवन्दनीयस-

च्चरणाम्भोजपितृव्यवर्य हे !

तनयं भवदंकलालितं

क्व नु यातं भवता विहाय हा ! ॥५२॥

चाचा की मृत्यु के पश्चात् मूलशंकर इस प्रकार विलाप करने लगाः—हे पिता के समान वंदनीय चाचाजी, अपनी गोद में लालित पालित इस पुत्र को छोड कर आप कहाँ गये ? ॥ ५२ ॥

भवदेकमना मनागपि

प्रियतापात्रमयं भवद्दृदः ।

न कदापि गतो विरुद्धतां
स कथं हेयपदं नु लम्भितः ॥५३॥

आप के हृदय का एक मात्र प्रेमपात्र और आप की ही सदा भक्ति करने वाला यह आप का बालक आप से कभी जरा भी तो विरुद्ध न हुआ था ! फिर उसे आप हेय समझ कर के क्यों छोड गये ॥ ५३ ॥

विपदाकुलचेतसे नु मे
हृदयाश्वासनदायकं वचः ।
दिविषत्परिषत्सदस्यतां
त्वयि याते वद को वदिष्यति ॥५४॥

अब जब कि आप देव सभा के सदस्य बनने के लिये स्वर्ग पधार ही चुके, तब विपत्ति से व्याकुल इस बालक के हृदय को कौन धैर्य्य बंधायेगा ॥ ५४ ॥

भवतां भवतापहारिणीं
जनकल्याणमयीं गिरां झरीम् ।
अमृतां जनतां प्रशुश्रुषीं
विरहोत्कामयि सान्त्वयेन्नु कः ॥५५॥

त्रिविध तापों को हरने वाली, जनमंगलकारिणी, अमृतमयी आप की वाणीधारा को सुनने वाली विरहाकुल जनता को आप के बिना कौन सान्त्वना देगा ॥ ५५ ॥

अतिपुण्यचरित्रचन्द्रमः -
करमालामृततर्पितामरः ।
अमरेन्द्रनिमन्त्रितः सभां
समलङ्कर्त्तुमितो गतः किमु ।! ॥५६॥

अत्यन्त पवित्र चरित्ररूपी चन्द्रमा के किरणामृत से आपने देवों को तृप्त किया था, क्या इसी लिये देवेन्द्र ने आप को बुलाया और आप देवसभा को शोभाने के लिये चले गये ॥ ५६ ॥

प्रियबन्धुरसौ गता स्वसा
प्रियपुत्रोऽत्रभवानमूमनु ।
त्रिदिवं त्वरया गतौ प्रियौ
भवनं सम्प्रति मे न रोचते ॥५७॥

भाई से प्रेम करने वाली बहिन चली गई। उस के बाद ही पुत्र के समान भतीजे पर प्रेम करने वाले चाचा भी चले गये। इन दोनों प्रिय व्यक्तियों के स्वर्गस्थ हो जाने से अब मुझे यह घर अच्छा नहीं लगता ॥ ५७ ॥

जगतीगतवस्तुवैभवं
चपलं शैवलिनीरयोपमम् !
अनुराग इहाखिले चले
सफलो नैव कृतो भवत्यहो ॥५८॥

संसार के समग्र पदार्थ तथा ऐश्वर्य नदी के पानी की तरह चंचल हैं। अहो ! इन चंचल पदार्थों पर किया हुआ अनुराग कभी सफल नहीं हो सकता ॥ ५८ ॥

निजपूज्यपितृव्यपञ्चता-
भवशोकेन विहस्तमानसः ।
विलपन्निति तद्वियोगवान्
न शमं प्राप कियत्पलं गुणी ॥५९॥

अपने पूज्य चाचा की मृत्यु से हुए शोक के कारण इस का हृदय व्याकुल हो उठा और उन के वियोग से विलाप करता हुआ यह बुद्धिमान् बालक कुछ देर तक धैर्य प्राप्त न कर सका ॥ ५९ ॥

सहजामथ धीरतां क्षणात्
सुविवेकी बद्धमूलशंकरः ।

प्रतिपद्य धिया पवित्रया
निरणैषीज्जनिमद्विनाशिताम् ॥६०॥

थोडा देरके बाद विवेकी ब्रह्मचारी मूलशंकरने स्वाभाविक धैर्य धारण किया, और पवित्र बुद्धि से निश्चय किया कि " सब ही उत्पत्तिमान् पदार्थ क्षणभंगुर हैं । " ॥ ६० ॥

स्वसृरत्नपितृव्यपंचतां
कति पश्यन्ति जना न संसृतौ ।
क इहास्ति स निर्णयेन्नु यो-
मरणान्मोक्षगवेषणां तदा ॥६१॥

बहिन और चाचा की मृत्यु इस संसार में भला कौन नहीं देखता ? परन्तु ऐसा कौन हुआ जिसने मरण देखकर मुक्ति का अन्वेषण किया हो ॥ ६१ ॥

इदमेव विशिष्टमन्तरं
नररत्ने च पृथग्जने च यत् ।
विपदः प्रतिबुध्य स द्रुतं
यतते दिव्यपदोपलब्धये ॥६२॥

साधारण मनुष्यों और महापुरुषों में यही तो अन्तर होता है कि महापुरुष विपत्तियों से शिक्षा ग्रहण कर मोक्ष पद के लिये यत्न करते हैं ॥ ६२ ॥

शुभमानवजीवनं यदा
गृहसांसारिककर्मणीतरे ।
गमयन्ति मुधा तदा नृणां
मणयो लोकहिते नियुञ्जते ॥६३॥

साधारण लोग कल्याणकारी मानव जीवन को सांसारिक कार्यों में एवं गृहस्थी के झमेलों में व्यर्थ ही गँवा देते हैं; तब महापुरुष लोककल्याण में अपने जीवन को लगा देते हैं ॥ ६३ ॥

अमुना घटनाद्वयेन स-
व्रतिवैराग्यकृशानुरुज्ज्वलन् ।
सुविचारसमिन्धनोऽमले
पुनरुग्रं रुरुचे हृदन्तरे ॥६४॥

इन दोनों घटनाओं से इस ब्रह्मचारी के निर्मल हृदय में उत्तम विचाररूप समिधाओं के संघर्षण से वैराग्य की प्रबल अग्निज्वाला भभक उठी ॥ ६४ ॥

सकलेन्द्रियसंयमेन्धनं
सुविवेकारणिमन्थनोत्थितम् ।
स्थविरा मुनयो विरक्तिम-
ज्वलनं यं ज्वलयन्ति यत्नतः ॥६५॥

तमयं तरुणं वयो दधत्
सहजज्ञानसुदारुदीपितम् ।
यमिनां प्रवरो युवा व्रती
सुखतो विन्दति पुण्यवान् कृती ॥६६॥

वृद्ध मुनिगण बड़े ही यत्न से सम्पूर्ण इन्द्रियों के संयम रूप इन्धनों द्वारा विवेक की अरणियों की रगड़से जिस वैराग्याग्नि को जलाते हैं; उसी वैराग्याग्नि को इस पुण्यवान्, चतुर, युवा, संयमी ब्रह्मचारीने विना परिश्रम के ही स्वाभाविक-ज्ञान की लकड़ियों से प्रदीप्त कर दी ॥ ६५-६६ ॥

शुचिसंयमतीर्थशालिनी-
मृतनीरां करुणातरंगिणीम् ।
स तु शीलतटात्मनिम्नगा-
मभिषेकाय विवेश संयमी ॥६७॥

यह संयमी पवित्र संयम के घाटोवाली, सत्यजल से भरी हुई करुणा की तरंगों से शोभित, शीलरूपी तटों के बीच में बहती हुई आत्मसरिता में स्नान करने के लिये उतरा ॥ ६७ ॥

मनसोऽशुचितां प्रमोहजां
शिवसत्याम्बुतरङ्गमालया ।
अपनीय विशुद्धधीर्मुनिः
शुचिवैराग्यमयाम्बरं दधौ ॥६८॥

पवित्र बुद्धिवाले इस बालमुनिने मन की मोहजन्य मलिनता को कल्याणकारी सत्य-जल की तरंगों से धो दिया और इस के बाद पवित्र वैराग्यवस्त्र को पहना ॥ ६८ ॥

प्रणवाक्षरमालया लसन्
हृदि रुद्राक्षसवर्णया सदा ।
शिवशंकरमाप्तुमातुरः
शिववर्णस्मरणं चकार सः ॥६९॥

इसने कण्ठ को रुद्राक्ष माला के समान प्रणवाक्षर की माला से अलंकृत किया । और निरन्तर शिव-शंकर की प्राप्ति की उत्कण्ठा से उन के नामों की माला जपने लगा ॥६९॥

प्रतिवासरमात्मशान्तये
विजनं तीरवनं प्रगम्य सन् ।
निजमंगलजीवनोचितां
वरणीयां सरणिं व्यचिन्तयत् ॥७०॥

यह आत्मशांति के लिये प्रतिदिन एकान्त, शान्त जंगल में जाया करता था और वहाँ अपने जीवन के लिये मंगलकारक, स्वीकार करने योग्य मार्ग सोचा करता था ॥ ७० ॥

जनको दृढमूर्त्तिपूजक-
स्तनयस्तत्प्रतिमार्चनारिपुः ।

धनमानयशोऽर्थिपुंगवः

स पिता तद्विमुखो यतिस्सुतः ॥७१॥

पिता तो कट्टर मूर्तिपूजक है, और उसका पुत्र मूर्तिपूजा का कट्टर शत्रु। पिता धन, मान और प्रतिष्ठा का अभिलाषी है, और पुत्र इन सब बातों का विरोधी संन्यासवृत्ति का इच्छुक है ॥ ७१ ॥

उपवासजपादिसाधने

बहिरङ्गे निपुणस्स जन्मदः ।

तनुजस्तु वृषान्तरङ्गके

प्ररुचिस्संयमसाधने कृती ॥७२॥

पिता उपवास, जप, तप आदि बाह्य आडम्बरों में निपुण है, और पुत्र की रुचि तो अन्तरंग संयम के साधनों में है ॥ ७२ ॥

मतिभेदविरुद्धचेतसो-

र्विमलद्योततमिस्रयोरिव ।

सुतजन्मदयोः कथं भवेद्

अमलं प्रेममयं नु मेलनम् ॥७३॥

इन दोनों की विचार सरणि अंधकार और प्रकाश की तरह परस्पर अति भिन्न है। इस प्रकार पुत्र और पिता में प्रेमपूर्वक मेल कैसे हो? ॥ ७३ ॥

भवबन्धनशृङ्खलोपमं

निजपाणिग्रहमंगलक्रमम् ।

युवकस्स मुमुक्षुरात्मधीः

सुतरां नाभिललाष दुःखदम् ॥७४॥

यह युवक आत्मरत मोक्षाभिलाषी था, इसलिये विवाहसंस्कार को यह अपने लिये सांसारिक बन्धनों में फँसानेवाली बेड़ी समझता था। अतः यह इस दुःखदायी विवाह की अभिलाषा कैसे कर सकता था ॥ ७४ ॥

न सुवर्णमयीं सुरूपिणीं
गृहसृक्कां जनहृत्प्रलोभिनीम् ।
चकमे कमनीयरूपवान्
नचिकेता इव भाग्यवान् व्रती ॥७५॥

नचिकेता की तरह सुन्दर स्वरूपवाला यह भाग्यवान् ब्रह्मचारी मनुष्यों के मन को डिगानेवाली, स्वर्णमयी सुन्दर गहस्थी की माला को नहीं चाहता था ॥ ७५ ॥

अतिसावहितेन चेतसा
शिवसंकल्पमिमं जुगोप सः ।
परमात्मगतं स्वबान्धवान्
हृदयावेगतया न्यवेदयत् ॥७६॥

मूलशंकरने बड़ी सावधानी से अपने इस कल्याणकारक विचार को छिपा रक्खा था, परन्तु हृदय के अत्यन्त आवेग के कारण अब अपने बन्धुबांधवों से छिपा न सका ॥ ७६ ॥

स कदाचिदमन्दचिन्तया
मरणक्लेशविमुक्तिसाधनम् ।
विबुधाननुयुक्तवान् सुधी-
र्विषयेभ्योऽतिपराङ्मुखोऽनिशम् ॥७७॥

बुद्धिमान् मूलशंकर विषयों की ओर से दिनोंदिन पराङ्मुख होता जाता था । एक दिन इसने विद्वानों से पूछा कि मृत्यु के महान् क्लेश से छूटने का क्या उपाय है ? क्यों कि इस सम्बन्ध में मुझे बड़ी चिन्ता रहती है ॥ ७७ ॥

ततदृदयोच्चभावना-
स्सुहृदस्स्नेहिजनाश्च तत्पितुः ।

अनयन् सपदि श्रवोऽन्तिकम्
सुतसंकल्पममुं व्यथाकरम् ॥७८॥

मित्रों तथा परिवार के दूसरे व्यक्तियोंने इस के हृदय की उच्च भावनामय बातें ध्यान से सुनीं। यह बात उन्होंने झट ही उस के पिता के पास पहुँचा दी, और पिता पुत्र के संकल्प को सुनकर बड़ा दुःखी हुआ ॥ ७८ ॥

पितरौ तनयं विरागिणं
प्रतिबन्धुं सुविवाहरश्मिभिः ।
त्वरयाऽस्य विरक्ततानल-
प्रशमायैव तदा प्रयेसतुः ॥७९॥

पिताने भी इस विरक्त पुत्र को विवाह की रज्जु से बांध देना चाहा, और जल्दी उस के वैराग्यरूपी अग्नि को शान्त कर देने का प्रयत्न करने लगे ॥ ७९ ॥

निजकार्यधुरं स भूमिभुक्
तनये धातुमियेष दुर्वहाम् ।
परमेष विरक्तमानसः
पितुरिच्छां न सुतोऽन्वमन्यत ॥८०॥

मूलशंकर के पिता जमींदार थे, इसलिये इन्होंने अब अपनी सारी जमींदारी के भार को पुत्र पर लाद देना चाहा परन्तु इस का मन तो विरक्त था, इसलिये पिता की इच्छा को स्वीकार न कर सका ॥ ८० ॥

अथ तस्य विवाहमंगलं
लघु कर्तुं पितरौ समुत्सुकौ ।
उपविंशशरद्वयोजुषः
शुभवाग्दानकृते समुद्यतौ ॥८१॥

इस के बाद मूलशंकर के माता पिता इस का विवाह-संस्कार जल्दी करने के लिये उतारु हो गये, और मूलशंकर के १९वें वर्ष में वाग्दान की तैयारी करने लगे ॥ ८१ ॥

अवगम्य तमाग्रहं तयो-
रतिचिन्ताकुलचेतसाऽमुना ।
विनयेन निवेदितः पिता
निजमित्रैरिति वाग्विशारदैः ॥८२॥

माता पिता के विवाह सम्बन्धी आग्रह को मूलशंकर जान चुके थे। इसलिये ये खूब चिन्तित हो गये और अपनी बातचीत में चतुर मित्रों के द्वारा विनयपूर्वक पिताजी के पास निम्न निवेदन किया ॥ ८२ ॥

वचनार्पणकार्यमञ्जसा
न विधेयं भवता बुधेन तत् ।
करपीडनकालतो मनाक्
पुरतः कार्यमिदं मनीषिणा ॥८३॥

" आप तो बड़े ही विद्वान् हैं, इसलिये वाग्दान में जल्दी न करें। विवाह के कुछ दिन पहले वाग्दान की रीति की जा सकती है ॥ ८३ ॥

इति बन्धुजनानुमोदितः
शरदन्तं व्यरमद् विवाहनात् ।
उपलभ्य सुयोगमीदृशं
स तु काशीगमनं न्यवीविदत् ॥८४॥

कृष्णजी ने भी बन्धुजनों की सम्मति से एक वर्ष तक विवाह-समय के लिये वाग्दान की क्रिया स्थगित कर दी। इधर मूलशंकरने भी सुदूर सुयोग पाकर पिता से काशी जाने का निवेदन किया ॥ ८४ ॥

वाराणसीगमनमस्य पिताऽनुमेने
माता कथञ्चिदपि नात्मजवत्सलेयम् ।

अभ्यर्णदेशनिवसद्विबुधात्ततोऽसा-
वध्येतुमागममयाचत मातुराज्ञाम् ॥८५॥

काशी जाने के लिये पिताजी की सम्मति तो मिल गई। परन्तु पुत्रवत्सला माता तो किसी भी प्रकार काशी जाने की आज्ञा न दे सकी। इस के बाद मूलशंकरने कोई और रास्ता न पाकर माता से समीप के गाम में रहनेवाले एक पण्डित से शास्त्रों के पढ़ने के लिये आज्ञा मांग ली ॥ ८५ ॥

पित्रोराज्ञां प्राप्य विद्याभिलाषी
विद्वत्पार्श्वं हर्षतोऽयं प्रगम्य।
मेधाशाली शास्त्रसिद्धान्तसारं
कञ्चित्कालं पुण्यशीलोऽध्यगीष्ट ॥८६॥

मूलशंकर विद्याभिलाषी तो थे हीं, अतः मा बाप की आज्ञा पाते ही प्रसन्नता के साथ उस विद्वान् के पास गये और बुद्धिमान् तथा पवित्राचरण होने के कारण कुछ ही समय में यह शास्त्रों के सिद्धान्त को जान गए ॥ ८६ ॥

वैराग्याग्निप्रोज्ज्वलज्ज्ञानदीपः
संकल्पं तं मानसे दीप्यमानम्।
उद्वाहेच्छा नास्ति मे सेति तीव्रं
प्राज्ञस्याग्रे व्यावृणोत्सद्गुरोः सः ॥८७॥

इस ब्रह्मचारी में वैराग्यरूपी अग्नि के कारण ज्ञान–दीपक प्रकाशित हो रहा था। विवाह करने की मेरी जरा भी इच्छा नहीं है " इस प्रकार मन के दृढ़ संकल्प को इसने अपने विद्वान् गुरु के आगे प्रकट कर दिया ॥ ८७ ॥

तनयहृदयभावं ब्राह्मणेशो विदित्वा
सपदि सदनमाह्वत् पुत्रमेनं प्रमन्युः।
अपरमखिलवृत्तं सोढुमीशः परं तं
परिणयप्रतिषेधं शूलरूपं न कृष्णः ॥८८॥

इस द्विजराज ने भी पुत्र की हार्दिक भावनाओं को जान लिया, और क्रोधित हो झट घर बुला लिया। यह और सब बातें सह सकता था, परन्तु हृदय को चुभनेवाले इस विवाह के निषेध को न सह सकता था ॥ ८८ ॥

परिणयोचितकौतुकसाधनं
व्रतिवरः प्रविलोक्य सुसंभृतम् ।
मम विवाहविधिं ननु कारये-
दिति स निश्चितवाञ्जनको बलात् ॥८९॥

इस के बाद इस ब्रह्मचारीने घर में विवाह की सब तैयारियों को होते हुए देखा, इसलिये अब इसे निश्चय हो गया कि पिताजी अब मेरा विवाह बलपूर्वक कर देंगे ॥ ८९ ॥

कामक्रोधमुखैः कुलीरकमठैर्भेकैश्च सेव्यं बकै
र्नानाभोगजरोगपङ्कमलिनं वैवाहिकं पल्वलम् ।
मुक्त्वा मोहजलाकुलं कुलगृहं गुप्तं स सायं ययौ
मुक्तानन्दसरोविहाररसिको ब्रह्मात्मजो हंसराट् ॥९०॥

इस विवाहरूपी छोटे तालाब में काम, क्रोध, लोभ, मोहरूपी मछलियाँ, कछुए मेंढ़क और बगुले रहते हैं। यह तलैया अनेक प्रकार के भोगों से उत्पन्न रोगरूपी कीचड़ से मलिन हो जाती है। इस में मोह का पानी भरा रहता है। इसलिये राजहंस सा यह ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रमरूपी छोटे तालाब को छोड़कर सायं समय मुक्ति के विशाल मानस सरोवर में विहार करने के लिये निकल पड़ा ॥ ९० ॥
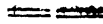
इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य वटोदरार्यकन्या-
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षि-
गृहत्यागो नाम पञ्चमः सर्गः ।

षष्ठः सर्गः

रजतकाञ्चनमौक्तिकमण्डितं
गृहिवरोत्तमभोगसुखोचितम् ।
ललितरूपललल्ललनायुतं
भृशवशंवदकिंकरराजितम् ॥१॥

स्वजननीप्रियताहृदयंगमं
रुचिरमन्दिरमिन्दुनिभाननः ।
अतुलयौवनशालिशमान्वितः
स विजहौ खलु बुद्ध इवात्मवान् ॥२॥

महात्मा बुद्ध की तरह मूलशंकरने अपने गृह को त्याग दिया। जिस समय इन्होंने अपना घर छोड़ा उस समय इनकी युवानी उछल रही थी। चन्द्रमा की तरह उनका मुखड़ा था। अपनी माता के ये अत्यन्त प्रिय थे। घर में आज्ञाकारी नौकर चाकरों की कमी न थी। यदि ये चाहते तो इन्हें भी राजकुमार सिद्धार्थ की तरह रूपवती स्त्री मिल सकती थी। गृहस्थियों के उत्तम भोग की सभी सामग्री इनको सहज सुलभ थी; क्योंकि घर में सोना, चाँदी, मोती, आभूषणों की न्यूनता थी ही नहीं, तो भी ये आत्मवान् थे अतः घरसे निकल पड़े ॥ १–२ ॥

मरणभीतिवशात् परमाकुलो-
विषयभोगनिवारणनिश्चयः ।
परिणयस्य निरीक्ष्य स संभृतिं
गृहमरं विवशोऽभवदुज्झितुम् ॥३॥

ये मृत्यु के भयसे व्याकुल हो उठे थे, इसलिये विषय को त्याग देने का निश्चय कर लिया था। जब विवाह की पूरी तैयारी देखी, तब वे घर छोड़ने को जल्दी ही विवश हो गये ॥ ३ ॥

ऋतमहेश्वरदर्शनकारिणी
मरणदुःखमहार्णवतारिणी ।
लसति योगमहातरणिः परं
बुधगणादश्रृणोदिति सन्मणिः ॥४॥

इन्होंने विद्वानों से सुन रक्खा था कि मरणदुःख के महासागर से केवल योगरूपी नौका द्वारा ही तरा जा सकता है। और यह योग ही है जिससे सत्यस्वरूप ब्रह्म का दर्शन हो सकता है ॥ ४ ॥

प्रवरयोगिगवेषणकामनो-
वरुणदेवदिशामवलम्ब्य यन् ।
विपिनवक्रपथेन पदे क्वचित्
स रजनीमनयन्नयमार्गगः ॥५॥

सन्मार्गगामी ये ब्रह्मचारी, योगिराजों के अन्वेषण की इच्छा से जंगल के टेढे मेढे रास्ते से होकर पश्चिम की ओर गए। इन्होंने पहली रात्रि किसी अज्ञात स्थान पर व्यतीत की ॥ ५ ॥

उषसि संचलितः पुनरुञ्जसा
पृथुलरामपुरं समुपेयिवान् ।
पथिकसंश्रयमारुतिमन्दिरे
व्यरमदह्नि मनागशितुं मुनिः ॥६॥

यहाँ से बड़े ही सवेरे आप जल्दी से चल पड़े, और बड़े रामपुर में आ पहुँचे। यहाँ एक हनुमानजी का मन्दिर था, जिसमें पथिक लोग ठहरा करते थे। मूलशंकर भी दिन में भोजनादि के लिये कुछ देर तक वहां ठहर गये ॥ ६ ॥

सपदि रामपुरादथ सायला-
पदमनुप्रचचाल महामनाः ।

श्रुतरघूत्तममन्दिरकारक-
प्रबलभक्तसुयोगयशा मुदा ॥७॥

सायला नामक ग्राम में एक लालाभक्त नामक योगी की ख्याति मूलशंकर सुन चुके थे। इस गांव में एक बहुत सुन्दर राममन्दिर इन भक्तजी ने बनवाया था। अतः बड़े रामपुर से महामना ब्रह्मचारी जल्दी से सायला की ओर ही चल पड़े ॥ ७ ॥

पथि महीसुरभिक्षुकमण्डलं
द्रविणलोलुपमेत्य तदन्तिकम् ।
तमवगम्य मुमुक्षुमुवाच यत -
'धनमिदं नहि भाति यतेस्तव' ॥८॥

रास्ते में ही इन्हें लोभी ब्राह्मणों और वैरागियों की एक मण्डली मिली। इन लोगों ने इनके पास आकर बातचीत से इन्हें मोक्षाभिलाषी जाना, इससे इन धूर्तों ने कहा कि हे ब्रह्मचारी! तुम्हारे पास यह धन और वस्त्रादि नहीं शोभते। क्योंकि तुम विरक्त बनना चाहते हो ॥ ८ ॥

'त्वमिह यावदिदं वितरिष्यसि
सकलमाप्स्यसि तत्परजन्मनि ।'
इति तदीयमलंकरणं तदा
छलपरं तदयाचत काञ्चनम् ॥९॥

और तुम इस जन्म में जो कुछ भी दान दोगे, सो दूसरे जन्म में सब मिल जायगा। इस तरह इन धूर्तों ने इनसे सब आभूषण और धनादि मांग लिया ॥ ९ ॥

परमयोगसिसाधयिषुर्युवा
धनमवेक्ष्य स विघ्नकरं परम् ।
निजतनोरवतार्य ददौ क्षणान्
निखिलमाभरणं द्रविणञ्च तत ॥१०॥

परम योग की सिद्धि चाहनेवाले ये युवक ब्रह्मचारी भी धनको परम विघ्नकारक समझते थे। इसलिये उसी क्षण इन्होंने कुल आभूषण और धन शरीर से उतारकर इन्हें दे दिये ॥ १० ॥

अहह यच्छुभयोगकृते नु यो-
गृहसुखं जननीं जनकं धनम् ।
तृणमिव प्रजहौ स विभूषणे
किमु तनोति रतिं यतिदूषणे ॥११॥

भला जिस शुभ योग की प्राप्ति के लिये मूलशंकरजीने मा बाप, गृह, सुख एवं सकल ऐश्वर्यों को तृण तुल्य त्याग दिया था; वे यतियों के लिये दूषणरूप इन आभूषणों में प्रीति रख सकते थे ? ॥ ११ ॥

पथिकभिक्षुकसाधुमुखाम्बुजा
दनुपदं स निशम्य यमिस्तवम् ।
द्रुतगतिः प्रजगाम तदाश्रमं
सहृदयो हृदयोज्ज्वलभावनः ॥१२॥

ब्रह्मचारी मूलशंकर बड़े ही सहृदय और उच्चभावनाशील युवक थे। स्थान स्थान पर इन्होंने लालाभक्त योगी का यश भिक्षुओं और साधुओं से सुना था, इसलिये वे जल्दी इनके आश्रम में आ पहुँचे ॥ १२ ॥

सविधमेत्य स लालनयोगिनो-
गदितवाञ् चरणाम्बुजसन्नतः ।
विमलयोगसुशिक्षणदीक्षितो-
बटुरयं क्रियतां भवतेत्यमुम् ॥१३॥

लालाभक्त योगी के पास जाकर प्रणामपुरस्सर विनयसहित इन्होंने कहा कि आप कृपया मुझे पवित्र योग की शिक्षा से दीक्षित कीजिए ॥ १३ ॥

विमलशीलधनं रुचिराकृतिं
मधुरतथ्यगिरं प्रविलोक्य तम् ।
मदुपकण्ठमिहैव वसेरिति
प्रतिवचो व्यतरद् व्रतिने यमी ॥१४॥

इस योगी ने देखा कि यह ब्रह्मचारी बड़ा सुशील, पवित्र, सुन्दर, मधुरभाषी एवं सत्यवादी है। इसलिये मूलशंकर को अपने पास ही रहने को कहा ॥ १४ ॥

समधिगम्य मनागमुतो विधिं
वनमुपेत्य समाहितमानसः ।
तरुतलेऽभ्यसनं विदधे विधे-
र्नियमवान् यमवान् विहितासनः ॥१५॥

इन्होंने इनसे यम नियम और आसनों की शिक्षा प्राप्त की। तदनन्तर कुछ योगक्रिया भी सीखी। जंगलमें वृक्षों के नीचे बैठकर एकाग्रता से वे योगाभ्यास करने लगे ॥ १५ ॥

निशि समाधिजुषो गुरुणा समं
स्थितवतोऽस्य महीरुहवासिनाम् ।
विकटशब्दकृतां पततां रवः
श्रवणगोचरतां गतवानहो ॥१६॥

कभी कभी ये गुरु के साथ ही समाधि में रात को वृक्षों के नीचे बैठ जाया करते थे। एक रात को जब ये अकेले बैठकर समाधि लगाने को थे कि वृक्ष पर से पक्षियों की भयानक आवाज इनके कान पर आ पड़ी ॥ १६ ॥

वितथभूतभयाकुलमानसः
झटिति तन्मठमैदथ संयमी ।

शिशुवयोविनिवेशितवासना
बलवतामपि भीषयते मनः ॥१७॥

इस समय झूठे भूत के भय से इन का मन व्याकुल हो उठा, और जल्दी ही ये ब्रह्मचारी आश्रम में आगये। बचपन में बालकों के मन पर जो बुरे संस्कार बैठ जाते हैं, वे बड़े होने पर बड़ों बड़ों के मनों को ड़रा देते हैं ॥ १७ ॥

निवसतोऽभवदस्य सतो मठे
व्रतिवरेण समं दृढसंस्तवः।
व्रतिनमेनमसौ व्रतदीक्षया
तमकरोन्मकरोन्नतकेतुदम् ॥१८॥

मठ में निवास करते हुए इनकी लालाभक्त जी से अच्छी आत्मीयता होगई थी। इसलिये इन्होंने इनको नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी, और सर्वदा के लिये कामदेव का विजयी बना दिया ॥ १८ ॥

रुचिरदण्डकमण्डलुधारिणं
परिहितारुणपीतमयांशुकम्।
विमलचेतनतार्थकनामकं
दिनमणिव्रतपालनतत्परम् ॥१९॥

इन्होंने इन्हें सुन्दर दण्ड और कमण्डलु धारण कराया, और पहनने के लिये पीले वस्त्र दे दिये। इस नैष्ठिक ब्रह्मचारी का नाम शुद्धचैतन्य रक्खा ॥ १९ ॥

तदृतशंकरलाभसमुत्सुकः
सकलयोगकलाध्ययनानुकः।
स चरिते नवचन्द्र इवामलो-
जनतया नतया ह्यभिनन्दितः ॥२०॥

ये शुद्धचैतन्य सच्चे शंकर की प्राप्ति के लिए आतुर थे, इसलिये संपूण योग क्रियाओं के अध्ययनार्थ बड़े उत्सुक हो रहे थे। जैसे प्रजा नव चन्द्रमा को नत हो कर

प्रणाम करती है, वैसे ही पवित्र चरित्र वाले इन ब्रह्मचारी को भी नत मस्तक हो कर अभिनन्दन करने लगो ॥ २० ॥

अनधिगम्य यथेष्टमदोगुरो-
रुचितयोगविधिं परमार्थधीः ।
व्यधित गन्तुमयं स्वमतिं ततः
सुमनसां मनसां हरणे पटुः ॥२१॥

ये विद्वानों के मनों को हरण करने में बड़े ही चतुर थे। इन की बुद्धि परम तत्व के चिन्तन में निरत थी। इन योगिराज के पास इन्हें पर्याप्त योगविद्या प्राप्त न हो सकी अतः इन्होंने आगे जाने का विचार किया ॥ २१ ॥

स यतिसाधुसमागमनस्थली-
मगुरुराजपुरीं कुटकांगराम् ।
मधुरवर्णिसुवेषविभूषितो-
विनयवान् नयवानुपसेदिवान् ॥२२॥

ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य ने सुन्दर ब्रह्मचारी का वेष धारण किया हुआ था। ये बड़े ही विनयी और नीतिमान् थे। कोटकांगरा, जो एक छोटी सी राजधानो है, यहाँ अच्छे अच्छे साधु संन्यासियों का मेला लगा करता था। वे यहाँ आ गये ॥ २२ ॥

स तु ददर्श पुरे बहुसंख्यकम्
कमललोचनया समलङ्कृतम् ।
यतिविनिन्दितकर्मकलङ्कितं
तदविरागि विरागिकुलं व्रती ॥२३॥

यहाँ इन्हों ने वैरागियों की बड़ी बड़ी मण्डलियाँ देखी। एक मण्डली में कोई एक राजकन्या आ फँसी थी। ये वैरागी लोग अपने निन्दित कर्मों से वैराग्य के वेश को कलंकित कर रहे थे ॥ २३ ॥

अहह भारतभारतभारतं
विषयपंककलंकमहार्णवे ।
यदिह वर्णकुलाश्रमदेशिकं
नियमितं यमि तन्न कुलं स्थितम् ॥२४॥

शुद्ध चैतन्य को यह दशा देखकर बड़ा ही शोक हुआ और विचारने लगे कि हा, भारतवर्ष लक्ष्मी के जाल में फंसकर विषयरूप पाप के महासागर में गोते खा रहा है। जो साधु संन्यासी वर्णों और आश्रमों के धर्मोपदेष्टा थे, वे आज यम नियम में स्वयं ही स्थित नहीं हैं ॥ २४ ॥

इति विमृश्य ततः पृथगावस-
न्नयमजस्रमहासि महाशठैः ।
परिदधान उदंशुकमङ्गके
कविरतो विरतो भवबन्धनात् ॥२५॥

इसी लिये ये उन लोगों से बच कर रहने लगे। शुद्धचैतन्य के शरीर पर उत्तम वस्त्र थे, इस से ये महान् धूर्त इन का उपहास करने लगे थे, परन्तु ब्रह्मचारी शुद्ध-चैतन्य तो सांसारिक सब बन्धनों से मुक्त हो कर ब्रह्मानन्द में लीन होना चाह रहे थे ॥ २५ ॥

परिहितं परिधानमपास्य तत्
विपणितः पणतोऽपरमग्रहीत ।
व्रतिजनोचितधौतपटद्वयं
परहिते रहिते छलतः स्थितः ॥२६॥

इन्हों ने उत्तम वस्त्र त्याग दिए और बाजार से ब्रह्मचारी के योग्य दो सादी धोतियाँ ले आए और मनसा वाचा कर्मणा परोपकार में रत रहने लगे ॥ २६ ॥

सुकृतदम्भभृतां द्रविणेश्वराद्
वसुहृतामुदरम्भरिशागिणाम् ।

अविदुषामविलोक्य कुलान्निजां
शुभमनीषितसिद्धिमुदास्त सः ॥२७॥

कोटकांगरा के वैरागी धन के लोभी और धर्मध्वजी थे। इन का काम केवल पेट भरना और पैसा जमा करना था। ऐसे मूर्ख वैरागियों से इष्ट सिद्धि न देख कर यहाँ से इन का मन उठ गया ॥ २७ ॥

अथ भविष्यति कार्तिकमासि तत्
प्रथितसाधुयतीश्वरमेलनम् ।
इति निशम्य जनात् विमलाशयः
स निरयान्निरयान्नु पुरादितः ॥२८॥

बाद में इन्हों ने सुना कि सिद्धपुर में आगामी कार्तिक महीने में बड़े बड़े साधु महात्माओं का मेला लगेगा। इसलिये पवित्रहृदय ब्रह्मचारी नरकसमान इस नगरी से निकल पड़े ॥ २८ ॥

अतुलसिद्धिजुषां यमिनां तपो-
विविधसिद्धिसमृद्धिदिदृक्षया ।
विदितसिद्धपुरं प्रतिजग्मिवान्
व्रतिवरोऽतिवरोन्नतमानसः ॥२९॥

ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य का मन बड़ा ही उन्नत था। प्रसिद्ध सिद्धपुर में ये इस आशा से चल पड़े कि वहाँ अनुपम सिद्धिधारी तपस्वी योगी और संन्यासियों की विविध ऋद्धि और सिद्धि देखने का अवसर प्राप्त होगा ॥ २९ ॥

परिचितेन स वर्त्मनि भिक्षुणा
निजपुरान्तिकवासिविरागिणा ।
समवलोक्य सुविस्मितचक्षुषा
निजगदे जगदेकसंयमी ॥३०॥

रास्ते में इन्हें इन के ग्राम के पास का ही एक परिचित वैरागी मिला। उसने आश्चर्यमय नेत्रों से इन अद्वितीय संयमी को देखकर कहा ॥ ३० ॥

कथमहो व्रतिवेषजुषाऽधुना
विपिनतो विपिनं प्रतिगम्यते ।
सकलसौख्यसमृद्धियुतं गृहं
प्रभवता भवताप्यपहाय तत् ॥३१॥

आपने यह ब्रह्मचारी का वेष धारण क्यों किया, और इस समय एक जंगल से दूसरे जंगल में क्यों मारे मारे फिरते हैं? आप के घर में सुख की सम्पूर्ण सामग्रियाँ विद्यमान हैं, और आप समर्थ होते हुए भी घर क्यों छोड़े जा रहे हैं? ॥ ३१ ॥

स्वजनसंस्तववन्तममुं जनं
पथि दृशोः सहसोपगतं क्षणम् ।
प्रहतबुद्धिरिवाजनि वीक्ष्य सन्
रविरुचिर्विरुचिर्विषयेष्वसौ ॥३२॥

सूर्य समान तेजस्वी, विषय विरक्त ये ब्रह्मचारी अपने कुटुम्बियों के परिचित इस वैरागी को रास्ते में एकदम देखकर क्षणभर के लिये हतबुद्धि हो गये ॥ ३२ ॥

अथ जगाद विरागिणमेष यत्
प्रभुमहामहिमावलिसुन्दरम् ।
प्रविलुलोकयिषुर्निरगां गृहात्
सनगरं नगरम्यवनं जगत् ॥३३॥

फिर इन्होंने वैरागी से कहा कि मैं ईश्वर की महामहिमा से सुन्दर पर्वतों, वनों, नगरों एवं संसार को देखने की इच्छा से घर से निकल पड़ा हूं ॥ ३३ ॥

हृदयभावमवेत्य मनीषिणो-
गृहविरागजुषस्स रुषारुणः ।

धिगकरोदवलोक्य सुहृत्तया
धनवतां नवतां तनयस्य ताम् ॥३४॥

इस विचारशील वैरागी ने इस के हृदय के भावों को जान कर तथा वैराग्य देखकर क्रोध से लाल लाल आँखें कर के प्रेमपूर्वक धिक्कारा और कहा कि तुम तो धनिक पिता के पुत्र हो, तुमने यह बचपन में ही नया मार्ग कैसे ग्रहण किया ॥ ३४ ॥

प्रियजनेक्षणबाष्पयुतेक्षणः
क्षणमभूददयालुरयं व्रती ।
द्विजवरात्मजचित्रचरित्रतः
स चकितोऽथ जगाम यथेप्सितं ॥३५॥

ब्रह्मचारी बड़े ही सहृदय थे, इसलिये घर के परिचित इस मनुष्य को देखकर कुछ देर के लिये इन की आँखों में अश्रु भर आया। यह वैरागी भी इस ब्राह्मण पुत्र के अद्भुत चरित्रों से मोहित हो गया, और बाद में अपने अभिमत स्थान को चला गया ॥ ३५ ॥

सरससस्यसमृद्धिविराजितां
कृषकमानसमोदकरीं भुवम् ।
वननदीरुचिरामवलोकयन्
उपससाद स सिद्धपुरं मुनिः ॥३६॥

ये ब्रह्मचारी, हरे भरे धान्यों की समृद्धि से पूर्ण, किसानों के मनों को प्रसन्न करने वाली, जंगल और नदियों से रमणीय भूमि का अवलोकन करते हुए सिद्धपुर आ गए ॥ ३६ ॥

बहुलदण्डियतिव्रतिमण्डितं
स शितिकण्ठमहेश्वरमन्दिरम् ।
समुपगम्य सुरम्यमुवास तै-
र्यतिवरैः सममादृतसंगतिः ॥३७॥

सिद्धपुर में एक नीलकण्ठ महादेव का मंदिर है। मेले के अवसर पर इस मंदिर में अनेकों दण्डी संन्यासी और ब्रह्मचारी आया करते हैं। अच्छे साधु संन्यासियों की सत्संगति की कामना से ये ब्रह्मचारी भी इसी सुन्दर स्थान में आ कर रहे ॥ ३७ ॥

प्रथितसिद्धपुरे तपसां सता-
मविदुषां विदुषाञ्च गणैर्युते ।
शुभमहोत्सवदर्शनकांक्षया
समुदिता मुदिता जनताऽमिता ॥३८॥

इस प्रसिद्ध सिद्धपुर में असंख्य विद्वान् एवं मूर्ख तपस्वी और वैरागी आये हुए थे। इस शुभ मेले में साधु सन्तों के दर्शनार्थ असंख्य जनता मुदित मन से जमा हुई थी ॥३८॥

निजनिजेप्सितवस्तुविलोकने
मनुजराजिरलं निरता तता ।
हृदयरंजनपण्यचयक्रये
प्रभुवरप्रतिमाप्रतिमानभृत् ॥ ३९॥

कुछ लोग अपनी अपनी इच्छित वस्तुओं के देखने में अत्यन्त निरत थे और कितने ही लोक अनेक प्रकार की मनोरंजक वस्तुओं के खरीदने में मग्न थे और ये लोग सब ही अंध श्रद्धालु एवं मूतपूजक थे ॥ ३९ ॥

परममुक्तिपदेप्सुरयं व्रती
विविधसाधुमहापुरुषान्तिकम् ।
सुखदयोगकलाधिगमेच्छया
विमलभक्तिनतः समुपाविशत् ॥४०॥

इधर ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य को तो परम मुक्तिपद प्राप्ति की लालसा थी, इसलिये ये अनेक साधुओं और महापुरुषों के पास भक्ति से विनम्र होकर बैठा करते थे, और कल्याणकारी योग की चर्चा किया करते थे ॥ ४० ॥

परममंगलसज्जनसंगमैः
सुपरमार्थप्रसंगवचोऽमृतैः ।
स्वहृदयंगमयोगविचारणैः
रसमयं समयं स निनाय तैः ॥४१॥

यह ब्रह्मचारी कल्याणकारी सज्जनों की संगति का आनंद लूटा करते थे। कभी कभी प्रसंगोपात्त मुक्ति सम्बन्धी वचनामृत का पान करते थे और किसी किसी समय हृदयंगम योगचर्चा चलाते थे। इस प्रकार ये उन लोगों के साथ आनन्दपूर्वक समय बिता रहे थे॥ ४१ ॥

समुपलभ्य पिताथ विरागिण-
स्तमसुदन्तमुदन्तमितो द्रुतम् ।
कतिपयैस्सुभटैस्समभागमत्
तनुजसंश्रितसिद्धपुरं सुधीः ॥४२॥

जब शुद्धचैतन्य के बुद्धिमान् पिताने पूर्वोक्त वैरागी से अपने पुत्र सम्बन्धी दुःखद समाचार सुना, तब वे पुत्र को ढूंढने के लिये जल्दी ही थोडे से सिपाहियों को साथ लेकर सिद्धपुर आ पहुँचे॥ ४२ ॥

मृगयमाण इतस्तत एष तं
दिनमुखे मुनिमण्डलमण्डिते ।
तनयमैक्षत तत्र शिवालये
स सहसा सहसाधुभिरास्थितम् ॥४३॥

कृष्णजीने इधर उधर ढूंढते हुए अचानक यति-मुनियों से घिरे हुए एक शिवालय में प्रातःकाल साधुओं की एक मण्डली में अपने पुत्र को बैठे हुए देखा॥ ४३ ॥

स तनयं व्रतिवेषधरं पुर-
स्स्थितमुवाच रुषा परुषाक्षरम् ।

विहितमात्मकुलं बत दुर्मते ! !
कुलकलंक ! कलंकयुतं त्वया ॥४४॥

इनका पुत्र ब्रह्मचारी के वेशमें था, इसलिये इन्होंने बहुत क्रोधित होकर कठोर वचनों से झिड़कते हुए कहा कि हे कुलकलंक दुर्मते, तूने अपने कुल को कलंक लगा दिया ॥ ४४ ॥

स्वजननीहृदयं न निरीक्षितं
निजकुलाचरणं गुरुनिन्दितम् ।
अपयशो विततं द्विजमण्डले
गृहितया हितयाऽपि विमुक्तया ॥४५॥

तुमने हितकारक गृहस्थाश्रम को त्याग दिया और अपनी माता के प्रेम की परवाह नहीं की। अपने कुलाचार को बट्टा लगा दिया, जिससे ब्राह्मणों में हमारा अपयश फैल गया है ॥ ४५ ॥

स्वकुलधर्मविघातकपातकिन्
वितनुषे जननीहननं कथम् ।
विपदुदन्वति वंशतरिं खलो-
मरुदिवासि निमज्जयितुं सुतः ॥४६॥

अरे कुलधर्म के नाश करने वाले पातकी ! अपनी मां की हत्या क्यों कर रहा है ? जैसे आँधी नौका को समुद्र में डुबा देती है, वैसे ही तू कुपुत्र बनकर वंश को क्यों विपत्ति-सागर में डुबा रहा है ॥ ४६ ॥

जनकवागिषुभिर्न मनागपि
हृदयमस्य बभूव विकम्पितम् ।
अचलवन्निजनिश्चयनिश्चलः
कुपितमारुतरंहसि सन् स्थितः ॥४७॥

पिता के वाग्बाण इसके हृदय को जरा भी कंपित न कर सके, जैसे भयानक आँधी में भी पहाड़ अचल रहता है, वैसे यह भी अपने विचारों में निश्चल रहा ॥ ४७ ॥
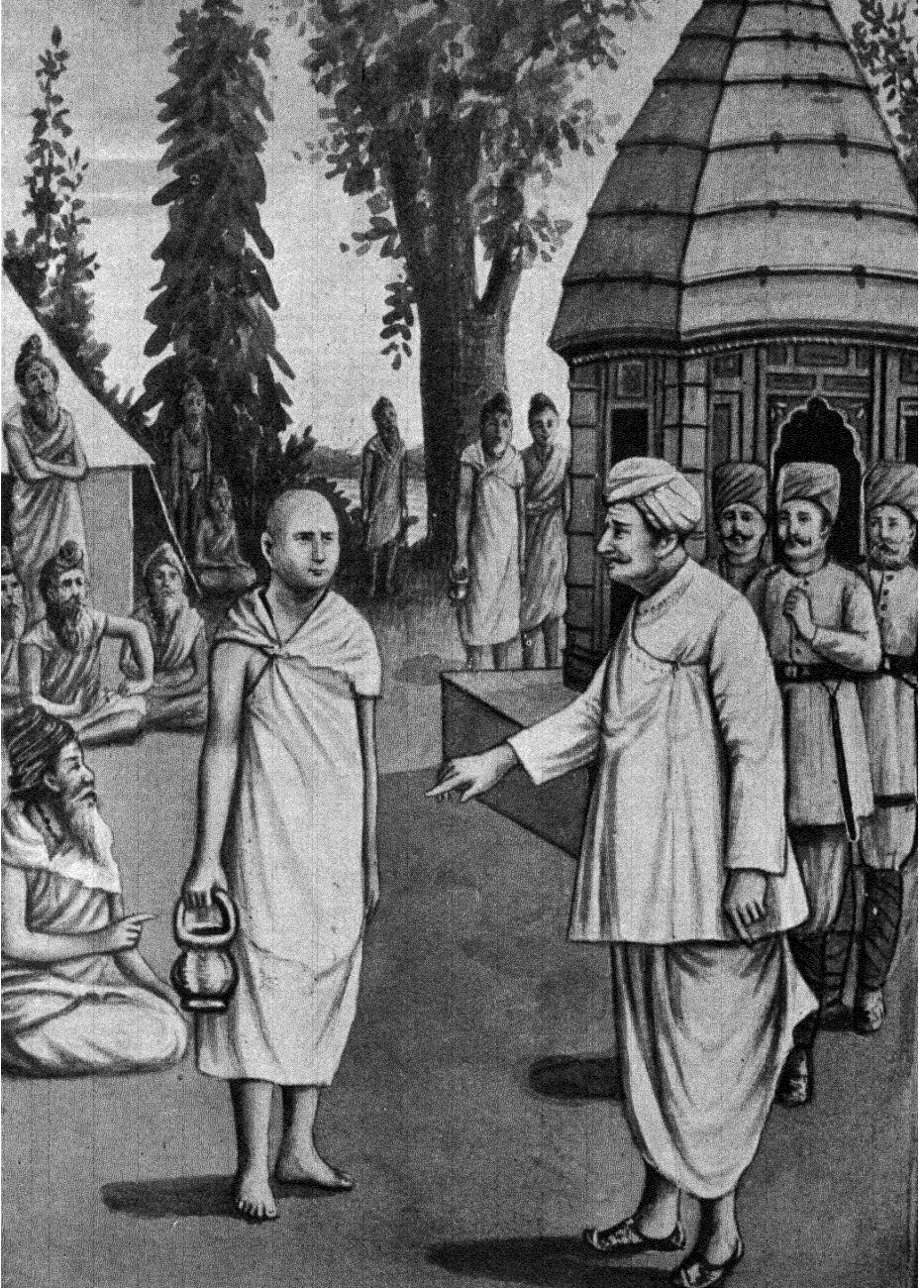
सिद्धपुरके मेले म शुद्ध चतन्य बालब्रह्मचारी की पिताजी से अन्तिम भेट।

प्रतिघवेगवशो जनकोऽञ्जसा
सुतपटं विददार करस्थितम् ।
समभिगृह्य कमण्डलुमक्षिपत्
भुवि विनिन्द्यगिरा तमतर्जयत् ॥४८॥

क्रोध के आवेग से पिताने इसके कपडों को जल्दी से फाड दिया और हाथ की कमण्डलु को छीनकर जमीन पर पटक दिया; और अपशब्दों से उसे धमकाने लगे ॥४८॥

पितुरमर्षमहानलमात्मजः
शमयितुं प्रणिपत्य पदाम्बुजे ।
शमवचोम्बु ववर्ष सुहर्षदं
जलधरोपम इत्थमनिन्द्यभाः ॥४९॥

तेजस्वी शुद्धचैतन्य ने पिता के महान् क्रोधरूपी अग्नि को शान्त करने के लिये चरणों पर गिरकर आनन्ददायक शान्तिमय वचन-जल को बादल की तरह बरसाना शुरु किया ॥ ४९ ॥

अहमसज्जनसंगवशंवदो-
निरगमं गृहतोऽन्वभवं फलम् ।
तदनुतप्त इतस्स्वगृहागमे
विहितनिश्चय आसमये स्वयम् ॥५०॥

मैं असज्जनों की संगति में पड़कर घर से निकल पड़ा था। उसका फल मैं चख चुका हूँ। पश्चाताप से अब मैंने यहाँ ही से स्वयं घर लौट जाने का निश्चयकर लिया था॥ ५० ॥

भवनमेतुमहं भवता समं
प्रमुदितानुमतोऽस्म्यविलम्बितम् ।
स्वजननीपदपंकजदर्शने
मम मनो नितरां हि समुत्सुकम् ॥५१॥

प्रसन्न मन से मैं जल्दी ही आप के साथ घर चलने को उद्यत हूँ। माताजी के चरणों के दर्शनार्थ मेरा मन बहुत उत्सुक होरहा है ॥ ५१ ॥

सविनयानुनयं तनयोदितं
श्रवणयोः प्रणिधाय मनोरमम् ।
सुनयवित्पितृकोपहुताशनो-
न खलु शान्तिमियाय स सर्वथा ॥५२॥

विनयसहित मनोहर पुत्र के वचनों को सुनकर भी नीतिमान् पिता की क्रोधाग्नि सर्वथा शान्त न हुई ॥ ५२ ॥

निजनिदेशनपालनतत्परा-
नथ भटानवदद् वदतां वरः ।
सुतमिमं ममतारहितं हि तं
समुपरक्षत सावहिताः सदा ॥५३॥

वाग्विशारद पिताने आज्ञाकारी सिपाहियों से कहा कि—तुम लोग सावधानी से इस निर्मम पुत्र पर पहरा रक्खो ॥ ५३ ॥

क्षणमपि क्षणदासमयेऽप्यमुं
प्रहरिणः स्वदृशां सरणेः पृथक् ।
न कुरुतायि धुरन्धरकिंकरा-
न खलु विश्वसितेह विरागिणि ॥५४॥

हे मेरे विश्वासी नौकरो ! रात को एक क्षण भर भी इसे अपनी आँखों से ओझल न होने दो, क्योंकि विरक्तियों पर कैसे विश्वास किया जाय ? ॥ ५४ ॥

इति पलायितपुत्रमणिं पुनः
समुपलभ्य ननन्द गृहीश्वरः ।

मम विधाय विवाहितमात्मजं
भुवि सुखं भवितेति विचिन्तयन् ॥५५॥

अपने खोए पुत्ररत्न को पाकर कृष्ण जी बहुत ही प्रसन्न हुए और सोचने लगे कि अब मैं इस के विवाह के पश्चात् शान्ति प्राप्त कर सकूँगा ॥ ५५ ॥

अमरजीवननन्दनकानने
स विजिहीर्षुरयं व्रतिकेशरी ।
विषयदावशृगालसहोदरै-
र्निगडितः किमु तिष्ठति किंकरैः ॥५६॥

केशरीतुल्य यह शुद्धचैतन्य ब्रह्मचारी तो अमर जीवनके नन्दनवन में विहार करने की इच्छा रखता था। भला यह विषयवन के शृगालादि जन्तु समान सेवकों से बँधा रह सकता था ? ॥ ५६ ॥

मरणजन्ममयायसदामभि
र्ग्रथितदारुणविग्रहपञ्जरम् ।
अपि विमोक्तुमना मुनिहंसकः
स सहतां किमु मायिकबन्धनम् ॥५७॥

जन्म और मरण की लोहे की जंजीरों से यह देहरूपी पिंजरा गूँथा हुआ है। इस भयानक माया जाल के बंधन को भला यह मुनिराजहंस किस प्रकार सहन कर सकता है ? ॥ ५७ ॥

विमलमोक्षमहाकमलाकरं
जिगमिषो र्नु यतीश्वरदन्तिनः ।
परिणयाम्बुजतन्तुनियन्त्रणं
विफलदं न पितृप्रतियोजितम् ॥५८॥

गजराज समान शुद्धचैतन्य पवित्र मोक्षरूपी मानस सरोवर में जाने का अभिलाषी था। उसे पिता के बनाये हुए विवाहरूपी कच्चे धागे का बंधन कैसे नियंत्रित कर सकता था, इसलिये यह आयोजन निष्फल गया ॥ ५८ ॥

भृशमसज्जनसज्जनसंवृतो-
धृतियुतोऽवसरं प्रतिपालयन् ।
स करुणावरुणालयमीश्वरं
सविनयं शरणं गतवान् हृदा ॥५९॥

शुद्धचैतन्य एक दम पहरेदारों के पहरे में घिरे थे, इसलिये धैर्य्य से भाग जाने का अवसर देख रहे थे। और हृदय से करुणासागर ईश्वर की शरण में जाकर प्रार्थना करने लगे ॥ ५९ ॥

अयि दयालुमहेश ! दयालवं
कुरु दयार्णव ! दुःखमहाम्बुधेः ।
सपदि तारय पालक ! बालकं
शरणमेमि शरण्य ! शिवंकर ! ॥६०॥

हे दयामय दयासागर ! महेश्वर ! आप दया कीजिये। दुःखरूपी समुद्र से मुझे जल्दी बचाइये। हे शरणागतवत्सल शंकर जगत् पालक पिता, यह बालक आप की ही शरण है ॥ ६० ॥

विषयभोगसुखं न हि कामये
विपुलरोगकरं सततं प्रभो ! ।
जनिजरामरणार्त्तिहरं परं
परमसौख्यपदं तव चार्थये ॥६१॥

हे प्रभो, मैं विषयों के उपभोग सुख की कामना नहीं करता, क्योंकि भोग रोगों का आगार है। इसलिये जन्ममरण और बुढ़ापे की पीड़ा को हरनेवाले तेरे परमानन्द पद को ही चाहता हूँ ॥ ६१ ॥

सकलमंगलमूलनिरंजनं
तव पदं प्रतिपत्तुमहर्दिवम् ।

मम मनो विकलं नितरां विभो !
वितर दर्शनमात्मनि मंगलम् ॥६२॥

रात दिन मैं आपके सकल मंगलमूल निरंजनपद को पाने के लिये व्याकुल हो रहा हूँ। आप मुझे अपना मंगलमय दर्शन दें ॥ ६२ ॥

मम पिता यदि नेष्यति मां गृहं
ध्रुवमितः करपीडनकौतुकम् ।
मम विधाय बलाद् गृहबन्धनै-
र्निगडितं स करिष्यति मां हठी ॥६३॥

यदि मुझे हठी पिताजी घर ले जायेंगे तो अवश्य ही जबर्दस्ती मेरा विवाह करा देंगे, और मुझे सांसारिक बन्धनों से जकड़ देंगे ॥ ६३ ॥

अखिललोकशुभङ्करशंकर !
प्रभवसि प्रभुवर्य ! शिशोरिमाम् ।
त्वयि सुभक्तिमतो विपदं परां
विदलितुं भगवन् दलय द्रुतम् ॥६४॥

हे अखिल ब्रह्माण्ड के कल्याणकारी शंकर, इस भक्तिमान् बालक की परम विपत्ति को दलन करने में आप समर्थ हैं। इसलिये हे भगवान्, इस दुःख को जल्दी मिटाओ ॥ ६४ ॥

त्वमसि मे जननी जनकः सखा
प्रियतमो भुवि जीवनकाञ्चनम् ।
हृदयरञ्जन ! शोकविभञ्जनः
कुरु निरञ्जन मे भवभीलयम् ॥६५॥

हे प्रभो, आप ही इस संसार मे मेरे माता, पिता एवं प्रियतम मित्र हो। मेरे जीवन के आपही धन हो। इसलिये हे हृदयरंजन शोकविभंजन, निरंजन प्रभो। मेरे सांसारिक भय का विनाश कीजिये ॥ ६५ ॥

इति विभोः पुरतो विनयं बटो-
र्विदधतो रजनीप्रहरत्रये ।
व्यतिगते भटयामिकलोचनं
कमलवद् विधिनाऽस्य निमीलितम् ॥६६॥

इस प्रकार इस ब्रह्मचारी के प्रभु की प्रार्थना करते हुए रात के तीन पहर बीत गये । उसी समय विधाताने पहरेदारों के नेत्रकमल बंद कर दिये ॥ ६६ ॥

मनसि जागरितं सततं बहिः
शयितमेव यथार्थविनिद्रितम् ।
तमवगम्य भटावलिरस्वपीच्च-
छयनवेगविमुद्रितलोचना ॥६७॥

ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य मुक्ति की इच्छा से अंदर से तो जाग रहे थे किन्तु बाहरी आँखें बंद कर लीं थीं । इसलिये योद्धाओंने इन्हें सोया हुआ समझा और बहुत प्रबल निद्रा के वेगके कारण वे भी सोगये ॥ ६७ ॥

अवसरं शुभनिर्गमनोचितं
समवधार्य कमण्डलुमाददे ।
निभृतमात्मकरे धृतसाहसो
बहिरुपेत्य पलायत सत्वरम् ॥६८॥

ब्रह्मचारीजीने खिसक जाने का यह अच्छा अवसर देखा । इसलिये हाथ में कमण्डलु ले लिया, और चुपचाप साहस से जल्दी बाहर आकर भाग गये ॥ ६८ ॥

निबिडपल्लववृन्दविमण्डितं
विटपकाण्डपरीतवटद्रुमम् ।
पथि विलोक्य विशालमयं प्रय-
न्नधिरुरोह जटामवलम्ब्य तम् ॥६९॥

रास्ते में भागते हुए इन्हें एक विशाल वटवृक्ष दिखाई पड़ा। उसकी शाखायें बहुत दूर फैली हुई थीं, और वह सघन पल्लवों से शोभित था। उसकी जटा पकड़ कर शुद्धचैतन्य ऊपर चढ़ गये ॥ ६९ ॥

अतिचिरन्तनमन्दिरमूर्द्धनि
प्रचुरपर्णलतावृतभूमिकाम् ।
समुपगम्य स मंक्षु निषण्णवान्
किसलयान्तरितांगलतः कृती ॥७०॥

इस बड़ के पास ही एक पुरातन मंदिर था, जिस पर बड़ की शाखायें चारों ओर से छाई हुई थीं। ये जल्दी से शाखाओं द्वारा मंदिर की चोटी पर पहुँच गये और वहाँ अपने को पत्तों में छुपा लिया ॥ ७० ॥

इह महोषसि कृष्णमहोदयः
झटिति जागरितः शयनादमुम् ।
प्रहरिसज्जनतोऽपि विनिर्गतं
समवलोक्य ततर्ज भृशं भटान् ॥७१॥

इधर बड़े सवेरे ही कृष्ण महोदय जाग उठे, और झट बिस्तरे से उठकर शुद्ध-चैतन्य को देखने के लिये आ गए। वहाँ तो पहरेदारों के पहरे में से भी ये छटक चुके थे, इस लिये उन सिपाहियों को उन्होंने खूब धमकाया ॥ ७१ ॥

अतुलरोषभृता परिभर्त्सिताः
परिवृढात्मजमार्गणविह्वलाः ।
अपययुः प्रभुभक्तिपरायणा-
अनुतपन्त इवात्मनि सादिनः ॥७२॥

अत्यन्त क्रोध से भरे हुए कृष्ण महोदय को देखकर स्वामिभक्त सिपाही विह्वल हो उठे, इसलिये अपने मन में पश्चाताप करते हुए से मालिक के पुत्र को ढूंढने के लिये घोड़ों पर सवार हो कर निकल पड़े ॥ ७२ ॥

सकलदिक्षु विचेतुममुं द्रुता-
द्रुततरं पदगा अपि सैनिकाः ।
क्वचिदुदैक्षिषतास्य पदावली-
मुपवनान्तिकमन्दिरगामिनीम् ॥७३॥

चारों ओर इन्हें ढूँढने के लिये जल्दी पैदल सिपाही दौड़ पड़े । एक जगह इन सिपाहियों ने एक बाग के पास के मंदिर की ओर बढ़ते हुए इन के पदचिन्हों को देखा ॥ ७३ ॥

अनुसरन्त इमां पदवीमयू-
रुचिरदेवनिकेतनमुत्सुकाः ।
तमनुसन्दधिरे निलयान्तरे
परममी व्रतिनं न हि लेभिरे ॥७४॥

उत्कंठित ये सिपाही इन पद चिन्हों का अनुसरण करते हुए एक सुन्दर देवालय के पास आ पहुँचे । बाहर और भीतर सब जगह इन्होंने इन को खूब अच्छी प्रकार से ढूँढा, परन्तु इन लोगों ने इस ब्रह्मचारी को यहाँ नहीं पाया ॥ ७४ ॥

भवशुभंकरशंकरकामुकं
तमनवाप्य निजेनजशंकरम् ।
अगुरवर्णमुखाम्बुजकिंकरा-
अतिनिराशहृदा प्रभुसन्निधौ ॥७५॥

संसार के कल्याणकारी शंकर को प्राप्त करने की इच्छा वाले, अपने स्वामी के पुत्र को न पाकर मलिन मुख होते हुए अत्यन्त निराश हृदय से ये सिपाही अपने मालिक के पास आ गए ॥ ७५ ॥

सघनपर्णलतापरिवेल्लितः
प्रभुकृपाबलतः प्रतिपालितः ।

अमुनिरोधतयोपलवत्स्थिरः
स तु ददर्श भटाखिलचेष्टितम् ॥७६॥

इधर शुद्धचैतन्य तो खूब गाढ़े पत्तोंवाली शाखाओं में छिपे थे, इसलिये प्रभु कृपा से बच गये। उस समय ये अपने प्राणों की गतितक रोक कर पाषाण-तुल्य अचल थे। योद्धाओं की दौड़धूप को ये देख रहे थे परन्तु इन्हें वे न देख सके ॥ ७६ ॥

दिनमशेषमतिष्ठदयं छदौ
निरशनो जलतर्षसहो मुनिः ।
तमसि सर्वत एव तते तरो-
रवततार ततारवविष्किरात् ॥७७॥

दिनभर ये छत पर शाखाओं के पत्तों में छिप रहे तथा भूख और प्यास को सहते रहे। जब चारों ओर अन्धेरा छा गया, और वृक्षों पर पक्षियों का चहचहाना शुरु हुआ तब ये वृक्ष पर से उतरे ॥ ७७ ॥

कनकपञ्जरनिर्गतकीरवद्
विदितवर्त्म विहाय रयान्वितः ।
तरुलतावलिशालिवनाध्वना
प्रियविमुक्तिपदोऽपससार सः ॥७८॥

जैसे तोता सोने के पिंजरे से निकल कर तरुलताओं से घिरे जंगल के रास्ते से भाग जाता है, वैसे ही ये मुक्ति की चाहना वाले जनसाधारण के मार्ग को छोड़कर वेग से सघन जंगल के रास्ते भाग खड़े हुए ॥ ७८ ॥

अनुपदं पितृयोधगणैर्निज-
ग्रहणभीतिरवर्त्तत सन्ततम् ।
इति तमोमयवर्त्मनि धावनं
विमलमुक्तिफलं समभून्मुनेः ॥७९॥

इन्हें तो पद पद पर पिता के सिपाहियों द्वारा अपने पकड़े जाने का निरन्तर भय

था। इसलिये ये ब्रह्मचारी मुक्ति के विमल-फल की प्राप्ति के लिये अंधकारमय मार्ग में दौडे ॥ ७९ ॥

गृहविसर्गसुमार्ग इयद्विपत्-
परिवृतोऽभवदस्य महायतेः ।
कपिलवस्तुमहानगरीभुजो-
न खलु तादृगभूत्स युवेशितुः ॥८०॥

इस महान् ब्रह्मचारी के गृहत्याग का पथ इतनी विपत्तियों से युक्त था, कि जैसा महानगरी कपिलवस्तु के युवराज सिद्धार्थकुमार का भी न था ॥ ८० ॥

शुद्धोदनस्य नृपतेर्भवनं विशालं
नक्तं निमीलितनृलोचनपद्ममालम् ।
संसुप्तहंसयुगलस्य सरोवरस्य
लक्ष्मीं मनोहरतरां बिभराम्बभूव ॥८१॥

महाराज शुद्धोदन का राजमहल विशाल था, रात का समय था, सब लोगों के नेत्र-कमल मुँदे हुए थे। उस राजभवनरूपी मानसरोवर में राजा और रानी हंसों के जोडे की तरह सो रहे थे। सचमुच उस समय राजभवन मनोहर मानसरोवर की शोभा धारण कर रहा था ॥ ८१ ॥

प्राणेश्वरीप्रियतमात्मजवन्द्यताता-
आसन् सुषुप्तिसुरसामृतभोगभाजः ।
उत्थाय रम्यशयनान्निभृतं तदानीं
श्रीशाक्यसिंहयुवराण् निरगाद् वनाय ॥८२॥

जिस समय युवराज सिद्धार्थ गृह-त्याग के लिये तैयार हो गए थे, उस समय उन की प्राणेश्वरी यशोधरा, प्रियतम पुत्र राहुल और पूजनीय माता पिता निद्रा सुख में निमग्न थे। उसी समय सुन्दर पलंग से चुपचाप शाक्यसिंह उठे, और बन जाने के लिये निकल पडे ॥ ८२ ॥

वीतस्पृहस्यास्य सहायतायै
श्रीछन्दकोऽभूद् प्रवरो भुजिष्यः ।
निष्कण्टको गौतमबुद्धमार्ग-
स्तादृग् दयानन्दमुने र्न रम्यः ॥८३॥

वीतस्पृह इन राजकुमार की सहायता के लिए छंदक जैसा श्रेष्ठ सेवक था। इस प्रकार गौतम बुद्ध का मार्ग जैसा निष्कंटक था, वैसा मुनिवर दयानन्द का न था ॥ ८३ ॥

श्रीशुद्धचैतन्यसुनामधारी
स ब्रह्मचारी निजजानुचारम् ।
चचार मार्गं शुभमार्गगामी
कियन्तमाशङ्कितताताभृत्यः ॥८४॥

ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य को तो कई बार घुटनों के बल चलना पड़ा था, क्योंकि पद पद पर पिता के द्वारा भेजे भृत्यों से पकडे जाने का डर था ॥ ८४ ॥

वैराग्यमार्गे व्रजतेदृशोऽमी
क्लेशाः स्वसंकल्पविनिश्चलेन ।
भवेयुरद्यावधि नैव सोढाः
केनापि मन्ये यमिनां वरेण ॥८५॥

वैराग्य मार्ग पर चलते हुए इस दृढ संकल्पधारी शुद्धचैतन्य को जितने क्लेश सहने पड़े; सचमुच उतने अबतक किसी भी संन्यासी को नहीं सहन करने पड़े होंगे ॥८५॥

गव्यूतिमात्रं परिधाव्य धीमान्
देवालयाद्दिव्यगुणो ददर्श लुलोके ।
घनान्धकारे निकषोपलाभे
हिरण्यलेखामिव दीपदीप्तिम् ॥८६॥

दिव्यगुणशाली बुद्धिमान् शुद्धचैतन्य उस देवालय से दो कोश तक दोडे ही होंगे कि इतने में उन्हें उस गाढे अंधकार में कसौटी पर सोने की रेखा की तरह दीप-प्रभा दीखी ॥ ८६ ॥

ग्रामं समालोच्य विवेकिवर्यः
कस्यापि गेहं गृहिणः प्रयातः ।
स्नात्वाशनं तत्र विधाय रात्र्यां
सुष्वाप वर्णी गुणिनां वरेण्यः ॥८७॥

गुणिवर्य विवेकी ब्रह्मचारी ने एक गाँव देखा । उस गाँव के किसी सद्गृहस्थ के यहाँ गए और उस रात को स्नान और भोजन के बाद वहीं सो गए ॥ ८७ ॥

ततः प्रभाते त्वरितं प्रतस्थे
प्रशान्तचेतास्स पुरो वनालिम् ।
विलोकयन् साभ्रमतीतटस्थां
समासदद् गुर्जरराजधानीम् ॥८८॥

प्रातःकाल ही जल्दी से उन्होंने उस गाँव से प्रस्थान किया। रास्ते में प्रसन्न मन से जंगल की शोभा देखते हुए साबरमती नदी के किनारे गुजरात की राजधानी अहमदाबाद में आ गये ॥ ८८ ॥

तां वीक्ष्य हर्म्यावलिरम्यरथ्यां
सुवर्णरत्नाञ्चितपण्यवीथिम् ।
श्रीयक्षराजो नगरीं हसन्तीं
श्रिया ययौ तत्पुरतो व्रतीन्द्रः ॥८९॥

इस नगरी में इन्होंने बडी बड़ी हवेलियों से युक्त गलियाँ देखी और इस नगर की दुकाने सोने चाँदी हीरा मोती आदि रत्नों से सजी हुई देखी। इन्हें ऐसा लगा कि मानों यह नगरी अपनो ऐश्वर्य शोभा से कुबेर की नगरी अलकापुरी को हँस रही हो। इस के देखने के बाद ये आगे बड़ौदा के लिये चल पड़े ॥ ८९ ॥

माकन्दवृन्दोपवनानि मार्गे
श्रीनन्दनोद्यानविभानि पश्यन् ।
सरित्सरोभाञ्जि वटोदराख्यां
विख्यातराजेन्द्रपुरीं प्रपेदे ॥९०॥

और मार्ग में अनेक नदियों और तालावों से शोभित नन्दनवन के समान आम्रादि-वृक्षों से शोभित मनोहर बागों को देखते हुए विख्यात राजधानी बड़ौदा में आ पहुँचे ॥ ९० ॥

योगीन्द्रमार्गणमनाः सुमनाः समन्ता-
दाटीन्मनीषिवरसज्जनसंगमीप्सुः ।
अप्राप्य तादृशमसौ शुभयोगदक्षं
संप्राप चेतनमठं यमिकर्मठेन्द्रः ॥९१॥

सहृदय ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य बड़ौदे में उत्तम विचारशील योगी सत्पुरुष की संगति की इच्छा से योगिवरों को चारों ओर ढूंढने लगे, परन्तु यहाँ इन्हें योग–विद्या में निपुण योगी न मिला। इसलिये ये चेतनमठ में आकर रहने लगे ॥ ९१ ॥

वेदान्ततत्त्वावगमप्रवीणाः
संन्यासिनो वर्णिवरा न्यवात्सुः ।
यत्रानिशं ब्रह्मपदप्रचर्चां
प्रचर्चयन्तो विदुषां सभासु ॥९२॥

इस मठ में वेदान्तशास्त्र में प्रवीण बड़े बडे संन्यासी और ब्रह्मचारी रहते थे। इन लोगों के साथ हमेशा ये ब्रह्म की चर्चा किया करते थे और कभी सभाओं में विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ भी किया करते थे ॥ ९२ ॥

ब्रह्मानन्दोऽद्वैतवादी यतीन्द्रो-
वेदान्तानामुच्चराद्धान्तवेत्ता ।

शास्त्रार्थे श्रीवादिनागेन्द्रसिंह-
स्तत्रासीद्यो धीमतामग्रगण्यः ॥९३॥

इस मठ में एक ब्रह्मानन्द नामक संन्यासी थे। ये बुद्धिमानों में श्रेष्ठ थे। ये बड़े ही पक्के अद्वैतवादी और वेदान्त के उच्च सिद्धान्तों के वेत्ता थे। ये शास्त्रार्थ में वादिगजराजों के लिये सिंहतुल्य थे ॥ ९३ ॥

तेनैव सार्धं व्रतिनोऽतिवेलं
नवीनवेदान्तविचारणाऽभूत् ।
अकारि पाण्डित्यबलेन येन
श्रीशुद्धचैतन्यमनःस्वनिघ्नम् ॥९४॥

इन्हीं के साथ ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य बहुत दिनों तक नवीन वेदान्त विषयक विचारणा करते रहे। स्वामी ब्रह्मानन्दजीने अपने पाण्डित्य के प्रभाव से ब्रह्मचारी के मन को प्रभावित कर लिया था ॥ ९४ ॥

आत्मा ब्रह्मैव सत्यं जगदिदमखिलं तद्धि मिथ्या नितान्तं
सिद्धान्तोऽद्वैततायाः विमलमनसि तैः संनिविष्टो व्यधायि ।
संख्यायां ब्रह्मबुद्धेरिति निगमविदोऽमुष्य सन्देहमुक्तो-
मुक्तं ब्रह्मास्मि नित्यं प्रथितयतिवरोऽबोधि कालं स कञ्चित् ॥९५॥

इन्होंने इन के निर्मल मन में अद्वैत सिद्धान्त को दृढता से ठसा दिया कि—यह आत्मा ब्रह्म ही है और वही सत्य है; यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है। निस्सन्देह ये वेदविद्वान् ब्रह्मचारी अपने विचारों से अपने को कुछ काल तक नित्यमुक्त ब्रह्म ही मानने लगे ॥ ९५ ॥
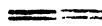
——

इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य वटोदरार्यकन्या-
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षि-
नैष्ठिकब्रह्मचर्यपरिग्रहो नाम षष्ठः सर्गः ।

सप्तमः सर्गः

आत्मानं ब्रह्म मन्वानं शुद्धचैतन्यमानसम् ।
नाविन्दततरां तृप्तिं प्रत्यक्षानुभवं विना ॥१॥

यद्यपि शुद्धचैतन्य अपने आत्मा को ही ब्रह्म मानने लगे थे, तथापि प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किये बिना उनका मन शान्त न होसका ॥ १ ॥

वेदान्तफक्किकाराहुग्रस्ततच्चित्तचन्द्रमाः ।
तत्त्वबोधसहस्रांशोः पावनांशूनुदैक्षत ॥२॥

इनके चित्त-चन्द्रको वेदान्त की फक्किकारूप राहुने ग्रस लिया था । इसलिये ये तत्वज्ञानरूपी सूर्य के पवित्र किरणों की प्रतीक्षा कर रहे थे ॥ २ ॥

शर्मदानर्मदातीरे तत्त्वज्ञानपरायणः ।
सच्चिदानन्दहंसेशो न्यवसल्लोकवन्दितः ॥३॥

कल्याणकारिणी नर्मदा नदी के तटपर तत्वज्ञान की चिन्ता में परायण लोगों में माननीय सच्चिदानन्द नामक एक परमहंस निवास करते थे ॥ ३ ॥

ब्रह्म जिज्ञासमानोऽयं ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
मुनीन्द्रसेवितां रेवां रम्यामह्नाय यातवान् ॥४॥

इसलिये ब्रह्मजिज्ञासु ये जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी साधुजन-सेवित रम्य नर्मदा नदी के किनारे जल्दी ही जा पहुँचे ॥ ४ ॥

संगतो मुनिहंसेन व्रतिहंसो विचारणाम् ।
अध्यात्मविषयां गूढां वितेने शुद्धचेतनः ॥५॥

व्रतिराज शुद्धचैतन्य उन परमहंसजी से मिले और उनसे अध्यात्मविषयक गूढ़ चर्चा करने लगे ॥ ५ ॥

अस्य तर्कयुतान् प्रश्नान् समाधातुं ह्यशक्नुवन् ।
चाणोदान्तिककर्णाली–तीर्थयात्रां स आदिशत् ॥६॥

वे इनके तर्कपूर्ण गूढ़प्रश्नों का समाधान न कर सके, इसलिये इन्हें चांदोद और कर्णाली तीर्थ की यात्रा करने की आज्ञा दी ॥ ६ ॥

ऊरी – रेवातरङ्गिण्योः पुण्यसंगमभूमिकाम् ।
तपोऽरण्यतपोलक्ष्मीरधितिष्ठति सर्वदा ॥७॥

ऊरी और नर्मदा नदियों का एक पवित्र संगमस्थान है। यहाँ मानों तपोवन की साक्षात् तपोलक्ष्मी ही सदा निवास करती है ॥ ७ ॥

वर्णिनां लब्धवर्णानां साधुसंन्यासिनां सताम् ।
योगिनां योगदक्षाणां यत्र पावनसंगतिः ॥८॥

प्रतिष्ठित ब्रह्मचारी, श्रेष्ठ साधु संन्यासी एवं योग विद्या में कुशल योगी लोगों की पवित्र संगति इस संगमस्थान पर होती ही रहती है ॥ ८ ॥

वेदान्तशास्त्रनिष्णाता सांख्ययोगविदां वराः ।
न्यायवैशेषिकाभिज्ञा मीमांसापारगामिनः ॥९॥
स्वामिनश्च महात्मानः परमार्थदृशः सदा ।
वीतरागास्तपोवित्ता यस्यां वासं वितन्वते ॥१०॥

इसी तपोवन में वेदान्तशास्त्र में निष्णात, सांख्य और योगशास्त्र के पंडित, न्याय और वैशेषिक में धुरन्धर एवं मीमांसा शास्त्र के पारगामी, स्वामी, महात्मा, परमार्थदर्शी, वीतराग और तपोधन संन्यासी सदा निवास करते हैं ॥ ९–१० ॥

तीर्थराजप्रयागस्य काश्याश्च युगपच्छ्रियम् ।
आहरन्तीमवाच्यां तां कर्णालीं कर्णसंगताम् ॥११॥
वर्णनीययशा वर्णी संप्रापद् वर्णसुन्दरीम् ।
निर्वर्णयन् वनान्तानां तटस्थानां परां श्रियम् ॥१२॥

उत्तमकीर्तिशाली ब्रह्मचारी नर्मदा किनारे के वनप्रदेश की सुन्दर शोभा को देखते २ कर्णाली तीर्थ में आ पहुँचे। यह कर्णाली मानों तीर्थराज प्रयाग और काशी की शोभा को एक साथ ही दक्षिण दिशा की ओर हरण कर ले आया हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था ॥ ११-१२ ॥

वीक्ष्य देवभुवं देवः शान्तिपीयूषनिर्भराम् ।
विद्वद्वृन्दिष्ठवन्दारुर्वन्दनीयां ननन्द सः ॥१३॥

विद्वद्गण को वंदन करनेवाले ये ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य शान्तिरूपी अमृत से भरी हुई इस प्रशंसनीय देवभूमि को देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए ॥ १३ ॥

अनूचानजनैः साकं नानागमविवेचनाम् ।
वेदान्तमर्मजिज्ञासु र्व्यतानीद् बहुशो व्रती ॥१४॥

शुद्धचैतन्य वेदान्ततत्व को जानने के इच्छुक थे। इसलिये इन्होंने श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानियों से अनेक शास्त्र-सिद्धान्तों पर चर्चा चलाई ॥ १४ ॥

श्रीचिदाश्रमसंन्यासी वेदान्तेऽनुपमो बुधः ।
यत्प्रभावेण तत्रासीन्नित्यं साधुसमागमः ॥१५॥

यहाँ चिदाश्रम नामक एक संन्यासी वेदान्तशास्त्र के अनुपम पण्डित थे। इन के प्रभाव से यहाँ सर्वदा साधु सन्तों का मेला लगा रहता था ॥ १५ ॥

योगदीक्षितसाधूनां विबुधानाञ्च दर्शनैः ।
आनन्दलीनचित्तानामन्वभूद्रसमात्मवान् ॥१६॥

इस मेले में कतिपय साधु ऐसे भी आते थे जो योग में निपुण होते थे और सदा आत्मानन्द में मग्न रहते थे। इन लोगों के दर्शनों से ये आत्मज्ञानी शुद्धचैतन्य आनन्द का अनुभव किया करते थे ॥ १६ ॥

तत्रैकः परमानन्दः परमो हंस आबभौ ।
तस्माद्ध्यैष्ट वेदान्तसारादिग्रन्थमण्डलम् ॥१७॥

यहाँ ही एक परमहंस परमानन्दजी रहते थे, इन से इन्होंने वेदान्तसार आदि ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन कर लिया ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्यमहादीक्षानियमावनमानसः ।
स्वपाणिपक्वसिद्धान्नं प्राश विश्रुततीव्रधीः ॥१८॥

शुद्धचैतन्य बड़े ही सूक्ष्मबुद्धिवाले थे। इन्होंने आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा ली थी। सनातनधर्मानुसार इन्हें कठोर नियमों का पालन करना पड़ता था, इसलिये अपने हाथ से पका कर इन्हें खाना पड़ता था ॥ १८ ॥

विद्याध्ययनसंपत्तावन्तरायो महानभूत् ।
पितृवंशप्रसिद्धेश्च स्वाभिज्ञानभयं सदा ॥१९॥

इन कारणों से विद्याध्ययन में इन्हें महान् विघ्न होता था। और साथ ही पितृवंश की प्रसिद्धि के कारण अपने पहचाने जाने का भी डर बना रहा था ॥ १९ ॥

इति चिन्ताविनिर्मुक्तो वाञ्छन् भवितुमात्मनः ।
संन्यासग्रहणायासौ सन्नद्धोऽजनि सर्वथा ॥२०॥

ये इस चिन्ता से अपने को मुक्त करना चाहते थे। इसलिये ये शीघ्र ही संन्यास ग्रहण के लिये तैयार हो गये ॥ २० ॥

संसारवासनाशून्यः संन्यासी मुक्त एव सः ।
केवलं वेषनामादेरियेष परिवर्त्तनम् ॥२१॥

वास्तव में तो ये संसार–वासनाओं से मुक्त संन्यासी थे ही; केवल मात्र अपने वेष और नाम का ही परिवर्तन चाहते थे ॥ २१ ॥

सुहृदो दाक्षिणात्यस्य प्राज्ञस्यासौ मुखेन तम् ।
ययाचे यतिदीक्षां तच्चिदाश्रमयतीश्वरम् ॥२२॥

यहाँ पर एक दक्षिणी पंडित इन के मित्र थे। उन के द्वारा इन्होंने स्वामी चिदाश्रमजी से संन्यास दीक्षा लेने की प्रार्थना की ॥ २२ ॥

संन्यासिप्रवरेणेयं प्रार्थना नोररीकृता ।
यूनो वीक्ष्य वयो न्यूनं न परीक्ष्यास्य मानसम् ॥२३॥

इस संन्यासिप्रवरने इन की आयु छोटी देख कर संन्यास देना स्वीकार न किया और इसीलिये उन्होंने इन के मन की परीक्षा न की ॥ २३ ॥

अमन्दोत्साह उत्साहं मन्दं नाकृत तद्गिरा ।
प्रत्यैक्षत महाभागो महाभागं यतिं गुरुम् ॥२४॥

शुद्धचैतन्य का उत्साह बहुत ही बढ़ा चढ़ा था इसलिये उन की वाणी से इन का उत्साह मंद न हुआ और ये एक महान् भाग्यशाली संन्यासी गुरु की प्रतीक्षा करने लगे ॥ २४ ॥

सत्संगे शास्त्रचर्चायां योगे शंकरचिन्तने ।
तावत्पुण्यमयं कालं रेवान्तेऽयापयन्मुदा ॥२५॥

संन्यासग्रहण तक ये यहाँ ही नर्मदा तट पर अपना पवित्र समय संत – संगति, शास्त्रचर्चा, योग और ईश्वर चिन्तन में आनन्द पूर्वक बिताने लगे ॥ २५ ॥

चतुर्विंशतिवर्षीयो दान्तःशान्तो व्रतीश्वरः ।
अथ शुश्राव सम्प्राप्तं दण्डिनं दक्षिणापथात् ॥२६॥

विविक्ते कानने कान्ते स्वामीन्द्रं व्रतिसंयुतम् ।
विरक्तं धीमतां धुर्यं वसन्तं जीर्णवेश्मनि ॥२७॥

चौबीस वर्षीय दान्त और शान्त इस ब्रह्मचारी ने सुना कि दक्षिण देश से एक दण्डी संन्यासी आये हैं, जो बड़े ही विरक्त एवं बुद्धिमान् हैं। उन के साथ एक ब्रह्मचारी भी रहता है और ये सुन्दर शान्त एकान्त कानन में टूटी फुटी कुटिया में निवास करते हैं ॥ २६–२७ ॥

दाक्षिणात्यबुधं मित्रं समादाय समादरम् ।
सेवायामुपतस्थेऽसौ दण्डिनो मोहखण्डिनः ॥२८॥

ब्रह्मचारीजी अपने दक्षिणी विद्वान् मित्र को साथ लेकर संसार के मोह को नाश करने वाले दण्डीजी के चरणों में आदरपूर्वक उपस्थित हुए ॥ २८ ॥

आलोचना समारब्धा ब्रह्मविद्यासुबोधिनी ।
समं ताभ्यां ततो ज्ञातं पाण्डित्यं प्रबलं तयोः ॥२९॥

इन के साथ उन दोनों की ब्रह्मविद्या सम्बन्धिनी आलोचना शुरु हुई। बाद में इन्हें पता लग गया कि ये दोनों ही ब्रह्मविद्या के प्रकाण्ड पण्डित हैं ॥ २९ ॥

शृंगेरीमठतो यन्तौ द्वारकामूषतुः पथि ।
तयोरेको यतीन्द्रोऽभूत् पूर्णानन्दसरस्वती ॥३०॥

शृंगेरीमठ से ये दोनों द्वारका जा रहे थे। मार्ग में कुछ दिन के लिये ठहर गये थे। इन में से एक संन्यासी का नाम पूर्णानन्द सरस्वती था ॥ ३० ॥

संन्यासदीक्षणं तस्मादाचकांक्ष यतीश्वरात् ।
प्रस्तोतुं यद् व्रती मित्रं स्वाम्यग्रे समकेतयत् ॥३१॥

शुद्धचैतन्य ने इस संन्यासिप्रवर से संन्यास दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की और अपने मित्र द्वारा स्वामीजी के पास प्रस्ताव उपस्थित करने का संकेत किया ॥३१॥

ततः सुहृन्मनोऽभिज्ञो विज्ञः प्रार्थयतानघः ।
स्वामिनं स्वामिवर्यासौ शुद्धचैतन्यवर्णिराट् ॥३२॥

परब्रह्मणि संसक्तो विरक्तो विजितेन्द्रियः ।
संसारकामनामुक्तो मुक्तोपमचरित्रवान् ॥३३॥

नैष्ठिकब्रह्मचर्येण स्वात्मानं मण्डयन् यमी ।
संन्यस्ताश्रमसंदीक्षां काङ्क्षति श्रीमतो गुरोः ॥३४॥

तब मित्र के मनोभाव को जानने वाले इस दक्षिणी पण्डितने स्वामीजी से प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य आप जैसे गुरु से संन्यास आश्रम की दीक्षा लेना चाहते हैं। ये शुद्धचैतन्य बड़े ही विरक्त, संयमी, संसारवासनारहित, मुक्तों के

जैसे चरित्र वाले, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से जीवन को बिताने के लिये दृढसंकल्पधारी तथा परब्रह्म की प्राप्ति के लिये आतुर हैं ॥ ३२–३४ ॥

संन्यासाश्रमयोग्यायुर्यद्यप्यस्य न विद्यते ।
परमादर्शशीलोऽयं शुद्धचेतस्तया व्रती ॥३५॥

यद्यपि इन की अवस्था अभी संन्यास आश्रम के योग्य नहीं हैं, तथापि अतिशुद्ध-हृदय होने से इन का चरित्र अत्यन्त ही आदर्श है ॥ ३५ ॥

विनीतो ब्रह्मविद्यायामतीवोत्कण्ठितान्तरः ।
मुमुक्षुर्ब्रह्म संप्रेप्सुस्तुरीयाश्रमयोग्यधीः ॥३६॥

ये विनम्र ब्रह्मचारी ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित, चतुर्थाश्रम के योग्य बुद्धिवाले एवं मुक्ति और ब्रह्मप्राप्ति के परम अभिलाषी हैं ॥ ३६ ॥

दीयतां यतिदीक्षास्मै शिष्यो योग्यतमो भवन् ।
विधास्यति भवत्कीर्तिं कौमुदीमिव मोदिनीम् ॥३७॥

इन्हें आप अवश्य ही संन्यास–दीक्षा दीजिये । ये आप के बड़े ही सुयोग्य शिष्य होंगे और आप की कीर्ति चन्द्रिका को फैलायेंगे ॥ ३७ ॥

स्वयंपाकादिकार्यत्वात् प्रत्यूहो जायते महान् ।
योगमार्गं यियासोर्यद् विद्यायामस्य चिन्तने ॥३८॥

स्वयं भोजन आदि बनाने के कारण इस योगमार्ग के पथिक को विद्या एवं ब्रह्मचिन्तन में महान् विघ्न होता रहता है ॥ ३८ ॥

दाक्षिणात्यबुधस्येमां निशम्यानुमतिं यतिः ।
पर्य्यैक्षत मनोऽमुष्य व्रतिनो मोक्षकांक्षिणः ॥३९॥

दक्षिणी पण्डित की इस सम्मति को सुनकर स्वामी पूर्णानंद ने मोक्षाभिलाषी इस ब्रह्मचारी के मन की खूब परीक्षा की ॥ ३९ ॥

निरीक्ष्यैनं शुचिस्वान्तं ब्रह्मचर्योज्ज्वलच्छविम् ।
आदिक्षत्स प्रसन्नात्मा व्रतायाहर्द्वयं विधेः ॥४०॥

इस के बाद इन के पवित्र अन्तःकरण और ब्रह्मचर्य की उज्ज्वल कान्ति को देखकर ये प्रसन्न हुए और दो दिनतक व्रत रखने को कहा ॥ ४० ॥

सोपवासजपं कृत्वा तृतीये दिवसे व्रती ।
यथावत् प्रयतः प्रापद् दीक्षार्थं दण्डिनं यतिम् ॥४१॥

ब्रह्मचारीने दो दिन तक उपवास और जप किया और तीसरे दिन पवित्र होकर संन्यास दीक्षा के लिये दण्डी जी के पास आये ॥ ४१ ॥

विधाय विधिवत् कल्पं व्रतिनोऽस्य यतीश्वरः ।
संन्यासदीक्षया दण्डी मण्डयामास वर्णिनम् ॥४२॥

यतिवर पूर्णानन्दजीने इस व्रती को विधि अनुकूल संन्यास दीक्षा से मण्डित किया ॥ ४२ ॥

काषायाम्बरसंशोभी दिव्यतेजास्स दण्डवान् ।
संन्यासी तरुणो रेजे शंकरः शंकरो यथा ॥४३॥

भगवे वस्त्र में दिव्य तेजस्वी, दण्डधारी ये तरुण संन्यासी इस प्रकार से शोभित हुए जैसे जगद्गुरु आदि शंकराचार्य ॥ ४३ ॥

गुरुहृत्कमलं ब्राह्मै र्महोभिः फुल्लयन्नयम् ।
आदित्य इव ताम्राभः प्रभाते शुशुभे यतिः ॥४४॥

ब्रह्मतेज से गुरु-हृदय रूप कमल को विकसाते हुए ये संन्यासी प्रभातकालीन, ताम्रवर्ण सूर्य के समान शोभित होने लगे ॥ ४४ ॥

कन्दर्पदुर्मदेभेन्द्रोद्दामदर्पविदारणे ।
मृगेन्द्रोच्चण्डवीर्योऽभूद् दण्डी दोर्दण्डमण्डितः ॥४५॥

ये दण्डी कामदेवरूपी दुर्मद गजराज के उद्दाम दर्प को दलन करने में सिंह-तुल्य प्रचण्डवीर्यशाली बाहुदण्डों से मण्डित थे ॥ ४५ ॥

आचार्यमानसाम्भोधिं सौम्यशान्तगुणांशुभिः ।
हर्षयन् यतिचन्द्रोऽभाल्लोकलोचनलोभनः ॥४६॥

ये संन्यासीरूपी चन्द्रमा आचार्य के हृदय सागर को सौम्य एवं शान्त गुणरूपी किरणों से तरंगित करते हुए लोगों के लोचनों को लुभाने लगे ॥ ४६ ॥

सदानन्दकरः शिष्यः पूर्णानन्दयतीश्वरैः ।
अभ्यधायि दयालुत्वाद् दयानन्दसरस्वती ॥४७॥

पूर्णानन्द सरस्वती ने इस सदा आनन्ददायी अपने शिष्य का दयालु गुण के कारण दयानन्द सरस्वती नाम रक्खा ॥ ४७ ॥

नम्रोत्तमाङ्गमाचार्यः शिष्यं भक्तिकृताञ्जलिम् ।
यतिधर्मानुपादिक्षत् दीक्षितं दीक्षितेश्वरः ॥४८॥

भक्ति से हाथ जोड़े हुए नतमस्तक दीक्षित शिष्य को आचार्य ने निम्न प्रकार से संन्यास धर्म का उपदेश दिया ॥ ४८ ॥

यतिधर्मानुरूपं ते वत्स ! चारित्र्यमुज्ज्वलम् ।
अस्त्येव तन्न शिष्यस्त्वं शिष्योऽपीति वचः शृणु ॥४९॥

हे पुत्र ! संन्यास धर्म के योग्य ही तुम्हारा चरित्र उज्ज्वल है, तथापि शिष्य होने के नाते कुछ उपदेश सुन लो ॥ ४९ ॥

सद्यमैर्नियमैर्युक्तो युक्ताचारविचारवान् ।
प्राणायामैर्दहन् दोषान् जपेश्वरगुणान् हृदा ॥५०॥

निरन्तर यमनियमों का पालन करो। पवित्र आचारविचार बनाये रखो। सर्वदा प्राणायाम से मलविक्षेपादि दोषों को दूर करते रहो और हृदय से ईश्वर के गुणों का जाप करो ॥ ५० ॥

सर्वभूतसमस्नेहः सर्वभावेषु निस्स्पृहः ।
परब्रह्मणि युक्तात्मा धर्मं चर तपोधनम् ॥५१॥

सब प्राणियों पर समान प्रेम रखो, सब प्रकार के पदार्थों से निस्पृह रहो। तप ही को परमधन मानकर निरन्तर पर ब्रह्म में लीन रहो ॥ ५१ ॥

मृत्युञ्जयतपस्तप्त्वा भव मृत्युञ्जयो भुवि ।
अमृतत्वाय कल्याणिन् कल्याणी मतिरस्तु ते ॥५२॥

हे कल्याण के इच्छुक ! मृत्यु को जीतने वाले तपश्चरण से संसार में मृत्युञ्जय बनो। मोक्षप्राप्ति के लिये तुम्हारी मति कल्याणकारक हो ॥ ५२ ॥

पूर्णानन्दसुतीर्थानां दयानन्दः सुतीर्थभाक् ।
उपदेशामृतं पीत्वा मुक्तिं मेने करस्थिताम् ॥५३॥

पूर्णानन्द सरस्वती जैसे सद्गुरु के उपदेशामृत को पीकर सुशिष्य दयानन्द ने मुक्ति को अपने हाथ में आई हुई माना ॥ ५३ ॥

संन्यासदीक्षणस्वात्यां देशिकेन्द्रमुखाम्बरात् ।
वाग्जलं तीर्थ्यहृच्छुक्तौ जज्ञे मौक्तिकमास्रुतम् ॥५४॥

संन्यासदीक्षारूपी स्वाँती नक्षत्र में दण्डी आचार्य के मुखरूपी आकाश से टपका हुआ उपदेशरूपी जल सुशिष्य की हृदयरूपी सीप में मोती बन गया ॥ ५४ ॥

अन्तेवासी कियत्कालं गुरुपादान्तिके वसन् ।
अध्यैत ब्रह्मविद्याया ग्रन्थानध्यात्मसंरतिः ॥५५॥

शिष्य दयानन्द कुछ काल तक गुरु चरणों में रहकर, अध्यात्म रत होकर ब्रह्मविद्या के ग्रन्थों का अध्ययन करते रहे ॥ ५५ ॥

अन्तरायं विचिन्त्यायं विद्याराधनकर्मणि ।
दण्डिने तन्निदेशेन स्वं दण्डं व्यतरद्यतिः ॥५६॥

विद्या ग्रहण में दण्ड को विघ्नरूप समझकर गुरु की आज्ञा से अपना दण्ड उन्हें ही सौंप दिया ॥ ५६ ॥

पूर्णानन्दसरस्वत्या दयानन्दसरस्वती ।
पूर्णानन्दाय लोकानां मोचितो भवबन्धनात् ॥५७॥

पूर्णानन्दजीने दयानन्द सरस्वती को संसार को पूर्णानन्द प्रदान करने के लिये संसार के बन्धनों से छुडा दिया ॥ ५७ ॥

विपश्चित्प्रवरौ पश्चाद्ययतुर्द्वारकापुरीम् ।
संन्यस्ताय विनीताय प्रदायाशिषमुत्तमाम् ॥५८॥

बाद में ये दोनों विद्वान् संन्यासी और ब्रह्मचारी, संन्यासी शिष्य को शुभाशीर्वाद देकर द्वारका गये ॥ ५८ ॥

दिव्यानन्दपदप्राप्तौ प्रसितो योगसाधने ।
दिष्ट्या कञ्चिद् यती दिष्टं तस्थौ निःसंगमानसः ॥५९॥

दिव्यानन्दपद की प्राप्ति के लिये योग साधन में रत होकर दयानन्द निःसंग मनसे कुछ काल तक वहीं रहे ॥ ५९ ॥

योगानन्दाभिधं योगे लब्धवर्णं निशम्य सः ।
व्यासाश्रमं जगामाथो योगशिक्षोपलब्धये ॥६०॥

दयानन्दजीने सुना कि योगानन्द नामक एक संन्यासी योगविद्या में परम निपुण हैं। इसलिये योगविद्या की प्राप्ति के लिये वे व्यास आश्रम में जा पहुँचे ॥ ६० ॥

रहस्यं योगविद्याया योगस्यारम्भिकां क्रियाम् ।
योगिनोऽस्मादधीयानोऽभ्यास सन्ध्यानतत्परः ॥६१॥

इनसे योग विद्या का रहस्य और योग की प्रारम्भिक क्रियायें सीखकर कुछ दिनों तक वहीं समाधिपूर्वक अभ्यास करते रहे ॥ ६१ ॥

वैयाकरणधौरेयं छिनूरग्रामवासिनम् ।
कृष्णशास्त्रिवरं प्राप व्याकृताध्ययनोत्सुकः ॥६२॥

छीनूर नामक ग्राम में व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित श्री कृष्णशास्त्री रहते थे। दयानन्द उनसे व्याकरण पढ़ने के लिये यहाँ आगये ॥ ६२ ॥

कञ्चित्कालमधीत्यास्माद् व्याकृतिं कृतिनां वरः ।
पुनश्चाणोदकर्णालीमासेदे सज्जनाग्रणीः ॥६३॥

कुछ दिनों तक संतवर दयानन्द उनसे व्याकरण पढ़ते रहे; और फिर चाणोद कर्णाली आगये ॥ ६३ ॥

लालसा सत्यजिज्ञासोर्योगलब्धेर्महात्मनाम् ।
उत्साहितममुं चक्रे सत्संगे शान्तिदायके ॥६४॥

सत्य की जिज्ञासा एवं योग प्राप्ति की लालसा इस महात्मा को महान् आत्माओं के शान्तिदायक सत्संग के लिये निरन्तर उत्साहित करती रहती थी ॥ ६४ ॥

अधिगन्तुं नवा विद्याः समुत्सुकमना यतिः ।
सञ्चुकोच न संगन्तुं सतामश्रान्तमन्तिकम् ॥६५॥

नई नई विद्याओं की प्राप्ति के लिये यह संन्यासी निरन्तर उत्सुक रहता । और श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाने में कभी भी संकोच नहीं करता था ॥ ६५ ॥

गृहत्यागेन सत्रायं निजाहङ्कारकण्टकम् ।
समुत्खाय मनोभूमेर्निचिक्षेप विनिस्स्पृहः ॥६६॥

घरत्याग के साथ ही इस निस्पृह संन्यासीने अपने मनोरूपी भूमि से अहंकार के काँटों को उखाड़ फेंका था ॥ ६६ ॥

आत्मप्रेमप्रसादान्नं भिक्षितुं भिक्षुपात्रिकाम् ।
कुटीं कुटीं करे धृत्वा श्रद्धयाऽऽटन्महात्मनाम् ॥६७॥

दयानन्द आत्म-प्रेमरूप प्रसाद को पाने के लिये हाथ में भिक्षापात्र लेकर श्रद्धा-सहित महात्माओं की कुटी कुटी पर फेरे लगाया करते थे ॥ ६७ ॥

ज्वालानन्दपुरी नाम्ना शिवानन्दगिरिस्तथा ।
प्रशान्तौ योगिनौदैवाद् दर्शनं तस्य जग्मतुः ॥६८॥

दैवयोग से ज्वालानन्दपुरी और शिवानन्दगिरि नामक दो प्रशान्त योगियों को साक्षात्कार करने का इन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ ॥ ६८ ॥

संगमं मंगलं लब्ध्वा तयोर्योगिवरेण्ययोः ।
दुरूहयोगतत्वानामकृतालोचनां मुनिः ॥६९॥

उन दोनों योगिवरों की मंगल संगति पाकर यतिवर गहन योगतत्वों की आलोचना करने लगे ॥ ६९ ॥

विज्ञायात्मपिपासुं तौ दयानन्दं सहात्मना ।
योगिनौ योगजिज्ञासुं कारयाञ्चक्रतुः क्रियाम् ॥७०॥

वे दोनों योगी दयानन्द को आत्मपिपासु एवं योगजिज्ञासु जानकर अपने साथ ही उन्हें योग क्रिया कराने लगे ॥ ७० ॥

साभ्रमत्यास्तटे रम्ये दुग्धेश्वरशिवालये ।
मासानन्तरमागच्छेद् भवानस्मद्दिदृक्षया ॥७१॥

भवन्तं योगविद्यायाः सरहस्याखिलक्रियाः ।
शिक्षयेव यथाशास्त्रं शीलनन्दितसन्मणे ! ॥७२॥

इत्याख्याय गतौ सन्तौ महान्तौ यतिनोऽन्तिकात् ।
योगविद्याविदां वर्य्यौ समृद्धां तां महापुरीम् ॥७३॥

इन्होंने यह भी कहा कि तुम एक मास के बाद सुंदर साबरमती के किनारे पर दुग्धेश्वर नामक शिवालय में हमें मिलना । हे सुन्दर चरित्र से संतों को आनन्द देने वाले दयानन्द ! हम तुम्हें योग के सम्पूर्ण रहस्य और क्रियायें यथाविधि सिखा देंगे—ऐसा कहकर ये दोनों महात्मा अहमदाबाद चले गये ॥ ७१–७३ ॥

मासमेकं दयानन्दो दिव्यानन्दपदोत्सुकः ।
जपानुष्ठानमातन्वन् न्यवसन्नर्मदातटे ॥७४॥

एक महीना तक दिव्यानन्दपदाभिलाषी दयानन्द नर्मदा के किनारे ही जप और अनुष्ठान करते रहे ॥ ७४ ॥

निश्चितानेहसि प्राप्तो निरीहो निश्चितस्थलम् ।
संगत्या योगिनोर्जातः कृतार्थोऽनिशमात्मवान् ॥७५॥

निश्चित दिन, निश्चित स्थान पर निरीह योगी दयानन्द उन योगियों से मिलकर अपने को कृतार्थ मानने लगे ॥ ७५ ॥

सहवासेन विज्ञातं योगिभ्यामस्य मानसम् ।
सुपात्रं योगतत्त्वानां पुण्यानामिव सन्निधिम् ॥७६॥

उन योगियों ने सहवास से इन के मन को पवित्रता का भंडार और योगविद्या के लिये सुपात्र समझ लिया ॥ ७६ ॥

अनर्घैस्तत्त्वरत्नैस्तौ क्रियात्मकसुशिक्षणैः ।
योगस्य मुदितौ शिष्यं मण्डयामासतुर्हितौ ॥७७॥

इस लिये दयानन्द पर प्रसन्न और इन का हित चाहने वाले इन दोनों योगियोंने योगविद्या के अमूल्य तत्वरत्नों से और क्रियात्मक शिक्षा से अपने शिष्य को मण्डित कर दिया ॥ ७७ ॥

महात्मानुग्रहेणायं यां लेभे योगनैपुणीम् ।
बद्धं कृतज्ञतापाशे तयात्मानममन्यत ॥७८॥

इन दोनों महात्माओं के अनुग्रह से दयानन्द ने जो योगविद्या में निपुणता प्राप्त की, इससे वे अपने को उन के कृतज्ञता पाश में बँधा मानने लगे ॥ ७८ ॥

अथार्बुदगिरेस्तुङ्गं शृगं संगमवाञ्छया ।
गन्तुं प्रास्थित पुण्यात्मा योगिनामुन्नतात्मनाम् ॥७९॥

पश्चात् उन्नतात्मा योगिवरों की संगति की इच्छा से पुण्यात्मा दयानन्द ऊँचे आबू पर्वत पर जाने के लिये तैयार हुए ॥ ७९ ॥

भवानीपर्वताग्रस्थाद् योगिराजाद् विशेषतः ।
ध्यानप्रकारमध्यैत तृप्तिं नाप तथाप्ययम् ॥८०॥

आबू की भवानी नामक चोटी पर पहुँच कर वहाँ के योगिराज से विशेष प्रकार की समाधि का अभ्यास किया और फिर भी योगविद्या से इन की तृप्ति न हुई ॥ ८० ॥

नानातीर्थस्थलेष्वेवं भ्राम्यन् सत्संगवाञ्छया ।
अष्टवर्षाण्ययं योगी यापयामास योगिनाम् ॥८१॥

इस प्रकार योगियों की सत्संगति की कामना से दयानन्दजी ने अनेक तीर्थों में भ्रमण करते हुए आठ वर्ष व्यतीत किये ॥ ८१ ॥

शरण्यं पुण्यसाधूनामरण्यं नार्मदं यथा ।
विख्यातमुत्तराखण्डं मण्डितं सिद्धमण्डलैः ॥८२॥

जैसे नर्मदातटवर्ती अरण्यप्रदेश पवित्र साधुओं का निवासस्थान है, वैसे ही उत्तराखण्ड भी सिद्ध पुरुषों के लिये विख्यात निवास–स्थान है ॥ ८२ ॥

द्वात्रिंशद्वर्षदेश्योऽसौ हरिद्वारमुपेयिवान् ।
कुम्भोत्सवे समायातान् द्रष्टुं सिद्धतपस्विनः ॥८३॥

जब स्वामीजी की अवस्था ३२ वर्ष की थी, तब ये हरिद्वार के कुम्भ मेले में आये हुए सिद्ध तपस्वियों के दर्शनार्थ पवित्र पर्व पर आपहुँचे ॥ ८३ ॥

भगीरथयशोगाथामालिखन्ती हृदंशुके ।
स्वर्गसोपानमालेव यत्र गंगा तरङ्गिणी ॥८४॥

जिस हरिद्वार में राजा भगीरथ की कीर्त्ति–गाथा को हृदयरूपी वस्त्र पर लिखती हुई गंगा नदी स्वर्ग की सीढ़ी की तरह उतरी है ॥ ८४ ॥

मनःस्थलीव साधूनां निर्मलाम्बुमयान्तरा ।
ब्रह्मानन्दरसज्ञानां सेवनीया मनोहरा ॥८५॥

यह गंगा साधुओं की हृदयस्थली की तरह स्वच्छ जल से भरी है, अतः ब्रह्मानन्द के रसास्वादन करने वालों के लिये यह मनोहर एवं सेवनीया है ॥ ८५ ॥

हिमालययशःशुभ्रा वैजयन्तीव राजते ।
तटद्वयमहारण्या पुण्यात्ममुनिमण्डिता ॥८६॥

जो गंगा हिमालय की शुभ्र कीर्तिपताका की तरह शोभा दे रही है। जिसके दोनों किनारे बड़े बड़े जंगलों से शोभित हैं, और जिन में पुण्यात्मा मुनिगण निवास करते हैं ॥ ८६ ॥

यस्यास्तीरे महात्मानो वीतरागा यतीश्वराः ।
भवबन्धननिर्मुक्ता यतन्ते मुक्तये सदा ॥८७॥

जिसके किनारे निवास करते हुए वीतराग महात्मा संन्यासी संसार बन्धन से मुक्त होकर सदा मोक्ष के लिये यत्न करते हैं ॥ ८७ ॥

दर्शं दर्शं दयानन्दो दयामयदयापगाम् ।
मन्दाकिनीं ननन्दायं दिव्यानन्दं प्रलाषुकः ॥८८॥

दिव्यानन्दपदाभिलाषी दयानन्द दयालु ईश्वर की दया की नदीरूप गंगा को देखकर प्रसन्न हुआ करते थे ॥ ८८ ॥

मंगले कुम्भमेलेऽलं वीक्ष्य संमर्दसंकुलम् ।
गंगाकूलमसौ यातश्चण्डिकाचलकाननम् ॥८९॥

मंगलमय कुम्भ मेले के समय गंगा के दोनों किनारों को भीड़ से भरा देखकर ये चण्डी पर्वत के जंगल में चले गये ॥ ८९ ॥

ध्यानचुञ्चुर्वसँस्तस्मिन् योगाभ्यासपरायणः ।
अन्ययोगचणैः साकं मुमुदे ज्ञानचर्चया ॥९०॥

उस जंगल में निवास करते हुए योगाभ्यास परायण होकर कभी समाधि में मग्न रहते और कभी अन्य योगविशारदों के साथ ज्ञान चर्चा का आनन्द लूटते थे ॥ ९० ॥

तस्मिन् साधुसमारोहे सूक्ष्मेक्षणपरीक्षया ।
अन्वैषीत्साधुरत्नानि रत्नकार इवानघः ॥९१॥

पवित्र दयानन्द साधुओं के उस मेले में सूक्ष्मदृष्टि से जौहरी की तरह साधुरत्नों को ढूँढ रहे थे ॥ ९१ ॥

आत्मदर्शी तपोवित्तैस्तत्त्वदर्शिभिरुत्तमैः ।
महात्ममणिभिर्धीमानालोचिष्ट तपोनिधिः ॥९२॥

आत्मदर्शी, तपोनिधि, धीमान् दयानन्द तपोधन, तत्वदर्शी श्रेष्ठ महात्माओं के साथ तत्त्वालोचन किया करते थे ॥ ९२ ॥

सम्मेलनसमाप्तौ सन् हृषीकेशमियाय सः ।
तत्र शुद्धात्मभिः सिद्धैर्विदधे योगसाधनम् ॥९३॥

कुम्भ समाप्त होने पर ये हृषीकेश को गये और वहाँ पवित्रात्मा योगियों के साथ योगसाधन करने लगे ॥ ९३ ॥

एकाकी कर्हिचिच्छान्ते कान्तारे शान्तिसागरः ।
समाहितमनाश्चक्रे समाधिं तत्त्वलोचनः ॥९४॥

शान्ति-सागर, तत्वदर्शी दयानन्द कभी कभी अकेले एकान्त कान्तार में समाधि लगाया करते थे ॥ ९४ ॥

गिरिवास्तव्यसाधुभ्यां संस्तुतो वर्णिनात्र सः ।
पश्यन् पार्वतसौन्दर्यं जगाम टिहरीं पुरीम् ॥९५॥

ये हिमालयवासी दो साधु एवं एक ब्रह्मचारी के साथ परिचित होकर उन्हीं के साथ पर्वत के सौन्दर्य का निरीक्षण करते हुए टिहरी जा पहुँचे ॥ ९५ ॥

विश्रुता साधुभिर्याऽभून् मण्डिता राजपण्डितैः ।
तस्यां बहुश्रुतैर्वासं वितेने तत्त्वविद् यतिः ॥९६॥

टिहरी राज-पण्डितों और श्रेष्ठ साधुओं से मण्डित होने के कारण विख्यात थी। इस नगरी में बहुश्रुत विद्वानों के साथ यतिवर तत्ववेत्ता दयानन्द रहने लगे ॥ ९६ ॥

पण्डितेन स निमन्त्रितो गृहं ।
भोजनाय बटुना यतिर्ययौ ।
मांसराशिमवलोक्य विस्मित-
स्स्वस्थलं लघु ततो निवृत्तवान् ॥९७॥

एक पण्डित के निमन्त्रण पर ब्रह्मचारी के साथ दयानन्दजी भोजन के लिये उसके घर गये। वहाँ मांस की सामग्री देखकर ये विस्मित होकर झट घर लौट आये ॥ ९७ ॥

स्वामिनं विनयवान् द्विजोत्तमो-
दुःखितःपुनरुपेत्य साग्रहम् ।

भोक्तुमार्तथत मांसभोजनं
राधितं तव कृते वदन्निति ॥९८॥

विनयी ब्राह्मण दुःखी होकर पुनः स्वामी जी के पास आया और आग्रहपूर्वक बोला कि स्वामिन् ! आप ही के लिये तो मैंने मांस आदि बनवाया है, इसलिये आप भोजन के लिये चलिये ॥ ९८ ॥

मांसभक्षणमहो द्विजस्य ते
साम्प्रतं न विधिनिन्दितं हि तत् ।
ग्लानिकृन्नु पललं विलोकने
रोचतां तदशनं कथं नु मे ॥९९॥

तब स्वामीजी ने कहा कि अहो द्विज ! ब्राह्मणों के लिये मांसभक्षण योग्य नहीं है। शास्त्र में मांसभक्षण की निन्दा है। मांस के देखने से ही घृणा होती है, फिर उसका खाना कैसे अच्छा लग सकता है ? ॥ ९९ ॥

निशम्येमां वाणीं मुनिनिगदितां ब्रह्मकुलजो
मुनेराहारार्थं फलविपुलमन्नं प्रहितवान् ।
प्रवृत्तिं मांसाशे द्विजकुलवराणामपि नृणां
विलोक्योद्विग्नोऽभूद्द्विजकुलमणिर्ब्रह्मणि रतः ॥१००॥

पश्चात् ब्राह्मण ने स्वामीजी की वाणी सुनकर उनके लिये पर्याप्त फलादि भेज दिये। श्रेष्ठ ब्राह्मणों को भी मांस भक्षण में प्रवृत्त देखकर द्विजकुलावतंस, ब्रह्मरत दयानन्द बहुत ही खिन्न हुए ॥ १०० ॥

इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य बटोदरार्यकन्या-
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षि-
संन्यासग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः ।

अष्टमः सर्गः

अथ द्विजेन्द्रो द्विजराजकान्तेः
प्रशान्तमूर्त्तेरवगम्य वाञ्छाम् ।
आदाय तन्त्राणि करारविन्दे
श्रीमद्दयानन्दमुनेर्न्यधत्त ॥१॥

पश्चात् उस द्विजेन्द्र ने चन्द्रतुल्य कान्तिवाले शान्तमूर्ति दयानन्द मुनिराज की तंत्रग्रन्थों के देखने की इच्छा जानकर तंत्र के सभी ग्रन्थ लाकर उनके हाथों में सौंप दिये ॥ १ ॥

विलोक्य तन्त्रेषु विनिन्द्यलेखान्
मदान्धलोकैर्लिखितान्समग्रान् ।
लज्जाकरान् वेदविरुद्धलीलान्
साश्चर्यचेताश्चिखिदे नितान्तम् ॥२॥

स्वामीजी ने उन तंत्र ग्रन्थों में वेद विरुद्ध बातें देखीं। उनमें मदान्ध लोगों ने बड़े ही निन्दित और लज्जाकर प्रबन्ध लिखे थे। वे इतने खराब थे कि उन्हें देखकर स्वामीजी आश्चर्यचकित होकर खेद करने लगे कि— ॥ २ ॥

नैकपत्नीव्रततापवित्रः
क्वादर्शवादः श्रुतिसम्मतोऽसौ ।
मात्रा भगिन्या सुतया जघन्यः
समागमः क्वायमधर्ममूलः ॥३॥

कहाँ वेदानुकूल एक पत्नीव्रत का पवित्र आदर्शवाद ! और कहाँ यह अधर्ममूलक मा, बहिन तथा बेटी के साथ जघन्य समागम ? ॥ ३ ॥

क्व कन्तुजन्तुप्रियतार्द्रचित्ता-
दयालवो ब्राह्मणपुंगवास्ते ।
क्व मद्यमांसाशनदुष्टशीला-
द्विजा इमे हिंसकतानिलीनाः ॥४॥

कहाँ वे प्राणियों पर प्रेम बरसाने वाले दयालु ब्राह्मणश्रेष्ठ ! और कहाँ ये मद्य-मांसादि भक्षण से दुष्टचरित्रवाले हिंसा में रत ब्राह्मण ! ॥ ४ ॥

विगर्ह्यकर्माचरणानि धूर्ता-
धर्मापदेशेन हि तन्वतेऽमी ।
मुक्तेरुपायानथ दर्शयन्तो-
निपातयन्त्येनसि मूढमर्त्यान् ॥५॥

ये धूर्त ब्राह्मण धर्म के बहाने निन्दित आचरणों को फैलाते हैं और मूर्ख मनुष्यों को इन कृत्यों को ही मुक्ति का मार्ग बतलाकर इन्हें पाप के गढ़े में डाल देते हैं ॥ ५ ॥

इत्थं विचिन्त्यात्मनि पुण्यशीलः
प्रज्ञातपाखण्डिसुपापलीलः ।
गत्वा ततः श्रीनगरं मुनीन्द्रः
केदारघट्टालयमध्युवास ॥६॥

इस प्रकार मन में पाखण्डियों की पाप लीला समझकर पवित्र चरित्र दयानन्द टिहरी से चलकर श्रीनगर आगये और केदारघाट पर रहने लगे ॥ ६ ॥

तत्रत्यविद्वज्जनपूजकाल्या
शास्त्रार्थकाले निगमागमज्ञः ।
तन्त्रागमोदाहरणैः परास्थत्
ताँस्तान्त्रिकाँस्तार्किकसार्वभौमः ॥७॥

श्रीनगर में तंत्रविद्या के जाननेवाले पुजारियों की बहुत संख्या थी। वेदशास्त्र के ज्ञाता, तार्किक–सार्वभौम स्वामीजी ने, उन वाममार्गियों को शास्त्रार्थ में उन्हीं के ग्रन्थों के प्रमाणों से हरा दिया ॥ ७ ॥

मनोरमारण्यविमण्डितांगां
विनिस्सरन्निर्झरतुंगशृंगाम् ।
समन्ततः सुन्दरशैलमाला-
मालोकमालोकमयं ननन्द ॥८॥

स्वामीजी इस केदारघाट के चारों ओर मनोहर अरण्यों से सुशोभित झरते हुए झरनों से युक्त ऊँची चोटियोंवाली शैलमाला को देखकर प्रसन्न हुआ करते थे ॥ ८ ॥

निसर्गसौन्दर्यमयीं विधातुः
शिल्पोत्तमादर्शनिदर्शनीयाम् ।
अनन्तशक्तेः स विलोक्य सृष्टिं
व्यचिन्तयद् वैभवमीशबुद्धेः ॥९॥

और अनन्त शक्तिशाली विश्वविधाता की निसर्ग सुन्दर अनुपम रचनामयी सृष्टि को देखकर ये ईश्वरीय बुद्धि के वैभव को विचारा करते थे ॥ ९ ॥

समाधिनिर्धूतमलान्तरात्मा
परेशभक्तिप्रवणान्तरक्षम् ।
एकान्तवासी समगान्महात्मा
गंगागिरिर्दैवत एनमद्रौ ॥१०॥

समाधि से पवित्रान्तःकरणवाले एकान्तवासी महात्मा गंगागिरिजी दैवयोग से इसी पर्वत पर ईश्वरभक्ति में लीन स्वामी दयानन्दजी से आ मिले ॥ १० ॥

अन्योन्यसम्भाषणजातहार्दौ
जातौ वयस्यौ समपुण्यशीलौ ।

आध्यात्मिकानन्दरसं पिबन्तौ
कालं चिरं निन्यतुरात्मवन्तौ ॥११॥

परस्पर बातचीत से समान, चित्त पवित्र–चरित्रवाले इन दोनों महात्माओं का आपस में खूब प्रेम होगया। और वे एक दूसरे के मित्र बन गये। आत्मतत्वज्ञ इन दोनों महात्माओं ने आध्यात्मिक आनन्द–रस–पान करते हुए दीर्घकाल तक यहीं निवास किया ॥ ११ ॥

अध्यात्मशुद्धाध्वनि संचरन्तौ
महेशसाक्षात्करणप्रसक्तौ ।
अन्योन्यसंगेन ननन्दतुस्तौ
योग्यस्य योग्येन हि भाति संगः ॥१२॥

ये दोनों पवित्र आध्यात्मिक मार्ग में विचरण किया करते थे और महेश का साक्षात्कार करने के लिये समाधि लगाया करते थे। परस्पर की संगति से वे दोनों आनन्द अनुभव करते थे। 'सचमुच योग्य की योग्य के साथ संगति सुहाती है।' ॥ १२ ॥

मुनीन्द्रमानन्दयितुं गिरीन्द्रे
प्रादुर्बभूव प्रकृतिः सुशीला ।
मनोज्ञरूपाहृतयोगिचित्ता
वित्ता नटीवेयमनिन्द्यलीला ॥१३॥

हिमालय में मुनीन्द्र दयानन्द को आनन्द प्रदान करने के लिये प्रकृति देवी मनोहर सौन्दर्य से योगियों के हृदय को लुभानेवाली, सुशीला, अनिन्दित क्रीडाशालिनी नटी की तरह प्रकट हुई ॥ १३ ॥

पलाशिनां पंक्तिषु पल्लवानां
लताततीनां कुसुमावलीषु ।
श्रियं निवेश्यैव मनोभिरामा-
मृतुर्वसन्तो विललास शैले ॥१४॥

ऋतुराज वसन्त शैलराज के वृक्षों के पत्रसमूहों में और लताओं के पुष्पों में मनोहर शोभा का संनिवेश करके खेल रहा था ॥ १४ ॥

सुमंजरीमण्डितमौलिमाला-
माम्रालिवीणां पिकमंजुनादाम् ।
आदाय पीताम्बरवर्णिनीव
वसन्तलक्ष्मीः पुरतोऽस्य रेजे ॥१५॥

स्वामीजी के आगे सुन्दर आम्रमंजरीमाला से मण्डित शिखरोंवाली, कोयल के मंजुल स्वरवाली, आम्रमाला की वीणा हाथ में लेकर मानों वसन्त-लक्ष्मी पीताम्बरधारिणी ब्रह्मचारिणी सी शोभती हो ॥ १५ ॥

नभः प्रसन्नं सलिलं प्रसन्नं
निशाः प्रसन्ना द्विजचन्द्ररम्याः ।
अहो वसन्ते रुरुचे वसन्ती
प्रसादलक्ष्मीः प्रतिवस्तु दिव्या ॥१६॥

आकाश प्रसन्न था, जल निर्मल था; रात्रियाँ चन्द्र और ताराओं से स्वच्छ सुन्दर थीं। अहा! प्रत्येक वस्तु में निवास करती हुई अलौकिक प्रसन्नता की शोभा वसन्त में चमक रही थी ॥ १६ ॥

शान्तात्मयोगीन्द्रतपःसुवर्णा
सुवर्णपुष्पालिचितोत्तमांगा ।
वनस्थली निर्मलनीरकान्ता
कान्तेव तस्थे प्रणयामृताढ्या ॥१७॥

शान्तात्मा योगीन्द्रों के तपरूप स्वर्णों से शोभित, सुन्दर रंगबिरंगी पुष्पों की माला से विभूषित मस्तकवाली, स्वच्छ जल से सुन्दर वनस्थली प्रेमामृत से भरी पत्नी की तरह भाव प्रकाशित करती हुई उपस्थित थी ॥ १७ ॥

वनप्रियाणां नु मदान्वितानां
निशम्य तं पंचमरागभंगम् ।

वितेनुरुर्वीरुहमण्डलानि
नृत्यं प्रमन्दानिलदत्ततालम् ॥१८॥

मद से युक्त कोकिलाओं के पंचमराग को सुनकर वृक्षमण्डल, मन्द मन्द पवन से दी जाती हुई ताल पर नृत्य कर रहा था ॥ १८ ॥

गुणालिगृह्या मधुलेहिपंक्ति
र्नानाप्रसूनालिरसं पिबन्ती ।
कलं क्वणन्ती निगमान्तसारं
बुधावलीवैक्षि विचक्षणेन ॥१९॥

स्वामीजी को ऐसा ज्ञात हुआ कि वेदान्त तत्व का प्रवचन करने वाली, गुणों की पक्षपातिनी, शास्त्रों के भावरस का पान करती हुई विद्वन्मण्डली की तरह भ्रमरों की पंक्तियाँ अनेक पुष्परसों का पान करती हुई मधुर गान कर रही हो ॥ १९ ॥

प्रफुल्लपुष्पद्विजराजिकान्ति
चलन्मनोहारिसुपर्णपाणिम् ।
ददर्श गुंजन्मधुपालिगीतिं
लताङ्गनालिं स मुनिर्लसन्तीम् ॥२०॥

मुनिराज दयानन्दने खिले हुए पुष्पों के दाँतों की कान्तिवाली, हिलते हुए मनोहर पत्तों के हाथोंवाली, गुंजन करते हुए भ्रमरों की गीतोंवाली ललित लता–ललना को नृत्य करते देखा ॥ २० ॥

असुं निशा चारुमृगांकवक्त्रा
नक्षत्ररत्नालिविशालिकण्ठा ।
अनन्दयत्कैरवशोभिनेत्रा
निरम्बुवाहाम्बररम्यगात्रा ॥२१॥

सुन्दर चन्द्ररूप मुखवाली, नक्षत्ररूपी रत्नों की माला से शोभित कण्ठवाली, चन्द्रकमल की सुंदर आँखोंवाली, स्वच्छ आकाशरूप सुन्दर वस्त्र से शोभित शरीरवाली निशादेवी मुनीन्द्र को आनन्द प्रदान कर रही थी ॥ २१ ॥

गिरिस्थलीनिर्झरवारिबिन्दून्
स्थलाम्बुजानां मधुरान् सुगन्धान् ।
चलन्मरुन्मन्दममन्दवीर्यं
मुनिं वहन्मोदयते स्म शीतः ॥२२॥

पर्वत प्रदेश के झरनों के जलबिन्दुओं के कारण शीतल, गुलाबों की मीठी सुगन्धि से सुवासित, मन्द मन्द चलती हुई वायुलहरी अमित शक्तिशाली मुनिराज को प्रसन्न कर रही थी ॥ २२ ॥

गुणान् गिरन्त्यो गिरिशस्य गौर्यो-
नार्यो गिरीन्द्रे गुणिभिःस्वकान्तैः ।
वासन्तपुष्पाभरणा वसन्ते
स्वान्ते सतः कौतुकमादधुस्ताः ॥२३॥

शैलराज हिमालय पर वसन्त की सुषमा छा रही थी । उस समय फूलों से अपने शरीर को सजाये हुई सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने अपने गुणवान् पतियों के साथ शिवजी के गुणों के गीत गाती हुई, गौरी पूजा के लिये जा रही थीं । उन्हें देख देखकर इन सत्पुरुष के हृदय में कुतूहल हो रहा था ॥ २३ ॥

शैलेन्द्रसौन्दर्यनिरीक्षकाणां
विभिन्नदेशागतयात्रिकाणाम् ।
वसन्तकाले भ्रमतां स वृन्दं
सानन्दमालोकत वन्द्यदेवः ॥२४॥

वन्दनीय दयानन्दने उसी वसन्त समय में पर्वतों की शोभा देखने वाले भिन्न भिन्न देशों से आये, घूमते हुए यात्रियों के वृन्द को बड़े ही आनन्दपूर्वक देखा ॥ २४ ॥

अथाग्रतो ग्रीष्ममभीष्मरूपं
द्रवद्धिमैः संकुलनीरतीरैः ॥

विनोदयन्तं तटिनीकुलैर्नॄन्
मुनिर्व्यलोके फलवद्रसालम् ॥२५॥

कुछ दिनों बाद बर्फ पिघलने लगा और नदियों के पात्र पानी से पूर्ण हो गये। आमों पर फल लग चुके थे, इसलिये मनुष्यों का मनोरञ्जन करती हुई ग्रीष्म ऋतु को स्वामीजीने हिमालय पर कोमलरूप में देखा ॥ २५ ॥

वनाग्निकीलाकुलकाननानां
विडम्बयन्ती रुचिरारुणाभाम् ।
कूजद्विहंगे विहरत्कुरंगे
विराजते यत्र पलाशपंक्तिः ॥२६॥

ढाकों की पँक्तियाँ लाल लाल फूलों से लदी थीं। इससे ऐसा ज्ञात होता था कि चारों ओर बनों में दावानल सुलग रही हो। इस समय बनों में विविध पक्षिगण गारहे थे और हरिणों की माला विहार कर रही थो ॥ २६ ॥

छाया घना शीतजलावगाहः
श्रीखण्डलेपो हिमशैलवासः ।
चन्द्रो रसालाञ्चितभोजनानि
शान्तिप्रदानि व्यजनं निदाघे ॥२७॥

इस गर्मी में सघन छाया, शीतल जल का स्नान, चन्दन का लेप, बर्फीले पर्वतों पर निवास, चन्द्र–चन्द्रिका और श्रीखण्डयुक्त भोजन बड़े ही सुखकर और शान्तिप्रदायक होते हैं ॥ २७ ॥

जलाभिषिक्तेषु लतागृहेषु
सुगन्धिवातैरतिवीज्यमानाः ।
दिनानि दीर्घाणि कथं कथञ्चिन्-
निन्युर्धनीन्द्रा विविधैर्विलासैः ॥२८॥

इस ऋतु में धनी लोग जलसंसिक्त लतागृहों में सुगन्धित पंखों से हवा किये जाते हुए, अनेक प्रकार की भोग विलास को सामग्रियों से लम्बे दिनों को किसी प्रकार बिता देते हैं ॥ २८ ॥

छायासु गावः सलिले महिष्यः
कुञ्जे मयूरा विपिने कुरंगाः ।
नीडे विहंगाः कुसुमेषु भृङ्गा
निषेदुरुग्रांशुमयूखतप्ताः ॥२९॥

सूर्य की प्रचण्ड गर्मी के कारण गौएँ छाया में, भैंसे पानी में, मोर झाडियों में, हिरन घने जंगल में, पक्षी घोंसलों में और भ्रमर फूलों पर बैठे थे ॥ २९ ॥

वियोगिनां सा हृदयस्थलीव
तप्ता मही दुर्जनचित्ततुल्यम् ।
सरो विशुष्कं लघु चण्डरश्मि-
र्वैरीव संतापकरः प्रजज्ञे ॥३०॥

वसुन्धरा वियोगियों के हृदय की तरह तप रही थी। तालाब दुर्जनों के चित्त की तरह जल्दी सूख चुके थे और सूर्य शत्रुकी तरह संतापकारक हो रहा था ॥ ३० ॥

शैलस्थली दाडिमपाटलाली-
प्रफुल्लपुष्पारुणकान्तिकान्ता ।
रक्ताम्बरालंकृतपुष्पितांगी
पुलिन्दकन्येव विभाति धन्या ॥३१॥

अनार और गुलाब के खिले फूलों की लाल लाल शोभा से मनोहारिणी शैलस्थली, लाल वस्त्रोंवाली, पुष्पों से सजी भीलकन्या की तरह सुन्दर शोभित हो रही थी ॥ ३१ ॥

स पार्वतीं काञ्चनपद्मकाञ्चीं
विश्वंभरां विश्वमनोहरां ताम् ।

तुतोष पश्यञ्छिवहर्षदात्री-
मृतंभरां बुद्धिमिव प्रसन्नाम् ॥३२॥

महर्षि दयानन्द, स्वर्णकमल के समान सोने की मेखला से भूषित, विश्वका भरणपोषण करने वाली, शिवजी को आनन्द देनेवाली, जगन्मनोहारिणी पार्वती की तरह एवं प्रसन्न ऋतम्भरा बुद्धि की तरह स्वर्ण कमलों से मण्डित विश्वमनोहर कल्याणदायिनी पर्वत-स्थली को देखते हुए प्रसन्न हुए ॥ ३२ ॥

महाशयस्तत्र जलाशयालीं
स्नानार्हनीरां जनपूर्णतीराम् ।
पतत्पतंगाकुलपद्मपुण्यां
शुचौ शुचिः प्रैक्षत प्रेक्षणीयाम् ॥३३॥

महान् आशय से सम्पन्न पवित्र दयानन्दने उस ऋतु में दर्शनीय तालावों को देखा। उनमें खूब निर्मल स्नान योग्य जल भरा था। उनके किनारे हरसमय मनुष्यों से भरे रहते थे। उनके कमलों पर हंस आदि पक्षी उड़ते और बैठते थे ॥ ३३ ॥

हिमालयोत्तुंगसुरम्यशृंगो-
च्छलत्प्रपातामृतबिन्दुमालाम् ।
सूर्यांशुसम्पर्कयुतां च चित्रां
माहेन्द्रचापश्रियमादधानाम् ॥३४॥

हिमालय की ऊँची सुन्दर चोटियों पर से जल धारायें जोर से गिर रहीं थीं। उनसे चारों ओर जलके कण-मंडल उड़ रहे थे। उनमें सूर्य की किरणें ऐसी मालूम हो रही थीं कि मानों इन्द्रने अपना इन्द्रधनुष्य तान लिया हो ॥ ३४ ॥

आनन्ददिव्यामृतवर्षिणीं तां
संसारतापावलिनाशनिष्णाम् ।
योगेन्द्रसंसिद्धिमिवाद्रिखण्डे
कादम्बिनीं कौतुकवाँल्लोके ॥३५॥

स्वामीजीने पर्वतों के भागों में योगियों की सिद्धि की तरह मेघमाला को आश्चर्य सहित देखा कि ये दोनों ही आनन्दरूप दिव्यामृत को बरसानेवाली एवं सांसारिक त्रिविध तापरूप उष्णता को नाश करनेवाली हैं ॥ ३५ ॥

शोकापनोदाय महानुभावा-
ज्ञानं यथा ज्ञानिजना ददानाः ।
तथाम्बरे नीलमहाम्बुवाहा-
विनिर्मलं वारि विचेरुरुर्व्याम् ॥३६॥

जैसे ज्ञानी महानुभाव शोक-संताप दूर करने के लिये संसार में पवित्र ज्ञान की वर्षा करते हुए विचरा करते हैं, वैसे ही आकाश में काले काले बादलों के बड़े बड़े टुकड़े निर्मल जल बरसाते हुए विचर रहे थे ॥ ३६ ॥

तमोमये वर्त्मनि गच्छतो नु-
र्गुरूपदेशः क्षणमात्रदीप्तः ।
यथा भवेदम्बुदकृष्णकाये
विद्युत्प्रकाशोऽपि तथा दिदीपे ॥३७॥

जैसे कुमार्गगामी शिष्य के हृदय में गुरु का सदुपदेश क्षणमात्र के लिये प्रकाशित हो जाता है वैसे ही बादलों के काले शरीर में कभी कभी बिजली चमक जाती थी ॥३७॥

विद्युद्विलासानिव भोगलक्ष्मी-
लासान् समालोक्य स हंससंघः
स्वं मानसं ब्रह्मसरोजशोभं
प्रमोदमुक्ता अशितुं प्रपन्नः ॥३८।

जैसे परमहंसों का समूह सांसारिक भोगविलासों को बिजली की तरह क्षणस्थायी समझकर ब्रह्मरूपी कमल से शोभित हृदयरूपी मानससरोवर में आनन्द रूपी मोती प्राप्त करने के लिये जाता है; वैसे ही इस वर्षा समयमें बिजली की चमक को देखकर हंस मानससरोवर में जा चुके थे ॥ ३८ ॥

प्रवर्षतां ज्ञानमिवाम्बु दिव्यं
सतां बुधानामिव वारिदानाम् ।
चिरं विनेया इव चातकास्ते
निपीय तृप्ता नितरां बभूवुः ॥३९॥

जैसे दिव्य ज्ञान बरसाते हुए विद्वान् सन्त गुरुओं का उपदेशामृत पीकर शिष्य तृप्त हो जाते हैं, वैसे ही चातक बरसते बादलोंका जलपान कर खूब तृप्त हो चुके थे ॥३९॥

विशालशैलोपमभीमरूपैः
पयोधरैः प्रावृषि लोकचक्षुः ।
अवाप्ति संमोहतमस्समूहै-
र्यथाम्बकं ज्ञानमयं जनानाम् ॥४०॥

जैसे मोहान्धकार से मनुष्यों के ज्ञान–नेत्र ढक जाते हैं, वैसे ही संसार का नेत्र सूर्य, विशाल शैलाकार भयंकर रूपधारी बादलों से घिर गया था ॥ ४० ॥

उन्मार्गवाहीनि नदीजलानि
समन्ततोऽयान् सुमलीमसानि ।
अशिक्षितानां हृदयानि यद्वत्
लक्ष्मीं प्रपद्याभिनवां प्रभूताम् ॥४१॥

जिस प्रकार अशिक्षितों के मन नई प्रभूत लक्ष्मी को पाकर मलिन और कुमार्गगामी हो जाते हैं; वैसे ही नदियों का जल मर्यादा–रहित होकर मलिन होगया था ॥ ४१ ॥

नीलाम्बुदानामवलीमधोऽधः
प्रहर्षिता मञ्जुरवा बलाकाः ।
मन्दारमाला इव राजमानाः
समुत्पतन्त्योऽजनयन्नृमोदम् ॥४२॥

काले बादलों की पँक्तियों के नीचे उड़ते हुए मधुर शब्दकारी आनन्दित बगुलों की पँक्तियाँ मन्दार मालाकी तरह शोभा देती हुई मनुष्यों को आनन्द दे रही थीं ॥ ४२ ॥

सा सूत्रधारेण सहाम्बुदेन
तडिन्नटी पुष्करंगशालाम् ।
उपेत्य लास्यं विदधे सहास्यं
द्राक् चंचला चंचललोचनेव ॥४३॥

मेघरूपी सूत्रधार के साथ बिजलीरूपी नटी आकाश की रंगशाला में आकर चपलनयना ललना की तरह हास्य करती हुई मानों नृत्य कर रही थी ॥ ४३ ॥

मन्ये मरुत्स्यन्दनवृन्दमिन्द्रा-
नक्तञ्चराणामधिरुह्य मेघाः ।
विद्युत्पताका वृषचापचापाः
श्रीपद्मिनीन्द्रं रुरुधुःसमेताः ॥४४॥

मेघरूपी निशाचरों के मण्डल बिजलीरूपी पताका से युक्त पवनरूपी रथ पर आरूढ़ हो कर सुन्दर इन्द्रधनुष रूपी धनुष्य धारण करते हुए, कमलिनीकान्त सूर्य को घेर रहे थे ॥ ४४ ॥

हरित्तृणालङ्कृतधान्यदेशा
नवेन्द्रगोपावलिमण्डितान्ता ।
सत्पद्मरागाञ्चितप्रान्तभागा
बभौ मही तत्र हरित्पटीव ॥४५॥

हरी हरी घासयुक्त अनाजों के खेतों से शोभित प्रान्त-भाग में नये इन्द्रगोप (वीर बहूटी) कीड़ों से आच्छादित पृथिवी लाल रत्नों की सी मनोहर किनारीवाली हरी साडी की तरह चमक रही थी ॥ ४५ ॥

अनेकवर्णाम्बरचारुखण्डे
शिखण्डिनो मेघमृदंगनादैः ।

मृगांकखण्डाकृतिचन्द्रकालीं
वितत्य नृत्यं विदधू रुवन्तः ॥४६॥

अनेक रंगोवाले सुन्दर प्रदेशों के गलीचे पर मेघरूपी मृदंग के नाद के साथ साथ केकारव करते हुए कलापिमण्डल चन्द्रकला तुल्य अपने पंखों को फैला कर नाच रहे थे ॥ ४६ ॥

रोलम्बबिम्बालिविडम्बिभिस्ते
जम्बूद्रुमा जम्बुफलैः परीताः ।
स्फुटत्कदम्बप्रसवाः कदम्बा-
अपीन्द्यशोभां कलयाम्बभूवुः ॥४७॥

भ्रमर माला तुल्य जामुन के फलों से लदे हुए जामुन के वृक्ष और खिले हुए कदम्ब किसी अवर्णनीय शोभा को धारण कर रहे थे ॥ ४७ ॥

विनीय वर्षासमयं यमीन्द्रः
केदारतीर्थे कमनीयकान्तिः ।
रुद्रप्रयागादिविलोकनोत्कः
पुण्यप्रभाते स ततः प्रतस्थे ॥४८॥

दिव्य—कान्ति दयानन्द केदारघाट पर वर्षा ऋतु बिताकर रुद्रप्रयागादि स्थानों को देखने की इच्छा से उत्सुक हो, मंगलमय प्रभात में चल पड़े ॥ ४८ ॥

स वर्णिना साधुयुगेन सार्द्धं
गच्छन् गिरौ शारदलिङ्गरम्याम् ।
विलोक्य शैलेन्द्रभुवं प्रसन्नः
प्रोवाच वाचंयम एवमार्यान् ॥४९॥

स्वामीजी दो साधुओं और एक ब्रह्मचारी के साथ यात्रा कर रहे थे । वे रास्ते में फैली हुई शरद् ऋतु की सुन्दरता को देखकर उनसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ४९ ॥

निरम्बुदं व्योम पवित्रमम्बु
प्रभञ्जनो मानसरञ्जनोऽयम् ।
वसुन्धरा सस्यमयी सुचन्द्रः
किं नो प्रशंसन्ति शरद्गुणालिम् ॥५०॥

हे साधुओ ! बादल रहित आकाश, पवित्र जल, मनोरंजनकारी वायु, अनाजों से लहलहाते खेत, तथा सुन्दर चन्द्रिका क्या शरद् ऋतु के गुणों की प्रशंसा नहीं कर रही हैं ॥ ५० ॥

नक्षत्रताराग्रहमण्डलानि
मेघावलीपंकमलीमसानि ।
प्रक्षाल्य मन्ये शरदा कृतानि
प्रसन्नलक्ष्मीरुचिराण्यमूनि ॥५१॥

मेघमाला की कीचड़ से मलिन नक्षत्र, तारा एवं ग्रहमण्डलों को इस ऋतुने धोकर स्वच्छ कर दिया है ॥ ५१ ॥

नदीनदानां गिरिनिर्झराणां
वारां घनानामिव वारणानाम् ।
शाखामृगाणाञ्च मदोद्धताना-
मौद्धत्यमेषां शरदा निरस्तम् ॥५२॥

इस ऋतुने नदियों, नदों, पर्वत के झरनों, मेघसमान मदमस्त हाथियों एवं वानरों की उद्धताई को दूर कर दिया हैं ॥ ५२ ॥

कादम्बिनीनाशवियोगखिन्नं
कदम्बकं चन्द्रकिणां वनेषु ।
विहाय बर्हाणि विनश्वराणि
धत्ते समाधिं नु विरक्तचित्तम् ॥५३॥

मेघमाला के वियोग से खिन्न मोरों का समूह जंगलों में पंखरूपी भूषणों को छोड़कर मानों विरक्त सा समाधि धारण कर रहा है ॥ ५३ ॥

शिखण्डिनीं संनिकटागतां तां
शिखण्डिनो नो दधतेऽनुरागम् ।
विनिस्पृहास्ते विषयेषु दोषान्
विज्ञाय किं दोषविदो विरक्ताः ॥५४॥

ये मोर पास आई हुई मयूरियों को भी देखकर अनुराग प्रकट नहीं कर रहे हैं। मानों वे विषयों में दोषों को देखकर निस्पृह होकर विरक्त होगये हों ॥ ५४ ॥

नभोऽम्बुदैर्हीनमिदं विलोक्य
कलापिनो मुक्तकलापरत्नाः ।
वितर्जिता हंसवरेण्यनादै-
र्मौनं स्थिता नूनममी विवर्णाः ॥५५॥

मोरोंने आकाश को बादल रहित देखकर अपने कलाप–भूषण को त्याग दिया है और हंसों के शब्दों से तिरस्कृत होकर सचमुच मलिन से हुए मानों मौन बैठे हैं ॥ ५५ ॥

शृंगाणि चारूणि महागिरीणां
धौतानि पूर्वं जलदावलीभिः ।
भास्वन्मणीनां रमणीयभासा
हसन्ति संभान्ति दिनेन्द्रकान्तिम् ॥५६॥

मेघमाला द्वारा बड़े बड़े पर्वतों की चोटियाँ पहले ही धोई जा चुकीं थीं। इसलिये वे उज्ज्वल रत्नों की रम्य प्रभासे मानों दिनराज सूर्य की प्रभा को भी हँस रही हैं ॥ ५६ ॥

चकोरकारण्डवचक्रवाक-
श्रीहंसराजालिविशालिनीनाम् ।
स्रोतस्विनीनां सरदच्छवारां
श्रीः कापि काशाम्बरधारिणीनाम् ॥५७

चकोर, चकवा, कारण्डव एवं हँसों की पंक्तियों से शोभित, शुभ्र पुष्परूपी वस्त्रों को पहननेवाली, बहती हुई स्वच्छ जलमण्डित नदियों की तो अवर्णनीय शोभा है ॥ ५७ ॥

आशास्सुहासास्सरितस्सुकाशा-
नृपा निजारातिनिबर्हणाशाः ।
सप्तच्छदामोदसुगन्धिताशाः
प्रवान्ति वाता इह मन्दशीताः ॥५८॥

दिशायें हँस रही हैं, नदियाँ काश-पुष्प से शोभित हैं। नृपतिगण अपने शत्रु का मर्दन करने के लिये उद्यत हो रहे हैं। सप्तच्छद की सुगन्धि दिशाओं में महक रही है और शीतल मन्द सुगन्ध पवन बह रहा है ॥ ५८ ॥

सरोजिनी स्मेरसरोजकान्ता
प्रसन्ननीरा कलहंसतीरा ।
मुदेन्दिराऽऽस्ते ह्युपवीणयन्ती
यस्यां मिलिन्दोदितवन्द्यगीतिः ॥५९॥

विकसित कमलों से सुन्दर निर्मल-नीरशाली, राजहँसों के निवासस्थान रूप इस सरोवर में लक्ष्मीदेवी आनन्द से हाथ में वीणा धारण करके गूँजते हुए भ्रमरों के बहाने से मानों मधुर गान गा रही है ॥ ५९ ॥

एणीकुलं शालिपबालिकाया-
निशम्य माधुर्यमयं सुगीतम् ।
बुभुक्षितं नैव बुभुक्षते तत्
केदारभाग् धान्यमहो विमुग्धम् ॥६०॥

अनाज खाने के लिये गया हुआ हरिणियों का झुण्ड धान की रखवाली करनेवाली गोपबालिकाओं के मधुर कर्णप्रिय गायन सुनकर भूखे रहने पर भी धान नहीं खा रहा है ॥ ६० ॥

सुपक्वसस्याहितरम्यलक्ष्मी-
वसुन्धराऽऽभाति वसुन्धरैव ।
नूनं मुने भूतशिवंकरीयं
व्याजह्रुरेवं बटुसाधुवर्याः ॥६१॥

इस प्रकार स्वामीजी की वाणी सुनकर ब्रह्मचारी और दोनों साधुओं ने कहा किः— हे मुनिवर ! उत्तम पके हुए अन्नों से मनोहर शोभावाली वसुन्धरा सचमुच वसुन्धरा ही प्रतीत होती है। अतः यह विश्वम्भरा सब प्राणियों का कल्याण करने वाली है ॥ ६१ ॥

रुद्रप्रयागं कृतभूरियागं
योगागमज्ञो निकषा वनान्तान् ।
निर्वर्ण्य कान्तान् घटयोनिशान्ता-
श्रमं समायात्सममर्च्यशीलैः ॥६२॥

बाद में उन पवित्र चरित्रशाली साधुओं के साथ योगशास्त्र में पारंगत स्वामीजी अनेक यागादिके कारण विख्यात रुद्रप्रयाग का अवलोकन कर उसके आसपास के सुन्दर गिरि वन प्रदेशों को देखते हुए अगस्त्य ऋषि के शान्त आश्रम में जा पहुँचे ॥ ६२ ॥

आमन्त्र्य यातौ यतिनं क्वचित्तौ
सवर्णिसाधू स्वमनीषिताद्रौ ।
भ्रमन्मनीषी विविधाश्रमेषु
शिवां पुरीं शृंगगतामयासीत् ॥६३॥

कुछ काल ठहरकर ब्रह्मचारी और दोनों साधु यतिवर दयानन्दजी की अनुज्ञा लेकर अपने इच्छित प्रदेशों में चले गये। महामनीषी योगिराज दयानन्द अनेकों आश्रमों में घूमते घामते, पहाड़ के शिखर पर बसी हुई शिवपुरी आ पहुँचे ॥ ६३ ॥

लालित्यलीलाललनालयाले
शैलोत्तमांगे स विशालसाले ।

यतीशचन्द्रः शुभपर्णशाला-
मध्यूषिवान् यापयितुं तुषारम् ॥६४॥

सौन्दर्यमयी लीलाललना के निवासस्थान और विशाल साल वृक्षों से शोभित शैलशृंग पर ये यतीश्वर हेमन्त ऋतु को बिताने की इच्छा से रहे ॥ ६४ ॥

प्रालेययञ्जालमयं जलानां
मृगांकयन्नुष्णकरं समीरम् ।
कृतान्तयञ्जीवनदं समन्ता-
द्धेमन्तमायाचण ऐदगान्ते ॥६५॥

इस पर्वत प्रदेश में पानी को बर्फ बनाता हुआ, सूर्य को चन्द्र तुल्य शीतल करता हुआ तथा जीवनदायी वायु को यमराज बनाता हुआ हेमन्तकाल ऐन्द्रजालिक की तरह आया ॥ ६५ ॥

अम्भोजिनी शीतहतांगदीना
जाता भुजंगा मदवारिहीनाः ।
प्रालेयनीरे विकला हि मीना-
वह्न्याश्रया हन्त नु दीनदीनाः ॥६६॥

बिचारी कमलिनी की काया शीत के कारण जीर्ण शीर्ण होगई, साँप मदहीन होगये। मछलियाँ पानी में भी व्याकुल होने लगीं। हाय! बिचारे गरीबों को केवल अग्नि का ही आश्रय था ॥ ६६ ॥

तुषारजालान्तरितोग्रभासं
भास्वन्तमेतं परिकल्प्य चन्द्रम् ।
सरोजिनी संविरहेण बभ्रे
नालावशेषां ध्रुवमंगयष्टिम् ॥६७॥

कुहरे से आच्छादित सूर्य को चन्द्र समझकर सरोजिनी दिन में ही सूर्य के विरह से मानों कृश होकर कमलदण्डमात्र शेष रह गई ॥ ६७ ॥

सारङ्गडिम्भो हिमपीडिताङ्गः
स्तन्यं जनन्या बत पातुकामः ।
दृढं मिथस्सम्पुटिताच्छदन्तं
व्यादातुमास्यं प्रभुरेव नासीत् ॥६८॥

हिम से व्याकुल शरीरवाला हरिण का बच्चा मां का दूध पीना चाहता है, किन्तु सरदी से दोनों जबड़े जकड़ जाने के कारण मुख न खुलने से दूध नहीं पीसकता है ॥६८॥

जलं विहंगा जलचारिणोऽपि
नादो व्यगाहन्त सुकेलिकामाः ।
वरूथिनीं युद्धकलानभिज्ञा-
विशन्ति नो भीरुहृदो यथाऽमी ॥६९॥

उत्तम क्रीडाकल्लोल की कामनावाले, जलविहारी पक्षी भी जलमें अवगाहन नहीं करते थे। जैसे युद्धकला से अनभिज्ञ कायर पुरुष सेना में प्रविष्ट नहीं होते ॥ ६९ ॥

मध्यन्दिनेऽपि द्विरदास्तृषार्त्ता-
अस्प्राक्षुरम्भो न करेण शीतम् ।
ग्रहीतुमेतत् प्रभवो यदा नो
पातुं पुनः का क्षमता तदीया ॥७०॥

प्यासे हाथी दोपहर में भी ठंडे पानी को छू नहीं सकते थे; जब पानी को वे ग्रहण नहीं कर सकते थे तो फिर पीने का सामर्थ्य कैसे हो ! ॥ ७० ॥

हेमन्तकाले हिमशैलभूमिः
शुक्लैर्हिमैश्छन्नसरोवनान्ता ।
श्वेताम्बरालङ्कृतदेहवल्ली-
देवीव साध्वी रुरुचे निकामम् ॥७१॥

हेमन्त कालमें बर्फ़ से ढके हुए तालाव और बनों वाली, हिमालय की भूमि श्वेतवस्त्रधारिणी साध्वी स्त्री की तरह सुतराम् अच्छी ही लगती थी ॥ ७१ ॥

निर्बाधसंकल्पमनाः स्वतन्त्रः
स संयमीन्द्रः शिवपुर्यमुष्याम् ।
व्यत्याय्य मासाँश्चतुरोऽद्रिशृंगा-
दवातरत्तीर्थपदं दिदृक्षुः ॥७२॥

अबाधित–संकल्प, स्वतंत्र यतीन्द्र दयानन्द उस शिवपुरी के शिखर पर ४ मास बिता कर दूसरे तीर्थस्थानों को देखने की इच्छा से नीचे उतरे ॥ ७२ ॥

स गुप्तकाश्यादिषु धामसु श्री-
नारायणान्तेषु महात्मसंगी ।
परिव्रिजन्पावनमूर्त्तिरागात्
केदारघट्टं पुनरेव काम्यम् ॥७३॥

श्रेष्ठ महात्माओं की संगति की इच्छावाले पवित्रमूर्त्ति दयानन्द गुप्त काशी से लेकर बद्रीनारायण तक के सबधामों में घूमघाम कर फिर से रमणीय केदारघाट आपहुँचे ॥७३॥

गंगागिरेस्संगतिसौख्यलाभान्
निसर्गसौन्दर्यगुणेन धाम्नः ।
मुदे बभूवात्र मुनेर्निवासः
प्रमोदते को न निजेष्टलाभे ॥७४॥

यहाँ का निवास स्वामीजी के लिये गंगागिरि महात्मा की संगति के आनन्दलाभ एवं स्थान की स्वाभाविक सुन्दरता के कारण आनन्ददायक होगया ! अपनी इष्ट प्राप्ति से किसे आनन्द नहीं होता ? ॥ ७४ ॥

महोदयो जंगमसम्प्रदाये
दीक्षाजुषां पण्डितपूजकानाम् ।

समागमैस्तत्कृतिनीतिरीतिं
विदन् विदांवर्य उवास दीर्घम् ॥७५॥

विद्वानों में श्रेष्ठ महोदय दयानन्द जंगम संप्रदाय के अनुयायी पण्डितों और पूजारियों के समागम से उनकी रीति नीति आचार व्यवहार जानते हुए चिरकाल तक वहीं रहे ॥ ७५ ॥

शनैः शनैश्शैलभुवो नितम्बा-
त्तुषारचैलं शिशिरः कराग्रैः ।
सैरैरपासार्य जहास नूनं
परिस्फुटत्कुन्दलताप्रसूनैः ॥७६॥

शिशिर समय धीरे धीरे पर्वतभूमि की मध्यस्थली पर से सूर्य की किरणरूपी अपनी अंगुलियों से बरफ़ की चादर हटाकर, खिलते हुए कुन्द लता के फूलों से मानों हँस रहा था ॥ ७६ ॥

परं नगोर्व्या हरितद्रुमाली-
वल्लीदुकूलं धृतमन्तरासीत् ।
अतः फलिन्याः कुसुमोपहासै-
रलज्जयत्सा कितवं प्रगल्भा ॥७७॥

परन्तु पर्वतभूमिने हरे हरे वृक्षों की पँक्तियों और लताओं की साड़ी अंदर पहन रखी थी इसलिये उस प्रगल्भा ने मेंहदी के फूलों के बहाने उपहास करके उस धूर्त शिशिरकाल को लज्जित कर दिया ॥ ७७ ॥

हिमोत्तमांगं स्थविराद्रिभर्त्तु-
र्बभौ महर्षेरिव शुक्लशीर्षम् ।
अनन्तकालादवहद्यतः श्री-
ज्ञानाम्बुगंगा विमलार्यलोके ॥७८॥

बूढ़े पर्वतराज हिमालय का शिर महर्षि के श्वेतमस्तक की तरह चमक रहा था। क्योंकि उसके मस्तक से निकली पवित्र ज्ञान–गंगा चिरकाल से आर्यावर्त्त में बह रही है ॥ ७८ ॥

तुंगेषु शृंगेषु वसन्ति नित्यं
हिमालयस्यैव तपोहिरण्याः ।
योगीन्द्रसंघा हिममण्डितेषु
श्रुतिं यथावस्य जनप्रवादः ॥७९॥

स्वामीजीने सुन रक्खा था कि हिमालय की बर्फीली ऊँची चोटियों पर तपोधन योगिजनों का मण्डल हमेशा ही रहता है ॥ ७९ ॥

इति द्रढीयान् हृदि सत्यवाचो-
विचेतुमेतानभवद् विचारः ।
ततोऽन्वयुंक्तायमगेन्द्रजातान्
योगीन्द्रयोगस्थलमिद्धमेधः ॥८०॥

इसलिये सत्यसंकल्पी दयानन्द के मन में उन्हें अन्वेषण करने के लिये दृढ विचार उत्पन्न हुआ। अतः तीक्ष्ण बुद्धिशाली स्वामीने पहाडियों से योगियों के रहने के स्थान के विषय में पूछ परछ की ॥ ८० ॥

अज्ञानिनां पर्वतवासिनृणां
सन्तोषदं नोत्तरमाप योग्यम् ।
महात्मनां कन्दरमन्दिरेषु
निवासनिश्चायकमात्मदर्शी ॥८१॥

आत्मदर्शी दयानन्दने पर्वतवासी उन अज्ञानियों से गिरिगुफाओं में महात्माओं के निवास सम्बन्धी संतोषप्रद योग्य उत्तर न पाया ॥ ८१ ॥

तदा दुरारोहसुदुर्गमाद्रे-
र्यात्रां स्वयं पुण्यचरित्रशाली ।

गवेषणार्थं महतां यतीनां
समाधिभाजां विदधौ समन्तात् ॥८२॥

तब पुण्यचरित्रशाली स्वामीने स्वयं ही दुरारोह एवं दुर्गम पर्वतों की यात्रा का निश्चय किया और इसलिये ये महान् समाधिधारी यतियों के अन्वेषण के लिये वहाँ से चल पड़े ॥ ८२ ॥

दुरन्तशैत्यं सहितुं न शक्ता-
स्तत्संगिनस्तं विजहुर्द्रुतं ते ।
अनन्तधैर्यो दिनविंशतिं स
व्यर्थं भ्रमित्वा न्यवृतन्निशान्ते ॥८३॥

स्वामीजी की इस यात्रा में उनके कुछ साथी भी थे। वे तो भयानक शीत को सहन न कर सके। इसलिये शीघ्र ही स्वामीजी को छोड़कर वे लौट आये, परन्तु स्वामीजी का धैर्य तो अटूट था। वे २० दिन तक बर्फ़ीले पहाड़ों पर घूमते रहे; अन्त में उन्हें निराश हो लौट आना पड़ा ॥ ८३ ॥

उत्साहसम्पत्तिमतां धुरीण-
स्तपोधनान्वेषणकर्मणोऽसौ ।
मनाङ् न धीमान् विरराम खेदाद्
ध्येयान्न धीरा विरमन्ति नूनम् ॥८४॥

उत्साहरूपी सम्पत्तिशालियों में अग्रगण्य धीमान् दयानन्द योगियों के अन्वेषण कार्य में जरा भी रुके नहीं, क्योंकि सचमुच विद्वान् लोग आपत्ति से घबराकर अपने ध्येय से पृथक् नहीं होते ॥ ८४ ॥

भ्राम्यन्नथोत्तुंगनगोत्तमांगं
स तुंगनाथाख्यमगान्मुनीन्द्रः ।
वीक्ष्यालयं पूजकमूर्त्तिपूर्णं
सद्यस्ततोऽवातरदह्नि तस्मिन् ॥८५॥

मुनीन्द्र घूमते हुए तुंगनाथ नामक ऊँचे गिरि शिखर पर जा पहुँचे। वहाँ तो उन्हें वे सब स्थान मूर्त्तिपूजकों से भरे हुए दृष्टिगोचर हुए; इसलिये वे शीघ्र ही उसी दिन नीचे उतर आये ॥ ८५ ॥

द्रागुत्तरन् विस्मृतमुख्यमार्गो-
ययौ घनारण्यपथं स घोरम् ।
विशालपाषाणकुलाकुलान्तं
निरम्बुगम्भीरझरीपरीतम् ॥८६॥

शीघ्रता में उतरते हुए वे मुख्य मार्ग भूल गये और घनघोर जंगल में जा पहुँचे, जो जंगल बड़े बड़े उबड़खाबड़ शिलाखण्डों और निर्जल एवं गहरे नालों से घिरा था ॥८६॥

अध्वानमल्पं चलितो लुलोके
मार्गं निरुद्धं पुरतो लताभिः ।
सकण्टकाभिर्घनपल्लवाभि-
र्भयंकरैर्गर्त्तवरैः प्रकीर्णम् ॥८७॥

थोडी दूर आगे जाने पर इन्हों ने देखा कि रास्ता तो कँटीले और गाढ़े पत्तों-वाले वृक्षों से एवं भयंकर दरोंसे व्याप्त है ॥ ८७ ॥

आरोहणं प्राणहरं महाद्रेः
समीक्ष्य भित्तेरिव तन्निशायाम् ।
उपस्थितायां विकटाटवीस्थः
प्रक्रान्तवान् सोऽवतरीतुमार्यः ॥८८॥

उस रात को यदि फिर लौट जाते हैं तो सीधी दीवाल की तरह पर्वतराज की प्राणघाती चढ़ाई है। इस लिये रात्रि आजाने पर इन्हों ने इस विकट जंगल में से नीचे उतरना ही श्रेयस्कर समझा ॥ ८८ ॥

गुल्मालिमालंब्य दृढं कराभ्यां
शनैः शनैरुत्तरितुं प्रवृत्तः ।

मुहूर्त्ततः प्रोच्चतटं तटिन्याः
स निर्जलायाः धृतिमान् प्रपेदे ॥८९॥

स्वामी जी धीरे धीरे हाथों से झाड़ियों को पकड़ पकड़ कर उतरने लगे । थोडी ही देर में धैर्यधनी दयानन्द एक सूखी नदी के ऊँचे किनारे पर आ पहुँचे ॥ ८९ ॥

विशङ्कटाङ्गीमधिरुह्य तुंगां
ततः शिलामेष समासु दिक्षु ।
निपातयँश्चक्षुरुदारभिक्षु-
र्ददर्श कान्तारमगम्यभीमम् ॥९०॥

उदार भिक्षुने बाद में एक विशाल ऊँची शिला पर चढ़कर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, तो उनके सामने एक महान्, विशाल, भयंकर, अगम्य जंगल दिखाई पड़ा ॥९०॥

अभ्रंलिहोर्वीरुहसंनिरुद्धाः
सूर्यांशवो नो विविशुर्दिवाऽपि ।
यस्मिन् प्रदोषे तिमिरस्य तस्मिन्
स्वच्छन्दराज्यं न भवेत्कथं नु ॥९१॥

जिस जंगल में दोपहर के समय भी गगनस्पर्शी वृक्षों से रुकी सूर्य किरणें अन्दर नहीं पहुंच सकतीं, वहाँ भला सायं समय में ही अन्धकार का स्वच्छन्द राज्य क्यों न हो ॥ ९१ ॥

स कण्टकाकीर्णपथेन गच्छन्
क्षताखिलाङ्गः प्रविदीर्णवासाः ।
पदे पदे कष्टमलं सहिष्णु-
र्जहौ न धैर्यं पुरुषार्थिवर्यः ॥९२॥

पुरुषार्थियों में श्रेष्ठ दयानन्द कंटकाकीर्ण मार्ग से आगे बढने लगे । इनके सारे अंग काँटों से क्षत-विक्षत हो गये और कपड़े फट गये । पद पद पर इन्हें अतिशय कष्ट सहने पड़े तो भी धैर्य नहीं छोड़ा ॥ ९२ ॥

आदित्यतेजोधरवर्णिराजं
दुःखाम्बुधौ मग्नमिमं निरीक्ष्य ।
सूर्योऽस्तशैलेश्वरकन्दरान्त-
स्तप्तुं तपोऽगान्नु विरक्तरूपः ॥९३॥

आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द को दुःख–सागर में डूबा–देखकर सूर्य भी विरक्त होकर मानों तपश्चरण के लिये अस्ताचल की कन्दरा की ओर चल पड़ा ॥ ९३ ॥

अस्ताचलालम्बिनमर्कबिम्बं
विलोक्य चेतस्यभवन्मुनेर्यत् ।
ध्वान्ते प्रवृद्धे गहने वनेऽस्मिन्
विनाम्बुवह्नी नु कथं वसेयम् ॥९४॥

सूर्यमण्डल को अस्ताचलगामी देखकर स्वामीजी के मन में विचार आया कि अन्धकार बढ़ जाने पर इस गहन वन में अग्नि और पानी के बिना मैं कैसे रहूँगा ॥ ९४ ॥

पुमर्थप्राबल्यमहाप्रभावात्
पंगूपमोऽयं प्रथितानुभावः ।
उल्लङ्घ्य निम्नोन्नतशैलभूमिं
समाययौ पर्वतपादमूलम् ॥९५॥

ये विख्यात तेजस्वी पैरों में छाले पड़ जाने पर भी पुरुषार्थ की प्रबलता के महान् प्रभाव से नीची ऊँची शैलभूमि को लांघकर पर्वत की तलेटी में आगये ॥ ९५ ॥

दृष्ट्वाऽयनं तत्र तमोवृतेऽसौ
तदेव संश्रित्य चलन् प्रवीरः ।
पुरः कुटीः प्राप्य कुटीस्थलोकान्
पृष्ट्वा तमोखीमठमापदीड्यम् ॥९६॥

स्वामीजी अंधकारावृत जंगल में एक रास्ता देखकर उस के सहारे चल पड़े, और थोडी दूर पर उन्हें कुछ कुटियाँ दिखाई दीं । वहाँ के लोगों से पूछकर विख्यात ओखीमठ आ गये ॥ ९६ ॥

पाखण्डलीनैर्वृषदम्भनिषण्णैः
संन्यासिभिर्लौकिकमोहमग्नैः ।
आलोकि पूर्णो यमिना मठोऽयं
मूढैस्स्तुतो विस्मितमानसेन ॥९७॥

ओखी मठ में स्वामीजी ने आश्चर्य मन से देखा कि–संन्यासी लोग लौकिक मोह में मग्न होकर धर्म के बहाने पाखण्ड–लीला कर रहे हैं । मूर्ख ही इन की प्रशंसा करते हैं ॥ ९७ ॥

ज्ञानेन शीलेन गुणेन मुग्धो-
मठाधिपोऽमुष्य यतेः प्रकामम् ।
प्रसन्नचेता विजितेन्द्रियं स
तमब्रवीदित्थमनर्घशीलम् ॥९८॥

इस मठ के महन्त संन्यासी दयानन्द के ज्ञान, चारित्र्य एवं गुणों पर मुग्ध हो गये और अत्यन्त प्रसन्न होकर उदात्त चरित्र से सम्पन्न, इन्द्रियविजयी दयानन्द से बोले कि :– ॥ ९८ ॥

भवेर्मम त्वं यदि सौम्य शिष्य-
स्तदाऽखिलाया मम सम्पदायाः ।
अधीशतां तुभ्यमहं समर्प्य
सम्मानभाजं महतां विदध्याम् ॥९९॥

हे सौम्य ! यदि तू मेरा शिष्य हो जाय तो मैं अपनी कुल जागीर का तुझे स्वामी बना दूँ और तुम बड़ों बड़ों के भी सम्मान-पात्र बन जाओगे ॥ ९९ ॥

दुःखाकरेऽस्मिन् गिरिकानने त्वं
भ्रमन् वपुस्त्वं कमनीयरूपम् ।
क्लेशैरनन्तैस्तपसामपात्रं
क्लिश्नासि भोगार्हमये किमर्थम् ॥१००॥

हे सौम्य ! तुम इस दुःखकारक जंगल और पर्वत में भटकते हुए अपने सुन्दर शरीर को अनन्त क्लेशों से क्यों दुःखी कर रहे हो ? यह शरीर तो भोग के योग्य है, तपश्चरण के योग्य नहीं ॥ १०० ॥

मठेशवाणीं निशमय्य वाग्मी
स्मितप्रभानिन्दितशारदेन्दुः ।
मुक्तैषणो युक्तमना मुनीन्द्रः
सप्रश्रयं वाचमुवाच चामुम् ॥१०१॥

अपने मन्दहास्य से शरत्कालीन चन्द्र को लज्जित करने वाले, तीनों एषणाओं से रहित, समाहित चित्तवाले, वाग्मी मुनीन्द्र, मठाधीश की वाणी सुनकर विनयसहित बोले ॥ १०१ ॥

वित्तं पितुर्मे विपुलं महात्मन् !
श्रीमद्धिरण्यादपहाय सर्वम् ।
मृत्पिण्डतुल्यं विषवच्च भोगान्
मोक्षाभिलाषी निरगां वनाय ॥१०२॥

हे महात्मन् , मेरे पिताजी की सम्पत्ति तो आपकी सम्पत्ति से भी अधिक थी। उन सब को मिट्टी के ढेले की तरह छोडकर और भोगों को विषतुल्य समझकर मुक्ति की इच्छा से जंगल के लिये निकल पड़ा हूँ ॥ १०२ ॥

सत्यं शिवं शंकरमाप्तुकामो-
योगेश्वराद् योगकलां प्रलिप्सुः ।

गुहां विचिन्वन्निह सिद्धवासां
सोऽहं चराम्यद्रिवने विरक्तः ॥१०३॥

मुझे तो 'सत्यं शिवं शंकरम्' का साक्षात्कार करना है और योगिजनों से योग-कलाकी प्राप्ति करनी है। अतएव विरक्त होकर सिद्धों की गुफाओं का अन्वेषण करते हुए जंगलों और पर्वतों में भटक रहा हूँ ॥ १०३ ॥

मुनीन्दुवदनाद् वचोऽमृतमनिन्दितं स्यन्दितं
पिबञ्श्रुतिपुटैस्सविस्मितमना मठाधीश्वरः ।
सुयौवनभुजोऽपि मन्मथजितः स्पृहाहीनतां
समीक्ष्य मुदितो निवस्तुमगदत्तमात्मान्तिके ॥१०४॥

मुनिवर दयानन्द के मुखचन्द्र से झरते हुए पवित्र वचनामृत को कानके दोनों से पीता हुआ मठाधीश महन्त विस्मित हो गया। और सुन्दर यौवनशाली होते हुए भी इन को कामदेव के जीतने में समर्थ एवं निस्पृह देखकर मुग्ध हो गया और उसने इनसे अपने पास ही रहने की प्रार्थना की ॥ १०४ ॥

प्रभुवरपदलाभे प्रत्तचित्तः सुखं य-
स्त्रिभुवननृपमानं मोक्तुमेवोद्यतः स्राक् ।
मठपरिवृढसृष्टैर्लोभपाशैः कथं स-
प्रथितयतिगजेन्द्रो ब्रह्मविद् ग्रन्थितः स्यात् ॥१०५॥

जो ईश्वर की प्राप्ति के लिये दत्तचित्त होकर सरलता से तीनों भुवनों के राज-सम्मान को भी लात मार देने को तैयार हो, वही ब्रह्मवेत्ता विख्यात यतिरूपी गजेन्द्र भला मठाधीश के फैलाये लोभ पाशों से कैसे बांधा जा सकता है ॥ १०५ ॥

इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य वटोदरार्यकन्या-
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षे
हिंमगिरौ योगिगवेषणो नामाष्टमः सर्गः ।

नवमः सर्गः

ओखीक्षेत्राज्ज्योतिराख्यं मठं स

प्राप्तज्योतिः संययौ संयमीशः ।

यत्राभूवन्नुच्चचारित्र्यवन्तः

संन्यासीन्द्रा दाक्षिणात्या महान्तः ॥१॥

ब्रह्मज्योति को प्राप्त करने वाले संयमीश्वर दयानन्द ओखीमठ से ज्योतिर्नामक मठ में जा पहुँचे, जहाँ उच्च चरित्रशाली दाक्षिणात्य महात्मा संन्यासी रहते थे ॥ १ ॥

तत्सत्संगं पुण्यमासाद्य तेषां

मध्यात्केषाञ्चित्सकाशात्स योगी ।

पुण्यश्लोको योगविद्यारहस्यं

लब्ध्वा बद्रीनाथतीर्थं जगाम ॥२॥

पुण्यश्लोक दयानन्द उनमें से कतिपय महात्माओं की पवित्र संगति प्राप्त कर योग-विद्या के रहस्य जान बद्रीनाथ धाम चले गये ॥ २ ॥

आसीत्पण्डारावलाख्यो मठेशो-

विख्यातो यस्तेन साकं वसन्त्सः ।

वादं वेदाद्यागमान्तर्वितन्वन्

कञ्चित्कालं यापयामास देवः ॥३॥

देव दयानन्द बद्रीनाथ में विख्यात मठाधीश रावलजी नामक पण्डा के यहाँ रहे और यहाँ वेदादि शास्त्रों के सम्बन्ध में विचार करते हुए कुछ समय बिताया ॥ ३ ॥

योगी कश्चित्सत्ययोगप्रवीणः

शैलेन्द्रेऽस्मिन् वर्तते वा न धीमन् ।

इत्यापृष्टः पण्डितो रावलोऽमुं
खिन्नोऽगादीन्नेति तादृक् सुसिद्धः ॥४॥

स्वामीजी ने रावलजी से एक दिन पूछा कि—इस पर्वत में कोई सच्चा योगी है या नहीं ? रावलजी ने खिन्न होकर कहा कि:— ऐसा कोई सिद्धयोगी नहीं है ॥ ४ ॥

आयात्यस्मिन्मन्दिरे कन्दरेभ्यः
प्रायो योगिव्यूह एवं मया सन् ।
अश्राव्यद्धाऽऽख्यत्पुनस्तं यदाऽसा-
वन्वेष्टुं तान्निश्चिकायैष सिद्धान् ॥५॥

बाद में रावलजीने कहा कि कभी कभी कंदराओं से योगिजन इस मन्दिर में आ जाया करते हैं, ऐसा सुना है। इसलिये स्वामीजीने उन्हें अन्वेषण करने का निश्चय किया ॥ ५ ॥

अह्न्येकस्मिन् पद्मिनीन्द्रोदयेऽयं
बद्रीनाथात्पर्वतप्रान्तपादम् ।
आलम्ब्य श्रीलो दयानन्ददेवः
सोत्कस्वान्तः प्रास्थितानन्दशीलः ॥६॥

एक दिन आनन्दी दयानन्द सूर्योदय के समय बद्रीनाथ से उत्तर की ओर तलेटी से होकर उत्सुकता पूर्वक चल पड़े ॥ ६ ॥

आसाद्यान्तेऽलक्ष्यनन्दातटं स
ग्रामं तस्या अन्यतीरे विलोक्य ।
तत्रागत्वा तत्तटेनैव यातो-
ऽस्योत्पत्तिस्थानमीड्यो हिमाढ्यम् ॥७॥

चलते चलते स्वामीजी अलखनन्दा के दूसरे किनारे पर एक गाँव देखकर उस ओर न जाकर अलखनन्दा नदी के किनारे किनारे ही उस के बर्फीले उद्गमस्थान को देखने की इच्छा से आगे ही चलते रहे ॥ ७ ॥

क्रान्त्वा कष्टैर्दुर्गमं मार्गमद्रेः
प्रालेयालीप्रावृतप्रान्तमाप्तः ।
सर्वत्रासौ व्योमसंस्पर्शिशृङ्गां
क्ष्माभृन्मालामालुलोके विशालाम् ॥८॥

वे बर्फ से ढके हुए इस पर्वत के दुर्गम मार्गों को बड़े कष्ट से लांघ कर एक ऐसे स्थान पर आ पहुँचे जहाँ चारों ओर आकाशभेदी विशाल पर्वतमाला सिवाय और कुछ भी दिखाई नहीं देता था ॥ ८ ॥

गोत्रै रुद्धे सर्वतोऽसंस्तुतेऽत्र
स्थाने मार्गं वर्त्मलक्ष्मापि किञ्चित् ।
नाप्त्वा कार्ये मूढचित्तः क्षणं सन्
पारं गन्तुं निश्चिकायापगायाः ॥९॥

चारों ओर पर्वतमाला घिरी थी। इस अपरिचित स्थान में रास्ते का कोई चिन्ह भी न था। ऐसी अवस्था में थोड़ी देर के लिये स्वामीजी किंकर्तव्यविमूढ हो गये। अन्त में कोई रास्ता न पाकर नदी पार करनेका ही निश्चय किया ॥ ९ ॥

वासांस्यासन्नल्पमात्राणि गात्रे
शीतो वातो देहभिद् बाणतुल्यः ।
क्लान्तः कायः क्षुत्पिपासाकुलत्वा-
दस्याभूत्तद्धैमखण्डं स आदत् ॥१०॥

स्वामी जी के शरीर पर वस्त्र भी बहुत ही थोडे थे। ठण्डी हवा बाण की तरह शरीर को भेदती थी। भूख और प्यास के कारण व्याकुल शरीर थक चुका था, इसलिये स्वामीजीने बुभुक्षानिवृत्ति के लिये बरफ का एक टुकड़ा मुंह में डाल लिया ॥ १० ॥

शान्तिं नाप्ते तद्बुभुक्षापिपासे
किन्तूत्साहस्तां तरीतुं तदाऽऽसीत् ।

पात्रं यस्याः पंक्तिहस्तप्रमाणं
गाधागाधं तौहिनाश्माम्बुपूर्णम् ॥११॥

बरफ का टुकड़ा खाने पर भी स्वामीजी की भूख और प्यास न गई। तो भी इन में नदी पार कर जाने का पूर्ण उत्साह था। नदी का पाट लगभग १० हाथ था। नदी कहीं गहरी और कहीं छिछली तथा बर्फीले पत्थर के टुकडों से भरी थी॥ ११ ॥

तस्याः पारं गच्छतस्स्वामिनोऽङ्घ्री
हैमग्राव्णां कोटिभिर्विद्धमूलौ ।
रक्तं ताभ्यां प्रावहद् यत्क्षताभ्यां
नीहारार्त्तौ नष्टसंज्ञावभूताम् ॥१२॥

उस नदी से पार जाते हुए स्वामीजी के पैर नोकदार बर्फीले पत्थरों से लहुलुहान हो गये। क्षत-विक्षत दोनों पैरों से खून बहने लगा और दोनों पैर बर्फ़से सुन्न हो गये॥ १२ ॥

मध्येधारं वीतचैतन्यकल्पः
कायः पातायोद्यतो यावदस्य ।
संगृह्यासौ सर्वशक्तिं स्वबुद्ध्या
तीरं प्राप्तः साहसैः क्लेशजिष्णुः ॥१३॥

बीच धार में जाते जाते स्वामीजी बेहोश से होने लगे। शरीर ज्योंही गिरने को था कि इतने में स्वामीजी पूर्ण मानसिक बलसे सब शक्तियों को केन्द्रित कर साहस से क्लेशों को जीतकर पार हो ही गये ॥ १३ ॥

निस्सार्यांगात्कृत्स्नवस्त्राण्ययं स्वा-
गंघ्रेरग्राज्जानुपर्यन्तभागम् ।
संवेष्ट्यालं पट्टकैः शुष्ककण्ठ-
स्तत्रातिष्ठत्प्रेक्षमाणस्सहायम् ॥१४॥

अपने शरीर पर से कुल वस्त्रों को उतार कर पैरों की अँगुलियों से लेकर घुटनों तक लपेट लिया। वहीं सूखे कण्ठ से विकल होकर सहायता की प्रतीक्षा करने लगे ॥१४॥

श्रान्तः क्लान्तोऽशक्त एतुं नितान्तं -
क्षुत्क्षामांगोऽभीक्ष्णमुद्वीक्षमाणः ।
अभ्यायन्तौ दृष्टवान् पर्वतीयौ
दिष्ट्या दूरात्कष्टसिन्धौ निमग्नः ॥१५॥

थके, मांदे, भूख से व्याकुल, चलने में एकदम असमर्थ, कष्ट सागरमें निमग्न स्वामीजी बारबार इधर उधर देख रहे थे कि भाग्यवशात् दो पहाडियों को दूर से आते देखा ॥ १५ ॥

श्यामश्यामैर्भीममेघैस्समन्तात्
संकीर्णायां दर्शरात्रौ यथा ना ।
सिन्धौ मज्जञ्जीवनाशाविहीनः
पोतं पश्येत्संसरन्तं समक्षम् ॥१६॥

जैसे काले काले भयंकर बादलों से घिरी अमावस्या की रात में समुद्र में डूबता हुआ, जीवन से निराश हुआ मनुष्य सामने से आते हुए जहाज को देखता हो ॥ १६ ॥

आगम्यामू साधुहंसस्य पार्श्वं
श्रद्धानम्रौ वीक्ष्य कष्टामवस्थाम् ।
सद्मात्मीयं प्रार्थयेतां प्रयातुं
विद्धांघ्रित्वाद्यातु ताभ्यां कथं तु ॥१७॥

वे दोनों पहाड़ी परमहंसजी के पास आये, श्रद्धा से प्रणाम किया और इनकी दुःखजनक अवस्था को देखकर अपने घर पर चलनेकी प्रार्थना की। किन्तु घायल पैरों से स्वामीजी उनके साथ कैसे जा सकते थे ॥ १७ ॥

क्लेशोदन्तं तं निशम्यार्द्रचित्तौ
सत्पत्तीर्थं नेतुमात्तप्रतिज्ञौ ।

वारं वारं सानुरोधं मुनीन्द्रं
स्वातिथ्यार्थं प्रोचतुर्भद्रकामौ ॥१८॥

स्वामीजी की क्लेशजनक बातें सुनकर वे दोनों द्रवितचित्त होकर इन्हें सत्पत् तीर्थ ले जाने के लिये कटिबद्ध होगये। स्वामीजी के शुभेच्छु पहाड़ियोंने वारंवार आग्रहपूर्वक अपने आतिथ्य–स्वीकार के लिये उनसे प्रार्थना की ॥ १८ ॥

तां स्वीकर्त्तुं प्रार्थनामक्षमोऽयं
नैवेत्युक्त्वा मौनमस्थान्मनस्वी ।
खिन्नात्मानौ जग्मतुस्तौ यथेष्टं
के निर्बन्धुं मुक्तहंसं समर्थाः ॥१९॥

मनस्वी स्वामीजी उनकी प्रार्थना स्वीकार करने में असमर्थ थे। अतः 'न आसकूँगा' ऐसा कहकर स्वामीजी चुप होगये। वे दोनों खिन्न होकर यथेष्ट स्थान को चलते बने। भला! मुक्त हंस को बाँधने में कौन समर्थ हो सकता है? ॥ १९ ॥

पञ्चत्वं किं यामि शैले हिमानी-
पूर्णप्रान्ते क्षुत्तृडार्त्तो हताशः ।
नैवाकाण्डे युक्तरूपा मुमूर्षा
तत्त्वालोचैर्जीवनान्तो वरीयान् ॥२०॥

हिमाच्छादित इस प्रदेश में भूख और प्यास से व्याकुल क्या मैं मर जाऊँ? असमय में ही मर जाने की इच्छा अच्छी नहीं हैं। तत्वकी आलोचना करते करते ही जीवन का अन्त होना अच्छा है ॥ २० ॥

इत्यालोच्य प्राप्तविश्रामसुस्थः
शान्तात्मायं दिव्यशक्तिप्रसन्नः ।
प्रस्थायागाद् वासुधाराख्यतीर्थे
स्थित्वा भूयो बद्रिकाधाम नक्तम् ॥२१॥

शान्तात्मा दिव्यदयानन्द इस प्रकार विचार करने के बाद थोड़ी विश्रान्ति मिलने से कुछ स्वस्थ हुए, और उठ खड़े हुए। वे चलते हुए वासुधारा नामक तीर्थ में आगये और यहाँ से इसी रातमें बद्रीनाथ आगये ॥ २१ ॥

मृत्योरास्यान्नूनमद्यागतोऽयं
मृत्योर्जेता ब्रह्मचारी प्रसिद्धः ।
दिव्यं मार्गं तं यियासोर्महर्षे-
र्मन्ये जाताऽमुष्य दिव्या परीक्षा ॥२२॥

ब्रह्मचारी मृत्यु को जीतनेवाला होता है, यह बात प्रसिद्ध है। स्वामीजी सचमुच आज मृत्यु-मुख से वापिस आगये थे। मानों दिव्य मार्ग के पथिक इस महर्षि की आज दिव्य परीक्षा होगई ॥ २२ ॥

आयातं श्रीरावलस्सोऽन्वयुंक्त
क्वागा धीमन् कृतस्त्वघस्रं त्वमद्य ।
श्रान्तः क्लान्तो दृश्यसे यन्नितान्तं
तस्मै सर्वं वृत्तमाख्यत्तदायम् ॥२३॥

रावलजीने स्वामीजी के आनेपर उनसे पूछा कि—हे महात्मन्, आप आज दिनभर कहाँ गये थे ? आज आप एकदम थके मांदे लगते हैं। तब स्वामीजीने सब बातें कह सुनाईं ॥ २३ ॥

श्रुत्वाश्चर्यं प्राप्तवान् सज्जनोऽसौ
प्रादादस्मै भोजनं सोऽपि जग्ध्वा ।
रात्रौ सुप्तो गाढमानन्दतस्तं
प्रातर्बुद्धः प्रास्थितामंत्र्य मंत्री ॥२४॥

स्वामीजी की कहानी सुनकर इस सज्जन को आश्चर्य हुआ और उनको तुरन्त ही भोजन ला दिया। स्वामीजी भी खाकर रात में आनन्द पूर्वक गाढ़ निद्रा में सोगये; प्रातःकाल जागने पर इनसे आज्ञा लेकर चल पड़े ॥ २४ ॥

गच्छन् रामाख्यं पुरं सायमेष
प्राप्ते साधोराश्रमे न्युष्य पुण्ये ।
तत्त्वज्ञानालापहृष्टान्तरंगः
संकल्पान् स्वान् स्थैर्यभाजः प्रचक्रे ॥२५॥

रामपुर को जाते हुए स्वामीजी रात को एक साधु के आश्रम में ठहर गये। उनकी आध्यात्मिक-चर्चा से संतुष्ट हो गये और अपने संकल्पों को दृढ़ कर लिया ॥२५॥

अन्येद्युर्द्राक् स्नानसंध्यानिवृत्तः
पूतात्मासौ संचचालात्मदृष्टिः ।
नानाशैलारण्यमुल्लङ्घ्य चिल्का-
घट्टं रामं पत्तनं संप्रपेदे ॥२६॥

आत्मदर्शी पवित्रात्मा दयानन्द दूसरे दिन सवेरे जल्दी ही स्नान संध्या से निवृत्त होकर चल पड़े और अनेक जंगलों, पहाड़ों तथा चिलका घाट को लांघते हुए रामपुर आ पहुँचे ॥ २६ ॥

आसीत्तस्मिन् रामगिर्याख्यसाधु-
र्वृत्ते ख्यातश्चित्र आध्यात्मिके यः ।
तस्याभ्याशे वासमाश्चर्यदर्शी
स्वामी चक्रे योगतत्त्वाभिलाषी ॥२७॥

यहाँ रामगिरि नामक एक साधु अध्यात्मविषयक अद्भुत चरित्र में बड़े प्रसिद्ध थे; अतः आश्चर्यदर्शी योगाभिलाषी स्वामीजी रातको उन्हीं के पास ठहर गये ॥ २७ ॥

नैवास्वाप्सीदेव तम्यां कदापि
प्रोच्चैर्जातु प्रालपत्प्रारुदच्च ।
तच्चर्चान्ते ज्ञातवानर्चनीय-
स्तस्योनत्वं योगकृत्ये विधिज्ञः ॥२८॥

यह साधु रात को कभी न सोते थे । कभी २ ऊँचे २ प्रलाप करते थे और कभी २ रो पड़ते थे । योग–विद्या में निपुण वन्दनीय स्वामीजी ने बातचीत के अनन्तर उन की योगविद्या की न्यूनता समझ ली ॥ २८ ॥

पश्यन् काशीपत्तनं निर्गतोऽस्मा-
दागात्स्वामी सागरं द्रोणपूर्वम् ।
हेमन्तर्तुं तर्तुमस्मिन् मनोज्ञं
निश्चिच्येऽसौ सच्चरित्राग्र्यचन्द्रः ॥२९॥

स्वामीजी यहाँ से निकलकर काशीपुर को देखते हुए द्रोणसागर नामक स्थान में आ पहुँचे । सदाचारी जनों में चन्द्ररूप स्वामीजी ने मनोहर हेमन्त ऋतु को यहीं पर व्यतीत करने का निश्चय किया ॥ २९ ॥

उत्तीर्यान्ते शीतकालस्य तस्मा-
न्निम्नां भूमिं सम्भलादौ वसन् सन् ।
गंगातीरं दुर्गमुक्तेश्वरान्ते
दिव्यानन्दः प्रापदात्मज्ञहंसः ॥३०॥

आत्मज्ञ–शिरोमणि दिव्यानन्द दयानन्द शीतकाल बीत जाने पर वहाँ से नीचे उतरे और संभल आदि स्थानों में निवास करते हुए गढ़–मुक्तेश्वर के पास गंगा किनारे आ गये ॥ ३० ॥

प्रालेयाढ्ये शैलशृंगे तटिन्या-
घोरे तीरे दुर्गमारण्यमार्गे ।
प्राणान्ते यः क्लेशजालेऽपि धैर्यं
नैवाहासीत्साहसं तस्य वन्द्यम् ॥३१॥

हिमाच्छादित शैलशिखरों पर, नदियों के भयानक किनारों पर एवं दुर्गम जंगली रास्तों पर प्राणान्त कष्ट आने पर भी जिस महर्षि ने अपना धैर्य नहीं छोड़ा, ऐसे ऋषि का साहस वन्दनीय है ॥ ३१ ॥

श्रान्तिः क्लान्तिः क्षुत्पिपासा प्रलोभः
सर्वाङ्गाणां शोणितं संक्षतानाम् ।
शीताधिक्यं भीमता पर्वतानां
नामी शक्ता भ्रंशितुं ध्येयतोऽमुम् ॥३२॥

थकावट, मुर्झावट, भूख प्यास, प्रलोभन, घायल अंगों का रक्त, अधिक शीत एवं पर्वतों की भयानकता—आदि कुछ भी इनको अपने ध्येय से हटा न सके ॥ ३२ ॥

योगावाप्तौ योगिनां मार्गणे यो-
यावान् क्लेशोऽसह्यतानन्तधृत्या ।
तावान् सोढः स्यान्न नूनं तदन्यै-
र्लोके लोके सत्यदेवाप्तिकामैः ॥३३॥

इन्होंने योग की प्राप्ति में योगियों के अन्वेषण में असीम धैर्य से जितना कष्ट सहन किया है, उतना सचमुच संसार में सत्य की प्राप्ति के लिये किसी और ने सहन न किया होगा ! ॥ ३३ ॥

चेतःशक्तिः सन्निगूढेदृगस्या-
मल्पीयस्यामस्थिसंसृष्टमूर्तौ ।
स्थातुं शक्ता मानवानां प्रकृत्या-
ज्ञानालोचैरित्यहो नैव दृष्टम् ॥३४॥

हड्डियों की इस छोटे से ढेरवाली मूर्त्ति में कितना आत्मिक बल छिपा रह सकता है—इस बात को आजतक मानवप्रकृति के आलोचकों ने स्वामीजी के अतिरिक्त कहीं बिल्कुल नहीं देखा होगा ! ॥ ३४ ॥

संगृह्यालं योगिपुष्पद्रुमेभ्यो-
योगज्ञानं वा मरन्दं मिलिन्दः ।
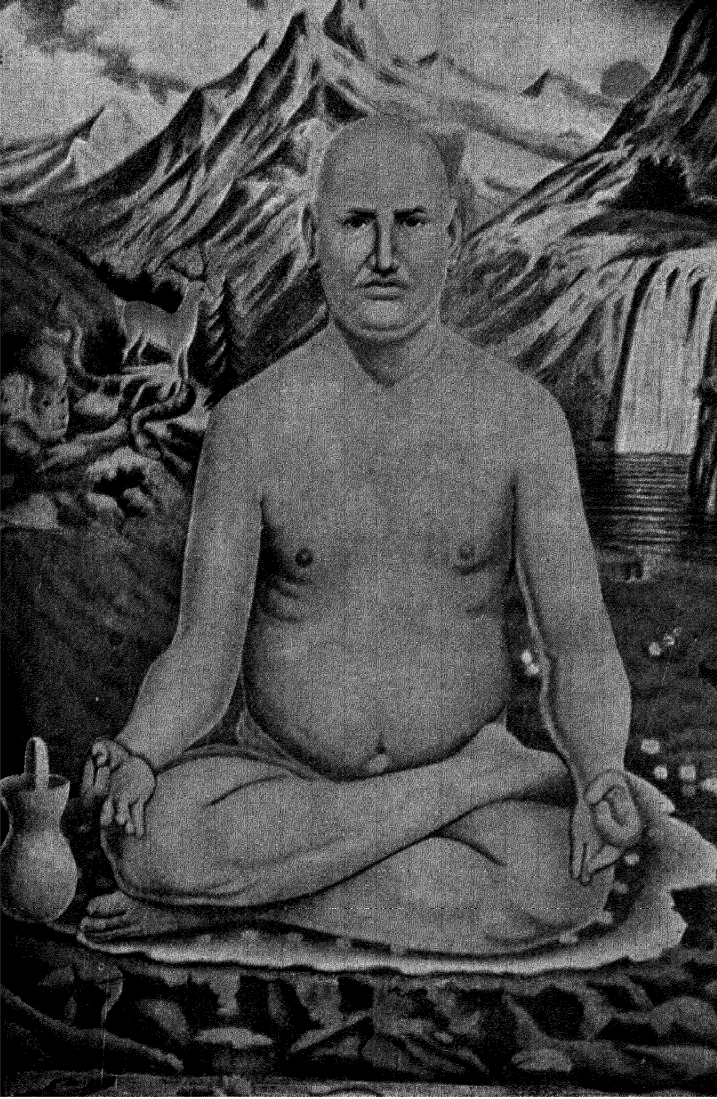
योगीराज

मर्षि दयानन्द सरस्वती

सानन्दात्मा कन्दरस्थः स योगी
योगाभ्यासं वर्धयामास तीव्रम् ॥३५॥

इस योगी मधुकर ने योगीरूपी फूल के वृक्षों से योग-ज्ञानरूपी पुष्परस को खूब संग्रह किया और वे आनन्दपूर्वक कन्दरा में बैठकर तीव्रता से योगाभ्यास बढ़ाने लगे ॥ ३५ ॥

क्लिष्टाक्लिष्टान् पञ्चवृत्तिप्रकारान्
रोधं रोधं शुद्धसत्त्वो विरक्तः ।
मैत्रीमुख्यै र्लब्धचित्तप्रसादो-
द्रष्टू रूपे नित्यमस्थान्महात्मा ॥३६॥

महात्मा दयानन्द क्लिष्ट और अक्लिष्ट नामक पाँच प्रकार की वृत्तियों को रोककर सब विषयों से उपरत होकर शुद्धसत्व हो गये, और मैत्री करुणा आदि की भावनाओं से चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त कर निरन्तर द्रष्टा बुद्धि, आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप में स्थित हो गये ॥ ३६ ॥

प्राणायामैरिन्द्रियाणां प्रदोषान्
दाहं दाहं धारणाध्वस्तपापः
प्रत्यग्ज्योतिर्दर्शनानन्दतृप्तो-
दिव्यानन्दं श्रीदयानन्द आप्नोत् ॥३७॥

वे इन्द्रियों के सम्पूर्ण दोषों को प्राणायामों से जलाकर, धारणावृत्ति से पापों का क्षय कर चुके थे । अतः श्रीदयानन्दजी ने प्रत्यग्ज्योति आत्मा के दर्शनजन्य आनन्द से तृप्त होकर दिव्यानन्द की प्राप्ति कर ली थी ॥ ३७ ॥

ओ३म्रूपात्मध्यानलीनान्तरात्मा
प्रज्ञानीन्द्रः सर्ववृत्तिव्रजानाम् ।
रोधेनासौ साधिताबीजयोगः
साक्षाच्चक्रे सच्चिदानन्दमीशम् ॥३८॥

ऋतम्भरा प्रज्ञा के साक्षात्कार करने वालों में श्रेष्ठ स्वामीजी ने ओ३म् स्वरूप परमात्मा के ध्यान में अन्तरात्मा को मग्न कर, सर्व प्रकार की वृत्तियों के निरोध से निर्बीज समाधि साधकर सच्चिदानन्द परब्रह्म का दर्शन कर लिया ॥ ३८ ॥

रम्याः सिद्धीरष्ट रामा इवास्मै
दिव्यान् भोगानाददानास्सुरूपाः ।
श्रीमद्योगज्ञाय संतिष्ठमाना-
धैर्येणैताः प्रत्यकार्षीदृतज्ञः ॥३९॥

इनके पास आठों प्रकार की दिव्यभोग प्रदान करनेवाली, सुन्दर स्वरूपवाली, स्त्रियों की तरह सिद्धियाँ, अपने भावों को प्रकाशित करती हुई, उपस्थित रहती थीं, किन्तु ऋतज्ञ योगीन्द्र ने इन्हें धैर्य से हटा दिया ॥ ३९ ॥

सोऽधिष्ठाता रूपवत्याः प्रकृत्या-
नानारूपैश्वर्यवत्त्वेऽपि तस्याम् ।
नासक्तोऽभूद् विक्रियाहेतुसत्त्वे
चित्तं मुह्येन्नैव यस्यैष धीरः ॥४०॥

जो विविधरूपधारिणी प्रकृति देवी पर प्रभुत्व रखनेवाला, अपने अनेक यौगिक ऐश्वर्यों से सम्पन्न होने पर भी उस में आसक्त न हो और विकार के कारणो के समुपस्थित होने पर भी जिसका चित्त विचलित न हो—वही धीर पुरुष है ॥ ४० ॥

योगाष्टांगप्राप्तिपूर्णप्रतिष्ठो-
नष्टाहन्तः श्रीविभूतीश्वरत्वे ।
ब्रह्मानन्दे केवले लीनवृत्तिः
साफल्यं यो जीवनस्याप सूरिः ॥४१॥

इस क्रान्तदर्शी विद्वान् ने योग के आठो अंगों का पालन करने से पूर्णब्रह्म में पूर्णनिष्ठा प्राप्तकरली थी, अहंभाव नष्ट कर दिया था। सब विभूतियों के ऐश्वर्यो को प्राप्त करने पर भी ये केवल ब्रह्मानन्द में लीन रहते थे और अपने जीवन को सफ़ल बना चुके थे ॥ ४१ ॥

गामुत्तीर्णः पुण्यराशिः शरीरी
मूर्त्तो मोदो मानवीं मूर्त्तिमाप्तः।
आद्यो वर्णो वाश्रमोऽनुत्तमो वा
मन्ये रम्यं कायमार्यः प्रपन्नः ॥४२॥

आर्यशिरोमणि स्वामीजी मानों पृथिवी पर अवतीर्ण शरीरधारी पुण्य ही थे, मानों मानवी मूर्त्ति में आये हुए मूर्त्तिमन्त प्रमोद थे, मानों सुन्दर शरीर में आये हुए ब्रह्मचर्य और प्रथमवर्ण ही थे ॥ ४२ ॥

कल्याणार्थः कल्पवृक्षः कृपालुः
कारुण्याम्भोवर्षणः कृष्णमेघः।
कान्तं कायं ब्रह्मचर्याभिरामं
बिभ्रद् ब्रह्मज्ञानवर्षीव वेदः ॥४३॥

दयालु दयानन्द कल्याणकारी कल्पवृक्ष थे, कारुण्य-जल बरसाने वाले श्याम मेघ थे; ब्रह्मचर्य से सुशोभित कमनीय शरीर धारणकरनेवाले, ब्रह्मज्ञानवर्षी मानों साक्षात वेद ही थे ॥ ४३ ॥

सत्यार्थानां संप्रकाशे विवस्वान्
सद्वाग्वल्लीहर्षणेऽभूत् सुधांशुः।
एनःशैलोन्मूलने वज्रपाणि-
र्धीमन्मुक्तामालिकामध्यहीरः ॥४४॥

वे सत्यतत्त्वों के प्रकाशन में सूर्यतुल्य थे, उत्तमवाणी रूपी लता को विकसित करने में अमृतमय चन्द्र समान थे, पाप पर्वत को विदारने में वज्रबाहु इन्द्र थे और बुद्धिमान् रूप मुक्ताहार में हीरे के तुल्य थे ॥ ४४ ॥

दिव्यप्रज्ञालोचनप्लुष्टकामो-
गंगातीरे बद्धपद्मासनस्थः।

ब्राह्मे काले ब्रह्मसंध्यानलीनो
रेजे योगी भूतिलिप्ताङ्गकोऽयम् ॥४५॥

दिव्य ज्ञान–नेत्र से कामदेव को भस्मकरने वाले ये ब्रह्मानन्दी योगिवर ब्राह्ममुहूर्त में गंगा के किनारे पद्मासन लगाये और देह में भस्म रमाये सर्वदा ब्रह्मध्यान में लीन रहा करते थे ॥ ४५ ॥

धर्मग्रन्था योगबीजादयोऽन्ये
पार्श्वेऽभूवन्नस्य साधोरिदानीम् ।
स्वाध्यायं तद्ग्रन्थचक्रस्य चक्रे
प्रायस्सत्यज्ञानलिप्सुर्मुमुक्षुः ॥४६॥

इन महापुरुष के पास योगबीजादि अन्य धार्मिक ग्रन्थ थे, ये उनका सर्वदा स्वाध्याय करते रहते थे । मुमुक्षु प्रायः सत्यज्ञान प्राप्ति के इच्छुक होते हैं ॥ ४६ ॥

नाडीचक्रोदन्तबाहुल्यमेषां
मध्ये केषाञ्चित्तदा पुस्तकानाम् ।
स्थाने स्थाने वीक्ष्य तत्सत्यतायां
संदिग्धोऽयं तत्परीक्षोत्सुकोऽभूत् ॥४७॥

उनमें से कतिपय पुस्तकों में स्थल २ पर प्रायः नाड़ीचक्रों का वर्णन देखकर उनकी सत्यतासे संदिग्ध होकर वे उन पुस्तकों की परीक्षा के लिये उद्यत हो गये ॥ ४७ ॥

गंगानीरे दैवयोगाद् वहन्तं
दृष्ट्वाथैकं दूरदर्शी शवं सः ।
नाडीचक्रोदन्तसन्देहनाशे
योग्यं काण्डं चिन्तयामास सद्यः ॥४८॥

दैवयोग से उन्होंने एक दिन गंगा की धारा में दूर से बहकर आते हुए एक शव को देखा और उन्होंने नाडीचक्रों के संदेह निवारण का यह योग्य अवसर समझा ॥ ४८ ॥

उत्तार्यासावुत्तरीयांशुकं तत्

तीर्त्त्वाऽऽनैषीन्निर्झरिण्यास्सुतीरम् ।

उत्कृत्यांगं तत्तदैक्षिष्ट शस्त्र्या

तत्त्वालोके को विलम्बेत धीमान् ॥४९॥

वस्त्रों को उतार कर स्वामीजी नदी में कूद पड़े और तैर कर जल्दी ही मुर्दे को किनारे पर ले आये, छुरी से एक २ अंग काटकर देखने लगे। कौन बुद्धिमान् पुरुष सचाई की परीक्षा में देर करेगा ? ॥ ४९ ॥

ग्रन्थोल्लेखैस्तत्तदंगोपमानं

कुर्व्वाणोऽयं साम्यमापन्न यावत् ।

अंगांशेऽपि प्राक्षिपद् ग्रन्थजालं

भित्त्वा नद्यां तेन साकं शवेन ॥५०॥

ग्रन्थ के लेखानुसार जब स्वामीजी को उन उन वर्णनों के अनुकूल शरीर के किसी भी भाग में नाड़ीचक्र न मिला, तब उन ग्रन्थों को फाड़ फूड़कर मुर्दे के साथ ही नदी में बहा दिया ॥ ५० ॥

आसीत्तीव्रस्तथ्यपीयूषतर्षो-

यावान् स्वान्ते श्रीमहर्षेरमुष्मात् ।

उग्रोऽसत्येऽनादरोऽदृश्यतासौ

युक्तं ह्येतत्पुण्यशीलस्य शीलम् ॥५१॥

स्वामीजी के हृदय में सत्यामृत के लिये जितनी ही अधिक पिपासा थी, उससे भी अधिक असत्य के लिये उग्र अनादर था। पुण्यात्माओं के लिये ऐसा चरित्र योग्य ही है ॥ ५१ ॥

नाडीचक्राणां परीक्षाप्रसंगा-

ज्जाता चित्ते धारणामुष्य साधोः ।

मिथ्या ग्रन्था नूनमेते ह्यशुद्धा-
धूर्त्तैस्सृष्टा योगविज्ञाननाम्ना ॥५२॥

नाड़ीचक्रों की परीक्षा के बाद इस महात्मा के मन में ऐसी धारणा हो गई कि सचमुच, धूर्तों ने योग विज्ञान के नाम से अपवित्र झूठे ग्रन्थों की रचना की है ॥ ५२ ॥

आर्षग्रन्था योगसांख्यादयोऽमी
योगज्ञाने केवलं सत्यरूपाः ।
श्रेयस्कामैर्योगिरत्नैरनूत्नैः
प्राणीयन्त श्रेयसे मानवानाम् ॥५३॥

केवल योग सांख्यादि आर्ष ग्रन्थ ही योगज्ञान में सच्चे हैं, क्योंकि प्राचीन श्रेष्ठ योगियों ने मानवकल्याण की कामना से इन ग्रन्थों की रचना की थी ॥ ५३ ॥

योगाभ्यासैर्निर्मला सा मनीषा
येनावाप्ता जन्मसिद्धा च मेधा ।
सत्यश्रद्धा प्रोज्ज्वलज्ञानवृद्धा
तत्त्वग्राहे तस्य कस्स्याद् विलम्बः ॥५४॥

योगाभ्यास के कारण स्वामीजी की बुद्धि पवित्र हो गई थी, और उन्हें जन्मसिद्ध धारणाशक्ति प्राप्त होगई थी। उज्वल ज्ञान की अधिकता के कारण उनकी सत्य में श्रद्धा भी खूब थी। ऐसे महापुरुष को तत्व ग्रहण करने में क्या विलम्ब लग सकता है? ॥ ५४ ॥

मन्दाकिन्यां मन्दमन्दानिलायां
योगाभ्यासानन्दसंलीनचेताः ।
दुग्धाहारो मुक्तभक्ताशनोऽयं
मुक्तैर्भक्तैस्तौल्यलौल्यं बभार ॥५५॥

स्वामीजी मन्द मन्द पवन से मनोहर मन्दाकिनी के किनारे योगाभ्यास करते हुए आनन्द–मग्न रहते थे। उन दिनों उन्होंने चावल भी खाना छोड़ दिया था, केवल दुग्धाहार करते थे और जीवन्मुक्त परमहंस के समान रहा करते थे ॥ ५५ ॥

भागीरथ्यास्तीरवर्त्तिप्रसिद्धान्
सिद्धैस्सेव्यान् कर्णपुर्यादिदेशान् ।
भ्राम्यन् काशीं स प्रयागान्तभागान्
प्रायात्प्राज्ञो निस्स्पृहो मुक्तसंगः ॥५६॥

निःसंगी निस्पृह योगी, सिद्धों से सेवनीय भागीरथी के तटवर्ती कानपूर से प्रयाग तक के नगरों में घूमते हुए काशी आगये ॥ ५६ ॥

देव्या वाण्याः पुण्यलीलालयं या
विद्यादेव्याः सुन्दरं मन्दिरञ्च ।
यस्यां विद्वन्मण्डलीमण्डनानां
सर्वज्ञानां सन्निधिः सद्गुरूणाम् ॥५७॥

यह काशी गीर्वाणगिरा का पुण्य लीलाधाम है, विद्यादेवी का सुन्दर मंदिर है; और सर्वतन्त्र विद्वन्मण्डली के मण्डनरूप सद्गुरुओं का कोष है ॥ ५७ ॥

वर्षीयांसो देवगंगांगणायां
यस्यां वासं कुर्वतेऽजस्रमार्याः ।
संसारोग्रांगारतप्ता विरक्ता-
मुक्तिं प्राप्तुं शम्भुभक्ताग्रगण्याः ॥५८॥

जिस बनारस में संसार के त्रिविध उग्र तापों से संतप्त होने के कारण विरक्त शिव-भक्त, वृद्ध सत्पुरुष देवगंगा के किनारे मुक्ति प्राप्त करने के लिये निरन्तर निवास किया करते हैं ॥ ५८ ॥

नानाशास्त्रज्ञत्वपीयूषपूर्णा
यस्याः कीर्त्तिः कौमुदीवाभिरामा ।
चित्ताकाशं विश्वविद्वद्वराणां
कुर्वाणेयं काशते शुक्लवर्णम् ॥५९॥

जिस काशी की सुन्दर कीर्त्तिकौमुदी नानाशास्त्रज्ञत्वरूपी अमृत से भरी हुई है। इसलिये यह विश्वभरके विद्वद्वरों के चित्ताकाश को शुक्लवर्ण करती हुई प्रकाशित हो रही है ॥ ५९ ॥

वन्द्यत्वं या वक्रचन्द्रद्वितीया-
तिथ्यास्सायंकालसौन्दर्यभाजः ।
धत्ते तीरप्रोज्ज्वलद्दीपवक्र-
स्वर्गंगांभःशुभ्रवर्णांगयष्टिः ॥६०॥

जो काशी सायंकालमें द्वितीया की चन्द्रकला की शोभा को धारण करती हुई विश्वजनों के लिये वन्दनीय है। जिसके किनारे पर प्रोज्वल दीपकों से द्वितीया की चन्द्रकला के समान वक्र होती हुई गंगा शुभ्रवर्ण होकर जगमगा उठती है ॥ ६० ॥

वन्दारूणां वन्द्यवृन्दारकाणां
वृन्दैर्वन्द्यां भालचन्द्रालयान्ताम् ।
रुद्राध्याय्याः काशिकां काशिकां तां
ज्ञानालोकां लोकवन्द्यो ऽलोके ॥६१॥

लोकवन्दनीय दयानन्दने वन्दनशील वन्द्य देवों के वृन्दों से वन्दनीया, भालचन्द्र के मन्दिरसी, रुद्राध्यायी की प्रकाशिका एवं ज्ञानदीपिका काशीपुरी को आनन्दपूर्वक देखा ॥ ६१ ॥

गंगावारुण्यम्बुनोस्संगमान्ते
भूमानन्दस्वामिनः कन्दरायाम् ।
कर्मन्दीन्द्रः श्रीदयानन्ददेवः
कालं तस्थौ कञ्चिदो३मिन्द्रसंध्यः ॥६२॥

काशी में गंगा और वरुणा के संगम पर स्वामी भूमानन्द की एक कन्दरा थी, जिस में परिव्राजक दयानन्द ओ३म् जप करते हुए कुछ काल तक रहे ॥ ६२ ॥

काकारामाद्यैर्महापण्डितेन्द्रै-
विन्दन् वार्त्तालापसौख्यं मुनीन्द्रः ।
सत्संगैस्तत्संस्तवं भूरि लेभे
ज्ञानालापे मोदते को न विज्ञः ॥६३॥

मुनीन्द्र काकारामादि महान् पंडितराजों के साथ बातचीत का आनन्द उठाते थे। वे सब नित्य सत्संगों से स्वामीजी के खूब परिचित हो गये। कौन विज्ञ ज्ञानचर्चा से आनन्दित नहीं होता ? ॥ ६३ ॥

काशीतीर्थं द्वादशाहान्युषित्वा
पाषाणार्चालीनलोकान् विदित्वा ।
रामेन्द्वंकक्ष्मामिते विक्रमाब्दे
निष्क्रान्तोऽस्मादाश्विने शुक्लपक्षे ॥६४॥

काशी में १२ दिन तक निवास करते हुए स्वामीजी ने लोगों को मूर्त्तिपूजा में रत देखा। विक्रम संवत् १९१३ आश्विन शुक्लपक्षमें स्वामीजी काशी से निकल पड़े ॥६४॥

तीर्थे तीर्थे मूर्त्तिपूजाप्रसक्तां-
ल्लक्ष्मीभक्तान् भोगरक्तान् विरक्तः ।
दर्शं दर्शं तत्त्वसंदर्शनेच्छु-
स्तत्त्वज्ञानाचार्यमाटत् विचेतुम् ॥६५॥

विरक्त दयानन्द ने प्रत्येक तीर्थ पर साधुओं, सन्तों एवं अन्यों को मूर्त्तिपूजा में संलग्न और लक्ष्मी में आसक्त देखा। स्वामीजो को इन तीर्थों में कोई सच्चा ज्ञानी गुरु दिखाई न पड़ा, इसलिये सत्यगुरु को अन्वेषण करने के लिये घूमते रहे ॥ ६५ ॥

सत्यज्ञानं ब्रह्मवेत्ता समाधौ
यद्यप्यापन्निर्विकल्पे स योगी ।
वेदद्वारा वेदितुं मूढविज्ञा-
नैच्छच्छास्त्रे मौनभाजो विधातुम् ॥६६॥

यद्यपि ब्रह्मवेत्ता योगी ने निर्विकल्प समाधि द्वारा सत्यज्ञान प्राप्त कर लिया था, तथापि वैदिक ज्ञान द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति समझाकर मूर्ख पण्डितों को शास्त्रार्थ में हराने के लिये वे एक उत्तम आचार्य के अन्वेषण में थे ॥ ६६ ॥

न्यूनोदन्या लब्धवर्णस्य योगे ।
ज्ञाने तर्षः किन्तु तस्माद् बलीयान् ।
बाल्ये काशीं यत्कृते यातुमैषीद्
यां तत्रार्षज्ञानदं नापदेषः ॥६७॥

योगप्रतिष्ठित इस योगी को योग की इतनी चाहना न रह गई थी, जितनी कि ज्ञान की, जिस की प्राप्ति के लिये वे बालपन में ही काशी जाना चाहते थे। परन्तु खेद है कि उस काशी में उन को इस समय आर्षज्ञान का देनेवाला कोई गुरु न मिला ॥ ६७ ॥

आसीद् वाञ्छा मस्करीन्द्रस्य तीव्रा
द्रष्टुं रम्यं निर्झरं निर्झरिण्याः ।
विन्ध्याद्रीन्द्रान्निर्गतं नर्मदाया-
इन्द्रैश्वर्यालोकने नोत्सुकः कः ॥६८॥

परिव्राजकाचार्य की प्रबल इच्छा थी कि वे विन्ध्याचल से निकली नर्मदा नदी का सुन्दर उद्गम स्थल देखें। परमेश्वर के नैसर्गिक सौन्दर्य को देखने के लिये कौन उत्सुक नहीं होता ॥ ६८ ॥

भीमः पन्थाः पार्वतः क्लेशकारी
कान्तारं तत्कान्तलोकैर्विहीनम् ।
हिंस्रैः सत्त्वैः सर्वतः कीर्णभागं
यात्रां यत्रारब्ध कर्तुं स धीरः ॥६९॥

इस धीर पुरुषने जिस स्थान की यात्रा शुरु की, उसका मार्ग पर्वतीय होने के कारण बड़ा ही क्लेशकारक एवं भयानक था। बीच के जंगल भी हिंसक पशुओं और जंगलियों से व्याप्त थे ॥ ६९ ॥

मार्गं कञ्चिन्नानुयुञ्जीय वन्यं
संगीर्यैवं दक्षिणाशामियाय ।
किञ्चिद्दूरं निर्गतो निर्जनं स
सान्द्रारण्यं दृष्टवान् दिष्टशाली ॥७०॥

इस भाग्यशाली ने यह भी निश्चय किया कि मैं रास्ता भी किसी से न पूछूँगा। ऐसा संकल्प कर वे दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े। निर्जन वन में कुछ दूर जाने के बाद उन्होंने बहुत ही घना जंगल देखा ॥ ७० ॥

सूक्ष्मालोकोऽलोकतायं सुदूरं
द्वित्राः कुञ्जे पर्णशाला विशाले ।
क्षुत्तर्षार्तोऽभूदिति द्रागुपेत्य
द्वारं क्षीरं संययाचे स भिक्षुः ॥७१॥

जाते जाते इस भिक्षु को बहुत जोर से भूख और प्यास लगी, इसलिये इन्हों ने सूक्ष्म दृष्टि से चारों ओर देखा। एक झाड़ी में दो तीन झुपड़ियाँ दिखाई दीं। शीघ्र ही वहाँ जाकर उन्हों ने उन झुपडीवालों से दूध की याचना की ॥ ७१ ॥

दत्तं भक्त्यारण्यवासैः प्रसन्नैः
पीत्वा हृष्टः संचचालाग्रतस्तत् ।
यावत्क्रोशं कानने मार्गलोपं
निर्वर्ण्यार्थं मार्गयामास चिह्नम् ॥७२॥

उन अरण्यवासियों ने प्रसन्न होकर भक्तिपूर्वक उन्हें दूध दिया। ये पीकर खुश होते हुए आगे चल पड़े। अभी एक कोश ही चले होंगे कि उन्हें आगे का रास्ता बन्द दिखाई दिया अतः वे मार्ग खोजने लगे ॥ ७२ ॥

छागावीनां यानलक्ष्माण्यमुष्मि-
न्नालोक्यन्त स्वामिनारण्यखण्डे ।

गच्छँस्तेषामंघ्रिसृत्याऽल्पदूरं
　　　　रुद्धो गाढे भीषणे काननेऽसौ ॥७३॥

उस बन में भेड़-बकरियों के आने जाने के चिह्न दृष्टिगोचर होते थे। उन्हीं रास्तों के सहारे कुछ दूर आगे जाकर वे एक घने भयंकर जंगल में फँस गये ॥ ७३ ॥

कर्कन्धूनां वृक्षमाला समन्ताद्
　　　　वल्लीवृन्दैर्वेल्लिताऽवर्ततास्मिन् ।
सान्द्रैर्घासैर्लम्बमानैः प्रलुप्ता
　　　　पद्येत्यस्थाच्चिन्तयन् गम्यदेशम् ॥७४॥

इस जंगल में चारों ओर बेर के वृक्ष थे, इन पर लताओं का जालसा बिछ रहा था। नीचे लम्बी लम्बी घास थी, इसलिये जाने योग्य मार्ग का विचार करते हुए वे कुछ काल वहीं खड़े रहे ॥ ७४ ॥

भीमाकारो भल्लुकः कृष्णवर्णो-
　　　　दूराद्धावन् रंहसैकः समक्षम् ।
दृष्टोऽकस्माद् योगिनात्रान्तरेऽयं
　　　　गर्जन् प्राप्तस्तस्थिवान् पश्चिमांघ्रोः ॥७५॥

इतने में उस योगी ने दूर से दौडते हुए, काले रंग के भयानक एक रींछ को सामने आते हुए देखा। वह ऋच्छ गर्जता हुआ एकदम उनके पास आकर पिछले पैरों पर खड़ा हो गया ॥ ७५ ॥

शान्तात्मासौ निश्चलो यावदस्मिन्
　　　　साश्चर्यां स्वां शान्तदृष्टिं निवेश्य ।
तस्थौ तावत् खादितुं तं निजास्यं
　　　　व्यादादृक्षो धैर्यवन्तं शरारुः ॥७६॥

ये शान्तात्मा निश्चल होकर ज्योंहि आश्चर्यमयी, शान्त दृष्टि उसपर डालते हैं, त्योंहि उस हिंसक भालुने उन्हें खाने के लिये मुँह फाड़ा ॥ ७६ ॥

स्वीयां यष्टिं मन्दमन्दं यदायं
प्रोच्चां चक्रे तं प्रहर्तुं यतीन्द्रः ।
दृष्ट्वासौ तां तत्क्षणं विद्रुतो द्राक्
का स्याच्छक्तिः प्राणिनां योगिनोऽग्रे ॥७७॥

यतीन्द्र ने उसे मारने के लिये जब अपनी लाठी धीरे से उठाई तो उसे देखकर वह भालु एकदम भाग गया। समर्थ योगियों के सामने प्राणियों की क्या शक्ति है ? ॥७७॥

भल्लूकस्योन्नादमाकर्ण्य भीमं
पाणौ दण्डान् विश्वकद्रूंश्च चण्डान् ।
आदायामी पर्णशालास्थलोका-
स्तत्साहाय्यं कर्तुकामा उपेयुः ॥७८॥

भालु के भयानक शब्द को सुनकर वे कुटियावासी हाथों में दण्डे और शिकारी कुत्तों को साथ लेकर इनकी सहायता के लिये दौड़ आये ॥ ७८ ॥

आलोक्यामुं रक्षितं योगिराजं
प्रोचुर्नम्रास्संप्रसन्ना महात्मन् ? ।
अग्रे घोरा दुर्गमारण्यभूमि-
र्व्याप्ता सिंहव्याघ्रदन्तावलाद्यैः ॥७९॥

योगिराज को सुरक्षित देखकर प्रसन्नचित्त से वे नम्रतापूर्वक बोले कि हे महात्मन् ! आगे तो और भी भयानक और दुर्गम जंगल है, जिस में सिंह, वाघ और हाथी आदि हिंसक जंतु रहते हैं ॥ ७९ ॥

श्रीमान्नानासंकटैस्संकुलस्स्यात्
प्राणाघातत्रासदैस्तत्र नूनम् ।

इत्यस्मान्नो गम्यतां श्रीमताग्रे
वारं वारं प्रार्थितोऽमीभिरेवम् ॥८०॥

आप को आगे अनेक संकटों का सामना करना पड़ेगा। वहाँ तो प्राणनाश का भी डर है, अतः आप आगे न जाँय। इस प्रकार उन कुटियावासियों ने स्वामीजी से प्रार्थना की ॥ ८० ॥

तां कल्याणीं सादरं स्निग्धवाणीं
भद्रेच्छूनां वन्यनॄणां निशम्य।
विश्वस्थेशश्रद्धया निर्भयोऽयं
तानाचख्यौ ख्यातनामा कृतज्ञः ॥८१॥

हितेच्छु भीलों की कल्याणमयी स्नेहपूर्ण वाणी को सुनकर, सर्व–व्यापक प्रभु की श्रद्धा के कारण निर्भीक स्वामीजी कृतज्ञता प्रकाश करते हुए बोले कि ॥ ८१ ॥

साम्राज्येऽहं विश्वकर्त्तुः पवित्रे
नित्यं क्षेमेणान्वितो रक्षितोऽस्मि।
भीर्मे नास्ति क्वापि कस्यापि काचिन्
मा शंकिध्वं मंगले मामकीने ॥८२॥

हे भद्रपुरुषो! मैं विश्वकर्ता के पवित्र साम्राज्य में सदा कुशल और सुरक्षित हूँ। मुझे कहीं किसी का कोई डर नहीं है। आप मेरी कुशलता की शंका न करें ॥ ८२ ॥

रेवास्रोतो वीक्षितुं मे प्रतिज्ञा
नाहं भञ्ज्यां तां भिया संकटानाम्।
चिन्ता कार्या नैव काचिद् भवद्भि-
र्गोप्ताऽभ्यर्णे सर्वदास्ते ममेशः ॥८३॥

रेवा नदी का उद्गमस्थान देखने का मेरा दृढ़ संकल्प है। संकटों के भय से उसे मैं नहीं छोड़ सकता, आप मेरी किसी प्रकार की चिन्ता न करें। मेरा प्रभु सदा मेरे पास रक्षकरूप से विराजमान है ॥ ८३ ॥

निष्कम्पं तन्मानसं मानवैस्तै-
स्संन्यासीन्द्रस्यावधार्यापि चित्तात् ।
चिन्तां हातुं नैव शक्तं ततोऽस्मै
यष्टिं दत्त्वा संन्निवृत्तं प्रलम्बाम् ॥८४॥

वे लोग स्वामीजी का मन निर्भीक देखकर भी अपने हृदय से चिन्ता न हटा सके। इसलिये वे उन्हें एक लम्बी लाठी देकर लौट पड़े ॥ ८४ ॥

जानीयुस्ते मूढलोका मुमुक्षो-
र्दिव्यां शक्तिं प्रोज्ज्वलां योगलब्धाम्
हिंसाशीलाः प्रेमवृत्तेः कथं तां
स्वेक्षातुल्यं तोलयेत्सर्व एव ॥८५॥

वे अज्ञ लोग योगद्वारा प्राप्त उज्वल दिव्यशक्ति को क्या जान सकते थे। ये मुमुक्षु अहिंसक वृत्तिवाले थे और वे हिंसक थे। संसार में सब अपने ही तराजु से तौला करते हैं ॥ ८५ ॥

आरण्यानामाग्रहाधिक्यतोऽयं
तत्सम्मानं कर्त्तुकामोऽग्रहीत्ताम् ।
पुष्टां यष्टिं तेषु यातेषु सद्यो-
धीरोऽत्याक्षीत्तत्र विश्वेशभक्तः ॥८६॥

स्वामीजीने उन भीलों के आग्रह का मान रख कर, उन की दी हुई बड़ी लाठी ले ली। उन के जाने पर इन ईश्वरभक्तने तुरत ही उस लाठी को फेंक दिया ॥ ८६ ॥

सूक्ष्मां यष्टिं केवलं तां गृहीत्वा
वेधोरक्षारक्षितं मन्यमानः ।
आत्मानं सोऽनन्तधैर्योऽतिवीर्यो-
दुर्गारण्यं प्राविशत् सान्द्रवृक्षम् ॥८७॥

केवल एक पतली सी छड़ी लेकर अपने को ईश्वर से सुरक्षित मानते हुए, अनन्तधैर्य और वीर्यशाली दयानन्द घने वृक्षोंवाले दुर्गम जंगल में घुस पड़े ॥ ८७ ॥

तस्मिन् गच्छन् साहसी विप्रकृष्टं
विप्रेन्द्रार्च्यः कानने मानवानाम्।
अंघ्रेश्चिह्नं नैक्षत क्वापि तेषां
का स्याद् वार्त्ता तद्वसत्याः पुनर्नु ॥८८॥

ब्राह्मणों के वन्दनीय साहसी दयानन्दजी ने उस दुर्गम जंगल में जाते जाते मनुष्यों के पैर का कहीं चिह्न भी नहीं देखा, फिर उन के निवास की तो बात ही क्या ! ॥ ८८ ॥

स्थाने स्थाने मत्तदन्तीन्द्रवृन्दै-
रुत्तुङ्गानां पंक्तिरुर्वीरुहाणाम् ।
उत्खाताऽऽसीन्मेदिनीशायिनीव
च्छिन्नांगानां दानवानां ततिः सा ॥८९॥

स्थान स्थान पर मस्त हाथियों द्वारा उखाड़ी हुई ऊँचे वृक्षों की पंक्तियाँ पृथिवी पर पड़ी हुई ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों कटे अंगोवाले दैत्यों की पंक्तियाँ हों ॥ ८९ ॥

साऽरण्यानी पुष्पशालैरनन्तैः-
फुल्लैः पूर्णा कण्टकाकीर्णकुंजैः।
भीमाभोगा भोगिराजैः प्रभुक्ता-
वीराणामुत्कंपिनी धीलवित्री ॥९०॥

वह बन अनन्त फूलों के वृक्षों से एवं कटीली झाड़ियों से व्याप्त था। कहीं कहीं वृक्षों पर बड़े बड़े फनों वाले साँप थे, जिन्हें देखकर वीरों के भी हृदय कंपित हो जाय और बुद्धि नष्ट हो जाय ॥ ९० ॥

अत्युग्रायामन्तकाधिष्ठितायां
निःशब्दायां निर्जनायाममुष्याम् ।

निष्कम्पं हृन्निश्चला धीर्मनोऽपि
क्षोभैर्हीनं मृत्युजेतुस्तदाभूत् ॥९१॥

अत्युग्र यमराज से मानों सेवित, निःशब्द, निर्जन इस भयंकर बन में भी इन मृत्युञ्जय ब्रह्मचारी का हृदय निष्कंप, बुद्धि निश्चल, और मन अक्षुब्ध था ॥ ९१ ॥

चेतःशक्तेरद्भुतायाः पुरस्ता-
दापत् सृष्टे र्नापदेवाभवन्नु ।
पृथ्व्या भीतिः क्वापि नूनं न भीति-
स्तस्यैकान्तातुल्यनिर्भीकतायाम् ॥९२॥

अनुपम निर्भीकतासम्पन्न उस यतिवर की अद्भुत चित्तशक्ति के सामने आधिदैविक आपत्तियाँ आपत्तियाँ न थीं, और पृथिवी की भीति भीति (डर) न थी ॥ ९२ ॥

विस्तीर्णां तां लंघमानस्य जिष्णोः
काष्ठां प्राप्तं कष्टजालं सहिष्णोः ।
गात्रं दीर्णं कण्टकैरुत्कटैस्तद्
धारा रक्तस्यावहद्देहदेशात् ॥९३॥

इस सहिष्णु संयमी का दुःख इस विस्तीर्ण जंगल को लांघते हुए परिसीमा को प्राप्त कर चुका था। शरीर काँटों से छिद गया और शरीर से रक्त की धारा बहने लगी थी ॥ ९३ ॥

वासांस्यासन् खण्डशस्तैः कृतानि
प्राकारं तं कण्टकानां वनोर्व्याः ।
दुर्गं जान्वोः क्रामतोऽमुष्य कुक्षेः
शक्त्या दूरं रिङ्गतः कुत्रचिच्च ॥९४॥

उस जंगल के कंटकमय कोट को कहीं जानुओं से लाँघते हुए एवं कहीं पेट के बल रेंगते हुए इनके वस्त्र टुकड़े टुकड़े हो गये थे ॥ ९४ ॥

अंघ्री तीव्राघातसंविद्धमूलौ
संवृक्णास्यासृग्धरा चालनीव ।
क्वाप्यंगेभ्यो मांसभित्तं मुमुक्षो-
र्निर्यातं किन्त्वन्ततस्तां ललंघे ॥९५॥

तीव्र आघातों से इनके पग के दोनों तलवे छिल गये थे, और शरीर की चमड़ी काँटों से छलनी सी हो गई थी, इन मुमुक्षु के अंग से कहीं कहीं माँस के टुकड़े निकल पड़े थे । किन्तु अन्तमें इतने कष्टों को झेलकर भी ये इस जंगल को पार कर ही गये ॥ ९५ ॥

अस्रस्रावाद् वर्ष्मणोऽजस्रमस्य
क्षुत्तर्षाभ्यां म्लानतामाप गात्रम् ।
उत्साहानामाकरोऽयं तथापि
प्राक्रंस्तार्यो गन्तुमेवोग्रमार्गे ॥९६॥

निरंतर रक्त बहने से और भूख-प्यास लगने से इनका शरीर म्लान हो गया था। तो भी मानों ये धैर्य की देवता की तरह भयंकर मार्ग में आगे ही बढते गये ॥ ९६ ॥

अस्ताद्रीन्द्रं तत्र यातुं दिनेन्द्रो-
योगीन्द्रस्य क्लेशतो मन्दतेजाः ।
आरब्धासौ मन्दमन्दं सुरक्तां
ग्लानां मूर्त्तिं बिभ्रदुत्क्लिष्टमूर्त्तेः ॥९७॥

इन योगीन्द्र के कष्टों को देखकर इधर सूर्य भी निस्तेज एवं म्लान तथा परिश्रम के कारण लाल मूर्त्ति धारण करके धीमे धीमे अस्ताचल की ओर जा रहा था ॥ ९७ ॥

रक्षोध्वान्तं पर्वतानां गुहाभ्यो-
निर्यायार्कं यान्तमस्तं निभाल्य ।

धीरेन्द्रं तं तोत्तुमाथादरण्ये
वीरायन्ते वीरनाशे हि दैत्याः ॥९८॥

सूर्य को अस्ताचलगामी देखकर पर्वतों की कन्दराओं में से अन्धकाररूपी राक्षस निकल आया और उस जंगल में धीरवर दयानन्द को कष्ट देने लगा। वीरों के नाश होने पर दैत्य वीरता दिखाया करते हैं ॥ ९८ ॥

आदित्येनाचेतनेनाऽपि जिग्ये
शश्वद् योऽद्धा यातुधानान्धकारः ।
आदित्यं स क्लेशितुं किं न्वलं स्यात्
प्रेक्षावन्तं वर्णिनं पुण्यवर्णम् ॥९९॥

जिस अन्धकाररूपी राक्षस को अचेतन सूर्य भी निरन्तर जीत लेता था। वही अन्धकार क्या भला पुण्यश्लोक, पुण्यकीर्त्ति, बुद्धिशाली आदित्य ब्रह्मचारी को कष्ट दे सकता था ॥ ९९ ॥

विष्वग्व्याप्तं स्यात्तमो गाढमस्यां
दृश्येताध्वा नैव घोराटवीयम् ।
इत्थं चिन्तां न प्रकुर्वाण एष-
दुर्गां पद्यामक्रमीद् विश्ववन्द्यः ॥१००॥

इस जंगल में चारों ओर गाढ़ अन्धकार व्याप्त हो जायगा, रास्ता नहीं दीख पड़ेगा, आगे भयानक जंगल है—इस प्रकार की चिन्ताओं को न करता हुआ यह विश्व वन्दनीय दुर्गम मार्ग को लांघ रहा था ॥ १०० ॥

आगात्तादृक्स्थानमध्वा समन्ता-
दाकीर्णोऽभूद् भूधरैर्यत्र भीमैः ।
वीरुद्वृन्दैर्वेल्लितै वृक्षवारैः
पूर्णैः पर्णावाससंघैः क्वचित्तैः ॥१०१॥

चलते चलते स्वामीजी ऐसे स्थान पर आ पहुँचे—जहाँ का रास्ता चारों ओर लता एवं वृक्षों से परिपूर्ण, भयंकर पर्वतों से घिरा था। केवल मात्र एक ओर कुछ झोंपड़ियों का समूह दिखाई दे रहा था ॥ १०१ ॥

अद्राक्षीत्तां द्योतलेखां कुटीभ्यः
प्रोद्गच्छन्तीं लेखराजो बहिः सः ।
आतिथ्यं या कर्तुकामातिथीन्द्रा-
नाह्वास्तेवाभ्यर्णमेतुं रजन्याम् ॥१०२॥

देवस्वरूप स्वामीजी ने देखा कि कुटियों से निकली हुई दीप-प्रभाएँ अतिथि का आतिथ्य करने के लिये मानों अपनी ओर बुला रही हों ॥ १०२ ॥

गच्छतान्तिकमदृश्यताऽमुना
योगिनोटजकदम्बकं गिरौ ।
शुष्कगोमयसमूहसंवृतं
निर्झरेण विमलेन मण्डितम् ॥१०३॥

इस योगीने पास आने पर पहाड़ी पर कुटियों का झुण्ड देखा। इनके सामने सूखे कण्डों के ढेर थे और समीप ही एक स्वच्छ झरना बह रहा था ॥ १०३ ॥

निर्झरस्य रमणीयरोधसि
च्छागवृन्दमचरत्तृणावलीम् ।
तत्र सुन्दरविशालपादपः
शोभते स्म सुवितानशाखकः ॥१०४॥

झरने के सुन्दर किनारों पर भेड़-बकरियाँ घास खा रही थीं। वहीं पर बहुत दूर तक फैली हुई शाखाओं वाला एक विशाल वृक्ष था ॥ १०४ ॥

तत्तरोस्तलमुपेत्य देवयु-
र्देवभक्तिरसधौतमानसः ।

शान्तमूर्त्तिरशयिष्ट सव्रणो-
निद्रया झटिति मुद्रिताम्बकः ॥१०५॥

उसके नीचे आकर देवतुल्य दयानन्द ने ईश्वर की भक्ति–गंगा में स्नान किया और खूब थके होने के कारण जल्दी ही सो गये ॥ १०५ ॥

उत्थितः शुचिमना अथ कल्ये
मंगले गिरिनदीतटकुंजे ।
मज्जनं स विदधे कृतशौचो-
मार्जयञ्झरजलै र्व्रणितांगम् ॥१०६॥

मंगलमय प्रभात समय में उठकर पवित्र–हृदय दयानन्द ने शौचादि के पश्चात् उस झरने के जल से अपने क्षत–विक्षत अंगों के घावों को साफ़ किया और स्नान कर लिया ॥ १०६ ॥

ईशोपास्तिं रचयितुमना यावदुद्युक्त एष-
प्राप्तः कर्णं पटहनिनदस्तावदेवास्य कुंजात् ।
श्रीबालस्त्रीस्थविरपुरुषानुद्यतानुत्सवार्थं
सोऽपश्यत्तान् पशुगणयुतान् स्वान्तिकस्थान् क्षणेभ्यः॥१०७॥

स्वामीजी ईश्वरोपासना के लिये बैठे ही थे कि पास की झाड़ी में से ढोलों की आवाज सुनाई पड़ी। थोड़ी देर के पश्चात् ही उन्हों ने देखा कि किसी उत्सव को मनाने के लिये पशुओं को लेकर बालकों एवं स्त्रियों के साथ बूढे मनुष्य इधर आ रहे हैं ॥ १०७ ॥

कश्चिद् वृद्धस्सविनयममुं पृष्टवान् योगिहंसं
स्वामिन्नायात् कुत इह गिरौ शम्भुपुर्या इदानीम् ।
हेतुः कस्ते ? सरित उदयं द्रष्टुकामोऽब्जपुत्र्या-
इत्युक्त्वायं भजननिरतस्तेऽपि याताः क्षणोत्काः ॥१०८॥

उन में किसी वृद्ध ने योगीश्वर के पास आकर विनयसहित पूछा कि–महाराज ! आप कहाँ से पधारे हैं ? शंभु (काशी) पुरी से आता हूँ; किस लिये ? नर्मदा का उद्गम–स्थान देखने को। इतनी बातचीत के बाद स्वामीजी ध्यानमग्न हो गये और वे उत्सव में चले गये ॥ १०८ ॥

तेषामग्रसरस्ससेवकयुगस्सन्ध्यासमाप्ताविमं
　　नेतुं स्वोटजमागतः परमयं तत्प्रार्थनां नाभ्युपैत् ।
आनीयाथ गवां पयस्स मधुरं भक्त्या ददौ स्वामिने
　　भृत्यौ रक्षितुमादिशच्च रजनीमेनं प्रदीप्ताग्निना ॥१०९॥

स्वामीजी की संध्या समाप्त होने पर उस गाम का एक मुखिया दो मनुष्योंके साथ, इन्हें झुपड़ों में ले जाने के लिये आया किन्तु स्वामीजी ने इनकी प्रार्थना स्वीकार न की। पश्चात् इसने स्वामीजी को भक्तिसहित गाय का दूध मंगवा दिया और दो नौकरों को उनकी सेवा के लिये रक्खा। और कह दिया कि रात होने पर आग जलाते रहना ॥ १०९ ॥

एवं रेवोद्भवं स प्रतिविपिनमटन् विन्ध्याद्रिशिखरे,
　　रम्यं निर्वर्ण्य तृप्तःप्रभुवररचनाचातुर्यरुचिराम् ।
ब्रह्मानन्दामृतज्ञो हिमकरतनयाधारामनुसरन्,
　　गत्वैकान्तं वनान्तं कृतवसतिरहो निन्ये त्रिशरदम् ॥११०॥

इस प्रकार प्रत्येक जंगल में घूमते हुए इस परिव्राजक ने विन्ध्याचल के शिखर से निकली हुई सुन्दर नर्मदा का उद्गमस्थान देख लिया। वहाँ पर प्रभु की अनुपम सृष्टि का सौन्दर्य देखकर तृप्त हो गये। बाद में इसी नर्मदा के किनारे किनारे आये और एकान्त शान्त जंगल में रहने लगे। इस प्रकार ब्रह्मानन्द का आस्वाद लेते हुए स्वामीजीने तीन वर्ष व्यतीत किये ॥ ११० ॥

इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य वटोदरार्यकन्या
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षेः
शंकरदर्शनो नाम नवमः सर्गः ।

दशमः सर्गः

विज्ञाय विज्ञानविदां वराणां
श्रीवीरजानन्दयतीश्वराणाम् ।
पुण्यां समज्ञां विदुषां स संघा-
दुपासितुं तान् मथुरां प्रतस्थे ॥१॥

आर्षज्ञान में श्रेष्ठ प्रज्ञाचक्षु दण्डी विरजानन्दजी की पुण्यकीर्त्ति विद्वन्मण्डल से सुनकर उनके चरणकमलों के दर्शनार्थ योगीश्वर दयानन्द मथुरा की ओर चल पड़े ॥ १ ॥

दिगन्तविस्तीर्णसुकीर्तिगन्धं
मनोज्ञविद्यामकरन्दपूर्णम् ।
स सत्यविद्यार्थिमिलिन्दवन्द्यं
समासदत्सद्गुरुकल्पवृक्षम् ॥२॥

वे विरजानन्दजी सद्गुरुरूपी कल्पवृक्ष थे। इनकी कीर्त्ति सुगन्धि दिगन्तरों में फैल चुकी थी। ये श्रेष्ठ विद्यारूपी पुष्परस से परिपूर्ण थे, इसलिये सत्य की जिज्ञासा करनेवाले विद्यार्थी—भ्रमरों से सेवनीय थे। ऐसे सद्गुरु के पास स्वामीजी आ पहुँचे ॥ २ ॥

यदीयजिह्वांगणरंगभूमौ
समग्रशास्त्रार्थपटीयसी सा ।
सरस्वती सुन्दरनर्त्तकीव
विद्वन्मनो नन्दयति स्म लास्यैः ॥३॥

इनकी जिह्वारूपी रंगभूमि पर समग्र शास्त्रों के अर्थ—विधान में निपुण विद्यादेवी सुन्दर नर्तकी की तरह लीलामय भावों से विद्वानों के मनों को प्रसन्न करती रहती थी ॥३॥

अनन्तशब्दार्णवपारदृश्वा
विश्वागमानामृतसारवेत्ता ।
भेत्ता प्रतिद्वन्द्विविवादिवाचा-
माचार्य आचारविधौ य आसीत् ॥४॥

दण्डीजी अनन्त शब्दसागर के पारगामी, सम्पूर्ण वेदों और शास्त्रों के सत्यतत्व के वेत्ता, प्रतिद्वन्द्वी पण्डितों के वाग्जाल के भेत्ता एवं आचारशास्त्र के मानों आचार्य थे ॥४॥

अलौकिकी सा प्रतिभामनीषा
मनीषिणो यस्य विशिष्टशक्तेः ।
समस्तशास्त्रेषु विशेषतोऽभूत्
पाणिन्युपज्ञे पदबोधतन्त्रे ॥५॥

इन विशिष्ट बुद्धि-शक्ति-शाली मनीषी की प्रतिभा अलौकिक थी । यद्यपि इनकी सब शास्त्रों में अकुण्ठित गति थी, तथापि पाणिनि व्याकरण के तो वे मानों पतञ्जलि ही थे ॥ ५ ॥

यो वेदवेदांगषडागमानां
सर्वस्थलज्ञानविदां वरेण्यः ।
स्मृतौ सदा सन्निहितं श्रुतं य-
त्सकृच्छ्रुतं यस्य कुशाग्रबुद्धेः ॥६॥

ये वेद, वेदाङ्ग और दर्शनशास्त्रों के मर्मस्थलों के जाननेवालों में श्रेष्ठ थे । ये एकवार भी जिस शास्त्र को सुन लेते थे उसे अपनी कुशाग्र–बुद्धि के कारण हमेशा ही स्मरण रखते थे ॥ ६ ॥

ऋषिप्रणीतोत्तमपुस्तकानां
योऽध्यापनैकान्तिकपक्षपाती ।

मनुष्यसंदृब्धनिबन्धवल्ली-
विकर्त्तने तर्कुरिव प्रवीणः ॥७॥

स्वामी विरजानन्दजी ऋषि-प्रणीत उत्तम ग्रन्थों के अध्यापन में एकान्त पक्षपाती थे और मनुष्यकृत (वेदविरुद्ध) ग्रन्थरूपी लताओं के काटने में छुरी के समान तेज थे ॥७॥

दाक्षीसुतग्रन्थविचक्षणत्वाद्
विलोचनोऽप्यागमलोचनोऽयम् ।
न्यगद्यत व्याकरणांशुमाली
सुतर्कशाली प्रतिभाप्रभालिः ॥८॥

नेत्र-हीन होने पर भी अष्टाध्यायी में अप्रतिम पाण्डित्य के कारण वे शास्त्रलोचन से युक्त थे। इन्हें व्याकरण का सूर्य कहा जाता था। ये बड़े ही तर्कशाली एवं प्रतिभावान् थे ॥ ८ ॥

तेजस्तरंगा इव सूर्यबिम्बा-
दम्बुप्रवाहा गिरिनिर्झराद्वा ।
यतीन्द्रवागिन्द्रियतः प्रसंगा-
न्नानागमानां निरगुः प्रबोधाः ॥९॥

जैसे सूर्य-मण्डल से तेज की तरंगे निकलती हैं, जैसे पर्वत के झरनों से जलधारा बहती है; वैसे ही इस यतीन्द्र की जिह्वा से प्रसंगानुसार अनेक शास्त्रों के उपदेश निकला करते थे ॥ ९ ॥

विलक्षणाध्यापनपाण्डितीं यो-
निसर्गमाधुर्यमयीं बभार ।
यया विनेया निगमावबोधान्
सारल्यतोऽमी प्रभवो ग्रहीतुम् ॥१०॥

इनकी अध्यापन-शैली विलक्षण एवं स्वभाव से ही मधुर थी। इसी कारण शिष्य-वर्ग सरलता से शास्त्रों के मर्मग्रहण करने में समर्थ हो जाते थे ॥ १० ॥

वैराग्यवह्निज्वलिताघदावः
पुण्यस्वभावो धृतदिव्यभावः ।
महानुभावो य इहार्यभावै-
र्ऋषिप्रभावं तनितुं हृदैषीत् ॥११॥

इन पुण्यस्वभाव, दिव्यतेजस्वी महानुभाव ने वैराग्याग्नि से पाप-वन को जला दिया था। ये अपनी श्रेष्ठ भावना से ऋषियों का प्रभाव फैलाना चाहते थे ॥ ११ ॥

अपाठयद्यो निजपाठशाला-
प्रविष्टशिष्यानृषिभक्तरत्नम् ।
आर्षप्रणालीमनुगम्य पाठान्
निरस्य नूत्नं क्रममार्षचुञ्चुः ॥१२॥

आर्षविद्या में विख्यात, ऋषियों के श्रेष्ठ भक्त ये दण्डी अपनी पाठशाला में आये हुए शिष्यों को नवीन प्रणाली का निरादर करके आर्षप्रणाली के अनुसार पाठ पढ़ाया करते थे ॥ १२ ॥

शास्त्रीयपीयूषरसाभिवर्षैः
स्वशिष्यसोमप्रियबोधतर्षम् ।
आचार्यचन्द्रो विनिवार्य हर्षै-
र्योऽमूनकार्षीत् पुलकप्रकर्षान् ॥१३॥

ये आचार्यचन्द्र शास्त्रीय अमृत-रसवर्षण से अपने शिष्य-चातकों की ज्ञान-पिपासा को निवारण करके उन्हें हर्ष से रोमांचित कर देते थे ॥ १३ ॥

योऽनेकराजेन्द्रविनम्रमौलि-
रत्नावलीरञ्जितपादपद्मः ।
ज्ञानांशुसंबोधितशिष्यचेतः-
पंकेरुहोऽराजत पद्मिनीन्द्रः ॥१४॥

इनके चरण–कमल अनेक राजाओं के झुके मुकुटों की रत्न–प्रभा से शोभित रहते थे। ये सूर्य की तरह ज्ञान–किरणों से शिष्यों के हृदय–कमलों को विकषित किया करते थे ॥ १४ ॥

दिव्यौषधीनामिव शैलराजो-
रत्नाकरो वा निलयो मणीनाम् ।
यथेश्वरो मंगलसद्‍गुणानां
विद्यावलीनां निधिरेव योऽभूत् ॥१५॥

ये दिव्यौषधि की खान शैलराज की तरह, रत्नों के भंडार समुद्र की तरह तथा मंगलमय सद्गुणों के निधि ईश्वर की तरह विद्या के आकर थे ॥ १५ ॥

काश्यादिविद्वन्मणिमण्डलेऽपि
प्रख्यातपाण्डित्यविशिष्टतायाः ।
मेधाविनो यस्य महानभूत्स
सम्मान आदर्शचरित्रभाजः ॥१६॥

स्वामी विरजानन्दजी आदर्श–चरित्रयुक्त और बड़े ही मेधावी थे। इनके पाण्डित्य की विशिष्टता काशी आदि के विद्वन्मण्डल में भी प्रख्यात हो चुकी थी। इसलिये इनका अत्यन्त सम्मान था ॥ १६ ॥

सत्यार्थवक्ता विषयेष्वसक्तो-
महान् विरक्तः प्रभुवेदभक्तः ।
शास्त्रीयशंकाविनिवारणे यो-
निसर्गसिद्धामलबुद्धिदक्षः ॥१७॥

ये सत्य सत्य कहनेवाले थे, विषयों से निस्पृह, महान् विरक्त और प्रभु तथा वेद के परमभक्त थे। शास्त्रीय शंकाओं के निवारण में इन की निसर्ग–निर्मल बुद्धि स्वभाव से ही चतुर थी ॥ १७ ॥

सर्वज्ञकल्पं गुरुमीदृशं तं
श्रद्धामयान्तःकरणाभिनम्रः ।
प्रणम्य विद्याध्ययनोत्सुकत्वं
न्यवेदयद्योगिवरो निकामम् ॥१८॥

योगीश्वर दयानन्द ने श्रद्धामय अंतःकरण से विनीत होकर प्रणामपुरःसर, ऐसे सर्वज्ञकल्प महान् गुरु से विद्याध्ययन के लिये अपनी उत्सुकता प्रकट की ॥ १८ ॥

निशम्य संकल्पमनल्पपुण्यः
संन्यासिनोऽस्यामुमथान्वयुङ्क्त ।
किं नाम ते कोऽसि वयः कियत्ते
ग्रन्थाः कियन्तस्त्वयकेत्यधीताः ॥१९॥

पुण्यशाली गुरुने इस संन्यासी का संकल्प सुनकर पूछा कि—तुम्हारा क्या नाम है ? कितनी आयु है और अबतक क्या क्या अध्ययन किया है ? ॥ १९ ॥

कृताभिधानो गुरुणाऽस्मि विद्व-
न्नहं दयानन्दसरस्वतीति ।
तुर्याश्रमी चास्मि वयस्तु पंच-
त्रिंशन्मिताब्दं भगवन् मदीयम्॥ २०॥

दयानन्द बोले—भगवन् ! गुरुने मेरा नाम दयानन्द रक्खा है । मैं संन्यासी हूँ । मेरी अवस्था ३५ वर्ष की हैं ॥ २० ॥

वेदान्तसारप्रमुखप्रबन्धान्
सारस्वतं व्याकरणेऽध्यगीषि ।
ग्रन्थान्निरुक्तादिककल्पसूत्रान्
श्रीपूर्वमीमांसनदर्शनाद्यान् ॥२१॥

मैंने वेदान्तसार आदि वेदान्तग्रन्थ, व्याकरण में सारस्वत, निरुक्त, कल्पसूत्र और पूर्वमीमांसा आदि दर्शन पढ़े हैं ॥ २१ ॥

आकर्ण्य तस्योत्तरमुत्तमस्य
प्रेक्षावतो बुद्धिमथो परीक्ष्य ।
संन्यासिनं तं च समीक्ष्य दण्डी
जगाद भूयो जगदेकवन्द्यः ॥२२॥

जगद्वन्दनीय दण्डी ने इनका उत्तर सुनकर, इनकी बुद्धि की परीक्षा कर तथा संन्यासी जानकर कहा ॥ २२ ॥

अधीतमद्यावधि सौम्य किञ्चिद्
यद्ग्रन्थजाते मनुजप्रणीते ।
तद् विस्मर त्वं सकलं मनः स्याद्
येनर्षिसद्ग्रन्थप्रकाशितं ते ॥२३॥

हे सौम्य, आजतक मनुष्यकृत ग्रन्थों में तुमने जो कुछ पढ़ा है, उसे भुला दो, जिस से कि आर्षग्रन्थों का तुम्हारे हृदय में प्रकाश हो ॥ २३ ॥

तवोपकण्ठे वितथप्रतिष्ठा-
ग्रन्था मनुष्यैः रचिता यदि स्युः ।
तमालनीलच्छविहारिनीरे
निक्षेपणीया यमुनाप्रवाहे ॥२४॥

तुम्हारे पास यदि झूठी प्रतिष्ठा वाले मनुष्यों के बनाये ग्रन्थ हों तो उन्हें यमुना की धारा में बहा दो ॥ २४ ॥

अनार्षसंदर्भत आर्यजाति-
गर्त्ते गतानर्थशताकुलेयम् ।

प्लीयमानार्यकुलोदयार्थं
प्रचारणीया ऋषिपुण्यविद्याः ॥२५॥

अनार्ष ग्रन्थों के अध्ययन से यह आर्य जाति अनेक अनर्थों से व्याकुल होकर अवनति के गर्त में गिर गई है। ह्रास होती हुई इस आर्य जाति के उदय के लिये आर्ष विद्या का प्रचार करना चाहिये ॥ २५ ॥

इत्याकलय्यैव मया स्वसृष्टा-
ग्रन्थाः पुरा पाणिनिभाष्यमुख्याः ।
प्रक्षेपिताः शिष्यकरारविन्दैः
कलिन्दकन्यासरिदम्बुवृन्दे ॥२६॥

यही विचार कर मैंने भी अपने बनाये पाणिनिभाष्य आदि ग्रन्थ पहले ही शिष्यों द्वारा यमुना में प्रवाहित करा दिये ॥ २६ ॥

संन्यासिनं कञ्चिदहं कदापि
नाङ्गीकरोम्येव विनेयरूपम् ।
यतस्तदीयालयभोजनादे-
स्स्थैर्यं विना स्यात्पठनेऽन्तरायः ॥२७॥

मैं किसी भी संन्यासी को कभी शिष्य नहीं बनाता, क्योंकि उन के निवास भोजनादि की स्थिरता के बिना पढ़ने में विघ्न उपस्थित हो जाया करता है ॥ २७ ॥

ततो निजावासपटाशनादेः
पूर्णं प्रबन्धं प्रविधाय तूर्णम् ।
ममान्तिकं स्वस्थतया समेत्य
तदा मुदाऽधीष्व यथाभिलाषम् ॥२८॥

इसलिये तुम अपने निवास, भोजनवस्त्रादि का शीघ्र पूर्ण प्रबन्ध कर के स्वस्थता से मेरे पास आकर आनन्दपूर्वक अभिलषित विद्याध्ययन करो ॥ २८ ॥

दण्डीशवाणीं निशमय्य वाग्मी
विनिर्ययौ शिक्षणपुण्यगेहात् ।
स्थानाशनादिस्थिरताव्यवस्था-
चिन्ताकुलान्तःकरणः परिव्राट् ॥२९॥

दण्डीश्वर की वाणी सुनकर वाग्मी दयानन्द पवित्र गुरुगृहसे बाहर निकले और स्थान भोजन आदि की स्थिरता की व्यवस्था की चिन्ता में पड़ गये ॥ २९ ॥

असंस्तुतायां मथुरानगर्यां
न संस्तुतः कोऽपि जनोऽस्य भिक्षोः ।
निवेदयेद्यं हि सहायतायै
स्थिरत्वदायै निजभोजनादेः ॥३०॥

इस अपरिचित मथुरापुरी में इस भिक्षु का कोई भी परिचित मनुष्य न था। इसलिये अपने निवास-भोजनादि के लिये ये किस से सहायता मांगते ? ॥ ३० ॥

अदःप्रबन्धो यदि विप्रबन्धो-
र्भवेन्न तर्ह्यस्य समश्रमाणाम् ।
सुनिष्फलत्वे हि सुजन्मनोऽपि
जायेत दुर्जन्म विधेः प्रकोपात् ॥३१॥

इस विप्रवर का यदि यह प्रबन्ध न हो जाय तो इस के कुल परिश्रम निष्फल हो जाँय और भाग्य के प्रकोप से मानों सुन्दर मानव-जन्म दुर्जन्म हो जाय ॥ ३१ ॥

हिमालयोत्तुङ्गपवित्रशीर्षाद्
गंगां व विद्यामृतदिव्यधाराम् ।
पश्येत् पिपासुः पुरतो न पातुं
शक्येत तादृग्दुरवस्थ आर्यः ॥३२॥

जैसे कोई श्रेष्ठ, पिपासु पुरुष हिमालय के उन्नत पवित्र मस्तक से गिरती हुई गंगाधारा को सामने देखता रहे और पी न सके; वैसे ही इस पवित्र गुरु के मस्तक से निकलती विद्या की दिव्य धारा को ये सामने देखते रहे परन्तु पी न सके—उस समय इन की ऐसी दुर्दशा हो गई थी ॥ ३२ ॥

यथाम्बुपात्रं वदनात् पिपासोः-
सुभोजनं स्वादु यथा बुभुक्षोः ।
आच्छिद्यते नुद्विषता नु दैवाज्
ज्ञानामृतं ज्ञानजुषो न्यवारि ॥३३॥

जैसे कोई किसी पिपासु के मुख से जलपात्र छीन ले, और भूखे के सामने से मधुर भोजन दूर हटा ले। वैसे ही द्वेषी दैव ने इन ज्ञान-पिपासु दयानन्दका ज्ञानामृत छीन लिया ॥ ३३ ॥

नैराश्यनीलाम्बुधरैर्दयालो-
र्हृदम्बरं निर्मलमावृतं द्राक् ।
किंकार्यसम्मूढमभून्मुहूर्त्ता-
दाशार्करश्मी रुरुचेऽन्तरेऽस्य ॥३४॥

इस दयालु का निर्मल हृदयाकाश शीघ्र ही निराशा के काले बादलों से घिर गया। अतः कुछ देर के लिये किंकर्तव्यमूढ़ हो गये, परन्तु जल्दी ही इनके हृदय में आशा की किरणें छिटक गईं ॥ ३४ ॥

महोपकारी मथुरानगर्या-
मुदारहृद्गुर्जरभूसुरेन्द्रः ।
औदीच्यवंश्योऽमरलालनामा
ज्योतिर्विदां पुंगव एक आसीत् ॥३५॥

उस समय मथुरा नगरी में एक महान् उपकारी, उदारहृदय, औदीच्यवंशीय, ज्योतिष् के विद्वानों में श्रेष्ठ श्री अमरलाल नाम के गुजराती ब्राह्मण रहते थे ॥ ३५ ॥

प्रसंगतस्संगतवान्मुनीन्द्रो-
लक्ष्मीकृपापात्रममुं कृपालुम् ।
श्रुत्वाऽस्य वार्तां विपदां स बन्धु-
श्चक्रे प्रबन्धं गृहभोजनादेः ॥३६॥

प्रसंगवशात् मुनीन्द्र दयानन्द एकबार लक्ष्मी के कृपापात्र इन से जा मिले। ये भी इन की विपत्तिभरी बातें सुनकर, इनके निवास और भोजनादि के प्रबन्ध के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो गये ॥ ३६ ॥

विलक्षणां तां प्रतिभां धियञ्च
श्रीब्रह्मचर्याद्भुतदेहदीप्त्या ।
लसन्मनोज्ञाननपङ्कजाभां
प्रभावितोऽभूदयमस्य वीक्ष्य ॥३७॥

ये स्वामीजीकी विलक्षण प्रतिभाशक्ति और ब्रह्मचर्यजन्य देहकान्ति से शोभित मुखारविन्द का तेज देखकर अतिशय प्रभावित हो गये थे ॥ ३७ ॥

लक्ष्मीशसन्मन्दिरपार्श्वगेहं
सदेहदघ्नं यमुनासुतीर्थे ।
लेभे यतो मंजुलभंगमंभो-
व्यलोक्यताच्छं पुलिनं लतान्तम् ॥३८॥

यमुना के घाट पर लक्ष्मीनारायण के श्रेष्ठ मंदिर के पास, एक मनुष्य के सोने के लायक एक छोटी सी कोठरी इन्हें मिली। इस कोठरी में बैठे २ मनोहर तरंगों से युक्त यमुना का जल और लता से वेष्टित सामने का किनारा दिखाई देता था ॥ ३८ ॥

स भोजयित्वा व्रतिनं व्रतज्ञो
सदातिथेयो गृहिणां वरेण्यः ।
अभुंक्त भक्त्याऽमलया सभार्यः
सतां हि सेवामयजीवनं सत् ॥३९॥

अमरलालजी उत्तम गृहस्थ होने से अतिथि-पूजा आदि व्रतों को जानने वाले थे, इसलिये सदा अतिथि सत्कार में तत्पर रहते थे। वे पत्नीसहित बैठकर निर्मल भक्ति से इस ब्रह्मचारी को भोजन कराया करते, क्योंकि सत्पुरुषों का जीवन सेवामय ही होता है ॥ ३९ ॥

साहाय्यमस्मै यमिनां वराय
प्रदाय मन्येऽमरलालविप्रः ।
आम्नायधर्मोद्धरणे स्वजातेः
समुन्नतौ चायमभूत्सहायः ॥४०॥

इस यतिवर को सहायता देकर मानों अमरलाल वेदधर्म के उद्धार एवं आर्यजाति की उन्नति में सहायक हो गये ॥ ४० ॥

यन्मानवस्वान्ततमोऽपहं तद्
दिव्यं दयानन्ददिवाकरेऽलम् ।
तेजोऽभवत् संचितमत्रभाग-
स्तवाप्यतस्तज्जनवन्दनीयः ॥४१॥

दिव्य दयानन्द-दिवाकर में मानव-हृदय के अज्ञान-अन्धकार को नाश करनेवाला जो तेज-संचय हो गया था, उस में अमरलालजी का भी भाग था। अतः वे भी आर्य-जनों के लिये वन्दनीय हैं ॥ ४१ ॥

न केवलं ज्ञानजुषो महर्षे-
र्ज्ञानाशनाया भवता प्रशान्ता ।
परञ्जनौघस्य ततस्तु धन्यो-
भवानभूत्सार्थकनामधेयः ॥४२॥

हे अमरलाल, आपने न केवल ज्ञानपिपासु महर्षि की ज्ञानपिपासा शान्त की, किन्तु अनन्त जनता की ज्ञानपिपासा आपने शान्त कर दी। इसलिये आप का अमरलाल नाम सार्थक हो गया ॥ ४२ ॥
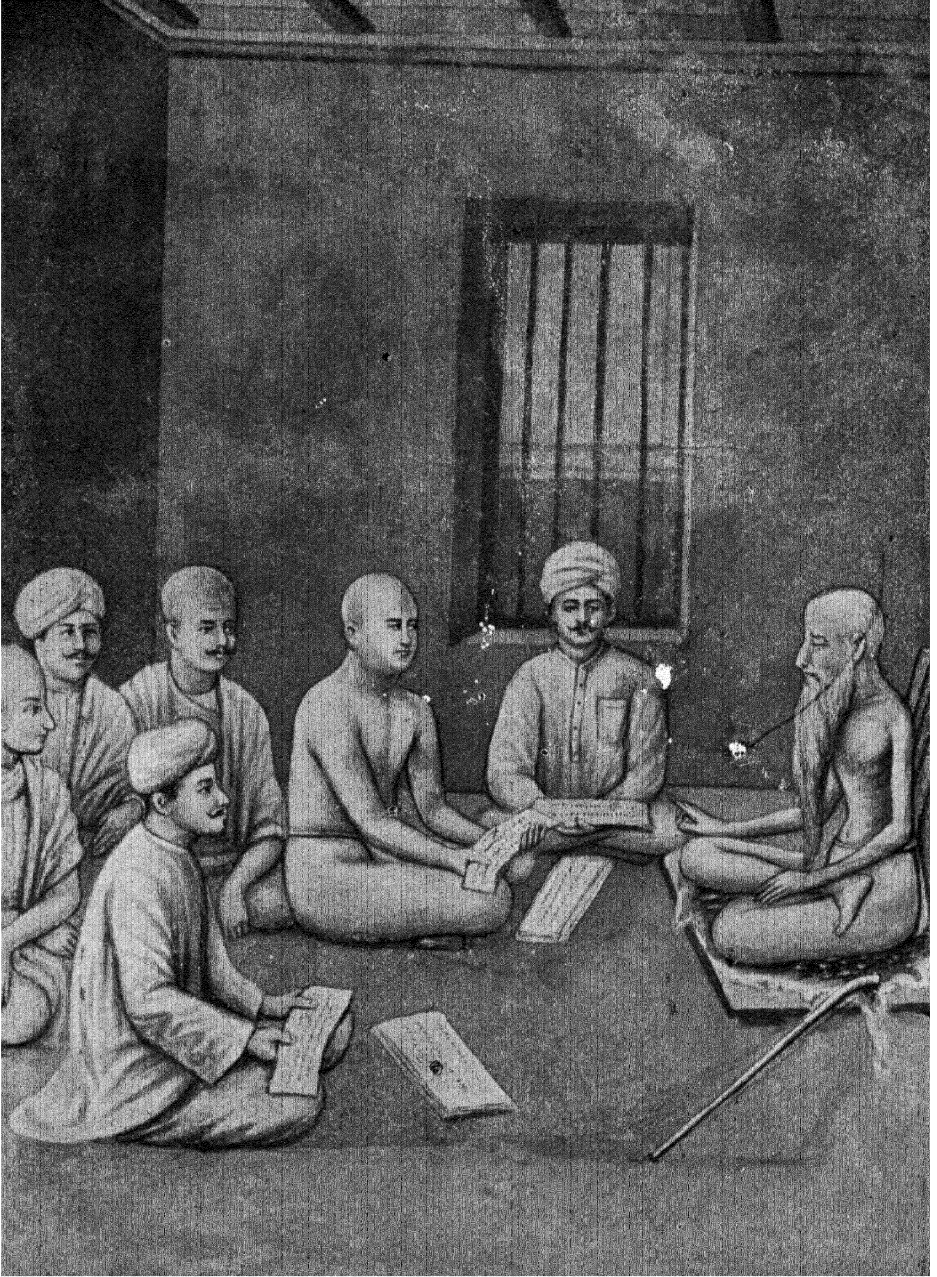
गुरु विरजानन्दजी से भेंट और विद्याध्ययन।

निश्चिन्तचेता गृहभोजनादौ
प्रसन्नचन्द्रामलमंजुलास्यः ।
ज्ञानोष्णरश्मे र्वदनारविन्दात्
पातुं प्रवृत्तो मुनिचन्द्र ओजः ॥४३॥

ये मुनिचन्द्र गृहभोजनादि की चिन्ता से निश्चिन्त हो कर प्रसन्न-चन्द्रसम निर्मल मनोहर मुखद्वारा गुरुरूपी ज्ञान-सूर्य के मुखारविन्द से विद्यातेज का पान करने लगे ॥ ४३ ॥

कुल्यावलीकेवलकाय आत्मा
यूनां समुत्साहभृतां स दण्डी ।
उत्साहतेजोबलतो व्रतीन्द्रं
प्रारब्ध संपाठयितुं विनेयम् ॥४४॥

शरीर अस्थिपञ्जर मात्र होते हुए भी दण्डीजी उत्साही युवकों की तरह खूब उत्साह और शक्ति से अपने शिष्य को पढ़ाने लगे ॥ ४४ ॥

स सूत्रवित्पाणिनिसूत्रजातं
ससिद्धि सोदाहरणं च सार्थम् ।
संपाठयामास सुशिष्यमेनं
पतञ्जलेर्भाष्यवरेण साकम् ॥४५॥

स्वामी विरजानन्दजी ने दयानन्दजी को अष्टाध्यायी, सूत्रपाठ, वार्त्तिक, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, सिद्धि एवं पातञ्जल भाष्य भी पढा दिया ॥ ४५ ॥

अध्यापनस्योत्तमरीतिरासीद्
विलक्षणाचार्यवरस्य नूनम् ।
ययाऽल्पकालेन विनेयवर्गः
प्रवीणतां व्याकरणेऽलमाप्तुम् ॥४६॥

आचार्यवर दण्डीजी की पाठन प्रणाली विलक्षण एवं उत्तम थी, जिससे कि विद्यार्थीगण कुछ ही समय में व्याकरण में अच्छी योग्यता प्राप्त कर लेते थे ॥ ४६ ॥

धीरुज्ज्वला धारणशक्तिरग्र्या
तीव्रा दयानन्दयतेरतोऽयम् ।
व्युत्पन्नतां व्याकरणे व्यतानी-
ल्लेभेऽल्पकाले सकलेऽधिकारम् ॥४७॥

यतिवर दयानन्द की बुद्धि तीव्र एवं धारणाशक्ति उज्वल थी। इसलिये अल्पकाल में ही इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरण में व्युत्पन्नता प्राप्त कर ली ॥ ४७ ॥

यथाऽष्टकं व्याकरणेऽद्वितीयं
तथैव तत्पाणिनिसूत्रपंक्तेः ।
सर्वस्थलस्पष्टसुभावसार-
ज्ञाने महाभाष्यमतुल्यरूपम् ॥४८॥

जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र में अष्टाध्यायी अद्वितीय ग्रन्थ है, वैसे ही उस पाणिनीय ग्रन्थ की पँक्तियों के प्रत्येक स्थल के स्पष्ट भाव एवं तात्पर्य को द्योतन करने में महाभाष्य भी अनुपम ग्रन्थ है ॥ ४८ ॥

श्रीकौमुदीव्याकृतिबोधदार्ढ्यं
विधातुमायोजनमस्ति यद्वत् ।
श्रीभट्टिकाव्यस्य तथाऽष्टकस्य
ज्ञाने महाभाष्यमयुज्यताऽरम् ॥४९॥

जैसे भट्टोजि दीक्षित कृत सिद्धान्त कौमुदी के ज्ञान को दृढ़ करने के लिये भट्टि काव्य उपयुक्त है, वैसे ही अष्टाध्यायी को समझाने के लिये महाभाष्य अत्यन्त उपयोगी है ॥ ४९ ॥

अम्भोनिधेर्मन्थनदेवकार्ये
मेरुर्यथाभून्मथिदण्डकल्पः ।

वेदार्णवालोडनदण्डमेवं
पातञ्जलं भाष्यमहो गरीयः ॥५०॥

जैसे समुद्रमन्थनरूप देव कार्य के लिये सुमेरुपर्वत मन्थनदण्ड हैं, वैसे ही वेदरूपी सागर के आलोडन में पातञ्जल महाभाष्य उत्तम मन्थनदण्ड है ॥ ५० ॥

दाक्षीसुतव्याकृतितन्त्रदाक्ष्यं
लब्ध्वा महाभाष्यनदीष्णतां सः ।
श्रीशब्दसाम्राज्य इहाऽखिलेऽपि
सम्राट्पदं नूनमविन्दताऽर्च्यम् ॥५१॥

स्वामीजीने अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य में पूर्ण प्रवीणता प्राप्त करके सम्पूर्ण शब्द-साम्राज्य में सचमुच पूजनीय 'सम्राट्' की पदवी प्राप्त कर ली ॥ ५१ ॥

सवेदवेदांगरहस्यवेत्ता
प्रज्ञाननेत्रो गुरुरार्षशैल्या ।
समग्रवेदागमदर्शनाना-
मबूबुधत्सारमिमं यमीन्द्रम् ॥५२॥

वेद-वेदाङ्गों के रहस्य को जाननेवाले प्रज्ञाचक्षु आचार्यने आर्ष शैली से समग्र दर्शन एवं वेदों के सार को समझा दिया ॥ ५२ ॥

तदार्षविद्याम्बुनिधेरजस्रं
विगाहनात्तत्त्वमणीन् प्रपन्नान् ।
स्वशिष्यरत्नाय गुरुः प्रसन्नो-
ददावमूल्यान् समयादतुल्यान् ॥५३॥

प्रसन्न होकर गुरुने आर्षविद्या के महासागर में निरन्तर अवगाहन से प्राप्त किये हुए अमूल्य अनुपम तत्वरत्न, अपने शिष्यरत्न को प्रदान कर दिये ॥ ५३ ॥

अध्येतुमध्येतृवरः पुरेदृङ्-
नायात्कदाप्यस्य गुरोरुपान्तम् ।
अपूर्व आचार्यवरोऽपि पूर्वं
निरैक्षि नेदृग् व्रतिमण्डनेन ॥५४॥

इन आचार्य के पास पढ़ने के लिये ऐसा कोई शिष्य पहले कभी न आया था। और इस प्रकार के अपूर्व आचार्य भी इस ब्रह्मचारीने पहले कभी नहीं देखे थे ॥ ५४ ॥

आदर्शरूपः स विनेयराजे-
र्जितेन्द्रियेन्द्रो भुवि शिष्यचन्द्रः ।
निदर्शनं सद्गुरुमण्डलीना-
माचार्य आचारवतां स इन्द्रः ॥५५॥

संसार के शिष्यमण्डल में एकमात्र आदर्शरूप यह जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी शिष्य था। और गुरुमण्डल में भी महान् आदर्शरूप स्वामी विरजानन्दजी श्रेष्ठ आचार्य थे ॥ ५५ ॥

सनत्कुमारादृषिनारदो वा
वाजश्रवःसूनुरिवार्यमृत्योः ।
श्रीपिप्पलादादिव सत्यकामो-
बृहस्पतेरिन्द्र इवाधिविद्यम् ॥५६॥

यथा वशिष्ठाद् रघुनन्दनः श्री-
भीष्मो व्रतीन्द्रो भृगुनन्दनाद्वा ।
सान्दीपने र्वा सुगुरो र्मुकुन्द-
स्तीर्थाद्दयानन्द इतः शिशिक्षे ॥५७॥

जैसे सनत्कुमार ऋषि से नारदजी, यमाचार्य से नचिकेता, पिप्पलाद मुनि से सत्यकाम, बृहस्पति से इन्द्र, वशिष्ठ से रामचन्द्र, परशुराम से ब्रह्मचारी भीष्म तथा सान्दीपन

गुरु से कृष्णचन्द्रने विद्या प्राप्त की थी, वैसे ही विरजानन्दजी से दयानन्दने वैदिक विद्याओं का अध्ययन किया ॥ ५६–५७ ॥

अवर्णनीया गुरुभक्तिरेषा-
मन्तेसदां शिष्यविभूषणानाम् ।
आदर्शभूतेह यथाऽभवत्सा
तथा दयानन्दमुनेरमेया ॥५८॥

जिस प्रकार इन शिष्यों की गुरुभक्ति अवर्णनीय थी, वैसे ही दयानन्द की गुरुभक्ति भी अनुपम एवं आदर्श थी ॥ ५८ ॥

स्नानार्थमाचार्यवरस्य नित्यं
ब्राह्मे मुहूर्ते जलकुम्भजालम् ।
भक्त्याऽऽनयन्निर्झरिणीप्रतीरात्
स्कन्धेन वातातपशीतकाले ॥५९॥

स्वामीजी ब्राह्ममुहूर्त में उठकर वर्षा, शीत और आँधी की परवाह किये बिना भक्ति से आचार्यवर विरजानन्दजी के स्नानार्थ नियमिततापूर्वक यमुना से घड़ों पानी लाया करते थे ॥ ५९ ॥

कलिन्दकन्यामलमध्यधारां
प्रविश्य नीरं गुरुपानहेतोः ।
पवित्रमानीय ददौ विनम्रो-
विराजते भक्तियुता हि विद्या ॥६०॥

आचार्यजी के पीने के लिये यमुना की बीच धारा का निर्मल जल विनम्र स्वामीजी ले आया करते थे, क्योंकि विद्या भक्ति से ही शोभित होती है ॥ ६० ॥

श्रद्धामयी श्रीगुरुदेवसेवा
सदा तदाज्ञापरिपालनानि ।

विद्यार्थिनोऽस्य प्रतिभान्विता धी-
गुरोः कृपाकारणतां गतानि ॥६१॥

प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक गुरुदेव की सेवा, उनकी आज्ञा का पालन और प्रतिभाशालिनी बुद्धि इन तीनों कारणों से दयानन्दजी गुरुदेव के कृपापात्र बन गये थे ॥ ६१ ॥

आचार्यदेवोऽप्यमुना समं सन्
व्यवाहरन्नन्यविनेयवन्नो ।
साधुस्वभावे विजितेन्द्रियेन्द्रे
स्नेहो भृशं स्यान्नहि कस्य शिष्ये ॥६२॥

आचार्य देव भी इनके साथ दूसरे शिष्यों की तरह व्यवहार नहीं रखते थे। भला साधु-स्वभाव-सम्पन्न, जितेन्द्रिय शिष्य पर किस गुरु का अत्यन्त स्नेह न होगा ? ॥ ६२ ॥

सदा भ्रमोन्मूलनपण्डिताऽभू-
दमुष्य जिह्वाऽनृतखण्डिनीति ।
स कालजिह्वो गुरुणोच्यते स्म
स्नेहप्रसन्नेन सतां वरेण ॥६३॥

दयानन्दजी की जिह्वा सदा भ्रमनिवारण में चतुर और मिथ्या बातों के खण्डन में प्रवीण थी। इसलिये स्नेह से प्रसन्न होकर सन्तशिरोमणि विरजानन्द इन्हें कालजिह्व कहा करते थे ॥ ६३ ॥

स शक्नुयाच्छंकुरिवाचलांगो-
धीरः पराजेतुमनंगजेता ।
विपक्षिलोकानिति तं गुरुस्तु
ध्रुवोपनाम्ना निजगाद तुष्टः ॥६४॥

यह कामदेव-विजेता "दयानन्द अचल स्तम्भ की तरह सुदृढ़ शरीर से विपक्षियों के पराजय करने में शक्तिमान् होगा। ऐसा जानकर गुरु प्रसन्नता से उन्हें कुळकर कहा करते थे ॥ ६४ ॥

न केवलं ज्ञानधनाभिलाषी
विद्यार्थिवर्योऽपितु पीडितायाः ।
पुण्यार्यभूमेरुदयाभिकांक्षी
व्यज्ञायि विज्ञेन दयालुचेताः ॥६५॥

स्वामी विरजानन्दजी यह जानते थे कि दयार्द्रहृदय दयानन्द न केवल ज्ञानार्थी ही है, किन्तु यह पीडित आर्यभूमि के अभ्युदय का भी आकांक्षी है ॥ ६५ ॥

प्राग् जन्ययानात् प्रविशेद् यथा ना
शस्त्रालयं शस्त्रचयं ग्रहीतुम् ।
शास्त्रार्थसंख्याय स पाठशालां
शास्त्रार्थतत्त्वानि विवेश वीरः ॥६६॥

जैसे योद्धा युद्ध में जाने से पूर्व शस्त्रागार में जाकर शस्त्र–समूह का संग्रह करता है, वैसे ही दयानन्दजी शास्त्रार्थ–युद्ध में विजयी होने के लिये शास्त्र–तत्व के संग्रहार्थ गुरुगृह में प्रविष्ट हुए थे ॥ ६६ ॥

मनीषितं पूरयितुं मनीषी
समर्थमालोच्य तमात्मशिष्यम् ।
चिराय चिन्तातपशुष्कचित्तो-
जहर्ष मेघं कृषको यथाऽसौ ॥६७॥

जैसे चिरकालीन चिन्ता–ज्वर से शुष्क–शरीर कृषक अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिये समर्थ, आये हुए मेघ को देखकर प्रसन्न होता है, वैसे ही अपनी सब इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ इस सुशिष्य को देखकर मनीषी विरजानन्द प्रसन्न हो गये ॥ ६७ ॥

चिरस्य संपालितलालितश्री-
संकल्पसाम्राज्यसमाधिकारी ।
मद्ब्रह्मचारी भवितेति शान्तं
स्वान्तं गुरोरस्य बभूव मत्वा ॥६८॥

चिरकाल से अपने लालित पालित शुभ संकल्पों के साम्राज्य का एक मात्र उत्तराधिकारी यह मेरा ब्रह्मचारी होगा, ऐसा जानकर गुरु विरजानन्दजी के हृदय को परम सन्तोष हुआ ॥ ६८ ॥

श्रीवेदधर्मार्यजनोदयाख्ये
महामखे कं नु जनं नियुञ्ज्याम् ।
होतारमित्येनमवेक्ष्य योग्यं
शशाम चिन्ताग्निरनिन्द्यवृत्तेः ॥६९॥

वैदिकधर्म के उद्धार एवं आर्यभूमि के अभ्युदय रूप महायज्ञ में मैं होता किसे बनाऊँगा—इस प्रकार की इन गुरु की चिन्ताग्नि ऐसे पवित्र शिष्य को देखकर शान्त हो गई ॥ ६९ ॥

आर्षप्रचारामलवैजयन्तीं
पाखण्डिलीलामिह तर्जयन्तीम् ।
स्कन्धेन वोढेत्यलमस्य वाग्मी
तुष्टं मनो देवमनो हरन्तीम् ॥७०॥

यह वाग्मी इस संसार में पाखण्डियों की लीला का खण्डन करनेवाली, विद्वानों के मनों को हरनेवाली, आर्ष विद्याओं के प्रचाररूप निर्मल वैजयन्ती को अपने कन्धों पर धारण करने में अत्यन्त समर्थ है,—ऐसा देख कर गुरु का मन आनन्द विभोर हो उठा ॥ ७० ॥

सच्छास्त्रविद्यानिधिमन्दिरान्त-
र्विष्कम्भकोन्मुद्रणकुंचिकेव ।
निरुक्तपातञ्जलपाणिनीड्य-
ग्रन्थेऽमुनाऽस्मै कृतिता वितीर्णा ॥७१॥

गुरुने इन्हें वेद और शास्त्रों के मन्दिर में प्रवेश के लिये विद्यानिधि के द्वार का ताला खोलने के लिये चावी की तरह निरुक्त और महाभाष्य इन दोनों में निपुणता प्रदान कर दी ॥ ७१ ॥

वेदार्थसंधारणबोधनादे-
यथार्थशैलीमवबोध्य सम्यक् ।
तदीयसंशीतिततिं स दण्डी
निराकरोत्पण्डितमण्डनेशः ॥७२॥

पण्डित—मण्डल के अलंकाररूप दण्डीजी ने वेदार्थ समझाने की यथार्थ शैली अच्छी प्रकार बताकर इनके सभी संशयों को मिटा दिया ॥ ७२ ॥

सद्धर्मशास्त्रार्थरणांगणाग्रे
तिष्ठदजेयो नयसंस्कृतात्मा ।
गूढार्षविद्याऽक्षयवर्मरत्ने-
नालंकृतोऽलं गुरुणेति शिष्यः ॥७३॥

उत्तम धर्म की शास्त्रार्थरूपी युद्धभूमि में मेरा शिष्य शास्त्र संस्कारों से परिष्कृत बुद्धि होकर अजेय रहे, इसलिये गूढ़ आर्ष विद्या के अक्षय कवच—रत्न से अपने शिष्य को अलंकृत कर दिया ॥ ७३ ॥

स ब्रह्मचर्योज्ज्वलजातवेदः-
प्रतप्तहेमप्रभकायकान्त्या ।
महार्हविद्यामणिमौक्तिकाली-
श्रीशालिकण्ठो नितरां दिदीपे ॥७४॥

ब्रह्मचर्य की उज्ज्वल अग्नि से तप्त हुए सोने के समान चमकते शरीर की कान्ति से तथा अमूल्य विद्यारूपी मोतियों एवं रत्नों की माला से भूषित कण्ठवाले ब्रह्मचारी दयानन्द अत्यन्त ही दमकते थे ॥ ७४ ॥

अगाधविद्योन्नमनोऽपि नम्रः
फलेग्रहिद्रूपम उन्नतात्मा ।
अनन्तवीर्याम्बुधिरप्यमन्दं
जुगोप सीमां व्रतिसार्वभौमः ॥७५॥

ये ब्रह्मचारी-सम्राट् अगाध विद्याओं से उन्नतात्मा होने पर भी फलधारी वृक्ष की तरह नम्र थे, अनन्त वीर्य के सागर होने पर भी अत्यन्त मर्यादा-पालक थे ॥ ७५ ॥

स जन्मदातुः पितुरप्यमुष्मिन्
श्रद्धाधिकत्वं निदधौ गुरौ स्वे ।
आध्यात्मिकत्वेन गुरु र्गरीयान्
सद्ब्रह्मदाता जनकाज्जगत्याम् ॥७६॥

स्वामीजी अपने गुरु पर पितासे भी बढ़कर श्रद्धा रखते थे । क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से सद्ज्ञानप्रदाता गुरु जगत् में पिता से श्रेष्ठ होता ही है ॥ ७६ ॥

सुशिष्यमुक्तामणिहारहीरं
छात्रेशमेनं तनयं स मेने ।
निजाभिलाषानुगुणैकचित्ते
प्रेमोचितं तस्य हि धर्मवित्ते ॥७७॥

दण्डीजी भी शिष्यरूपी मोतियों की माला में हीरे के समान इस छात्रवर को पुत्रतुल्य ही मानते थे । अपनी इच्छा के अनुकूल आचरण करनेवाले धर्मधन शिष्य पर गुरु का प्रेम योग्य ही था ॥ ७७ ॥

दण्डीन्द्रदण्डेन स दण्डितोऽयं
प्रचण्डदोर्दण्डदयालुदेवः ।
गुरूपकारस्य गुरोः कृपालोः
सस्मार भक्त्याऽऽमरणं गुणज्ञः ॥७८॥

प्रचण्ड बाहुदण्ड से सुशोभित दयालु दयानन्द देव दण्डीजी के दण्ड से दण्डित हुए थे । किन्तु गुणशाली दयानन्द कृपालु गुरु देव के इस महान् उपकार को भक्तिपुरस्सर आजन्म याद करते रहे ॥ ७८ ॥

यथा सुवर्णं स सुवर्णकारः
प्रताड्य रूपित्वमुपानयेन्नु ।

पात्रत्वमेवं नयते विनेया-

नाचार्य इत्याख्यदयं सतीर्थ्यान् ॥७९॥

जैसे सुनार सोने को हथौडी से पीट पीट कर सुन्दर अलंकार बना देता है, वैसे ही आचार्य शिष्यों को दण्ड देकर पात्र बना देते हैं। स्वामीजी अपने सहाध्यायियों पर ऐसा भाव प्रकट किया करते थे ॥ ७९ ॥

समाधिमात्मोन्नतये द्विकालं

मनोविकासाय मनोज्ञमन्त्रान् ।

व्यायाममंगावलिपुष्टयेऽसौ

सिद्धान्तवेत्ताऽऽकलयाञ्चकार ॥८०॥

सिद्धान्तवेत्ता स्वामीजी दोनों समय आत्मा की उन्नति के लिये समाधि, मानसिक विकास के लिये भावनापूर्ण मंत्रों का मनन तथा शारीरिक बल की वृद्धि के लिये व्यायाम किया करते थे ॥ ८० ॥

तेजोमयं तन्मुखमण्डलाब्जं

विशालभालाञ्चितभव्यमूर्तिम् ।

व्रतस्तवं वीक्ष्य वितेनुरस्य

ते मुक्तकण्ठं मथुरापुरीस्थाः ॥८१॥

मथुरानगरी के लोग, स्वामीजी का तेजस्वी मुखमण्डल, विशाल भाल, तथा भव्यमूर्त्ति देखकर इनके ब्रह्मचर्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा किया करते थे ॥ ८१ ॥

शृङ्गाटके राजपथे प्रतोल्यां

हट्टेषु घट्टेष्वपि यामुनेषु ।

आगच्छतो गच्छत आर्यभिक्षो-

र्नासाग्रचक्षुस्समभून्मुमुक्षोः ॥८२॥

इस मुमुक्षु आर्यभिक्षु की दृष्टि चौराहों, सड़कों, गलियों, दुकानों और यमुना के घाटोंपर आते जाते समय सदा नीची रहा करती थी ॥ ८२ ॥

गतागतं यत्र नितम्बिनीनां
　　सहस्रशोऽवर्त्तत सुन्दरीणाम् ।
मुखारविन्दोपरि नेत्रपालिः
　　कदाप्यपप्तन्नहि वर्णिराजः ॥८३॥

जहाँ हजारों स्त्रियाँ आया जाया करती थीं ऐसे स्थानों पर भी इस आदर्श ब्रह्मचारी की दृष्टि कभी उनपर नहीं पड़ी ॥ ८३ ॥

हर्म्येषु तीर्थेषु सुरालयेषु
　　व्यायामपाठापणमन्दिरेषु ।
सर्वत्र सौशील्यगुणप्रशंसा
　　सा शुश्रुवे संयमिनोऽस्य तीव्रा ॥८४॥

महलों में, घाटों पर, देवमन्दिरों में, व्यायामशालाओं में, दूकानों पर तथा पाठ-शालाओं में सर्वत्र इस संयमी के सच्चरित्र की प्रशंसा सुनी जाती थी ॥ ८४ ॥

कलिन्दकन्यापुलिने कदाचित्
　　समाधिनिष्ठस्य पदारविन्दे ।
निधाय शीर्षं ललनाऽस्य भक्त्या
　　पद्मासनस्थं सुमना ववन्दे ॥८५॥

एकवार स्वामीजी यमुना के किनारे समाधि लगाये बैठे थे। उस समय एक भक्तिशालिनी कुलवन्ती स्त्री ने आकर भक्तिपुरस्सर उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया ॥ ८५ ॥

कदाप्यकार्षीन्नहि योषितां स
　　स्पर्शं महात्मेति चमच्चकार ।
उन्मीलिताक्षोऽथ निगद्य मात-
　　र्मात न युक्तं कृतमित्युदस्थात् ॥८६॥

स्वामीजी ने कभी किसी स्त्री का स्पर्श नहीं किया था । इस से ये महात्मा चमक उठे और आँखें खोलने पर कहने लगे कि–हे माता ? हे माता ! यह तुमने क्या किया ! ऐसा कहकर उठ खड़े हुए ॥ ८६ ॥

स्त्रीस्पर्शदोषप्रतिमार्जनार्थं
गोवर्धनाद्रौ त्रिदिनान्युपांशु ।
स्थित्वा निराहारतया समाधिं
समादधौ संयमिनां धुरीणः ॥८७॥

स्त्रीस्पर्शरूपी दोष के परिमार्जनार्थ गोवर्धन पर्वत पर तीन दिन एकान्तवास में निराहार रहकर संयमी दयानन्द ने समाधि लगाई ॥ ८७ ॥

तुर्येऽह्नि नैजान्तिकमागतं तं
पाठाय पप्रच्छ गुरुस्समुत्कः ।
वत्सागमः कुत्र दिनत्रयं त्वं
नाया यदध्येतुमये किमासीत् ॥८८॥

चौथे दिन गुरु के पास गये तो उन्हों ने उत्कण्ठा से पूछा कि–हे वत्स ! क्या कारण था कि तुम तीन दिन तक पढने नहीं आये ॥ ८८ ॥

आख्याय तस्मै गुरवे स्ववृत्तं
वृत्तं तदानीं यमियामिनीशः ।
वाचंयमोऽस्थान्निशमय्य दण्डी
तमभ्यनन्दत्पुलकाञ्चितांगः ॥८९॥

तब संयमियों में चन्द्रसम शिष्य दयानन्द ने अपना सब वृत्तान्त गुरु को कह सुनाया । इस घटना को सुनकर दण्डीजी रोमाञ्चित हो गये और उन्हों ने स्वामीजी को अभिनन्दन दिया ॥ ८९ ॥

अथैकदा विस्मृतशब्दसिद्धिं
क्लिष्टेति नम्रो गुरुमन्वयुङ्क्त ।

नाध्यापयानि द्विरहं कदापि
स्मर्येत नो चेद् भव नीरमग्नः ॥९०॥

एक दिन की बात है कि स्वामीजी किसी क्लिष्ट शब्द की सिद्धि भूल गये, इसलिये नम्रतापूर्वक पुनः गुरु से पूछा। परन्तु दण्डीजी ने कहा कि–मैं दूसरी वार नहीं पढ़ाया करता, यदि याद नहीं हो तो पानी में डूब मरो ॥ ९० ॥

इत्युक्तमाकर्ण्य गुरोः प्रमन्यो-
श्चक्रे प्रतिज्ञां स यदादिनान्तम् ।
सिद्धिं स्मरेयं न यदीह नद्यां
निपत्य दद्यां मकराय देहम् ॥९१॥

क्रुद्ध गुरु के इस प्रकार के वचन सुनकर दयानन्दजीने प्रतिज्ञा की कि यदि मैं सायंकाल तक सिद्धि को स्मरण न कर लूँ, तो नदी में डूब कर मगरों को शरीर समर्पण कर दूँगा ॥ ९१ ॥

उत्तुङ्गसीतायतनोत्तमांगं
स्वामी समारुह्य समाधिलीनः ।
प्रयोगसिद्धिं सकलां यथावत्
सस्मार मन्ये गुरुणोच्यमानाम् ॥९२॥

ऊँचे सीतामन्दिर के शिखर पर चढ़कर स्वामीजी समाधि में लीन हो गये। स्वामीजी को गुरुने जैसी प्रयोग सिद्धि की थी, यथावत् वैसी ही याद आगई ॥ ९२ ॥

अतिप्रतीतो द्रुतमागतो गुरुं
ततः प्रतीक्ष्यं निकषा कषोपले ।
परीक्षितो ध्यानमये सुवर्णवत्
सुवर्णकारं स्मृतसिद्धिवर्णिराट् ॥९३॥

तब स्वामीजी खूब प्रसन्नता के साथ शीघ्र गुरुजी के पास आगये। जैसे सुनार कसौटी पर सोने की परीक्षा करता है, वैसे ही गुरु ने इनके ध्यान की परीक्षा की थी ॥९३॥
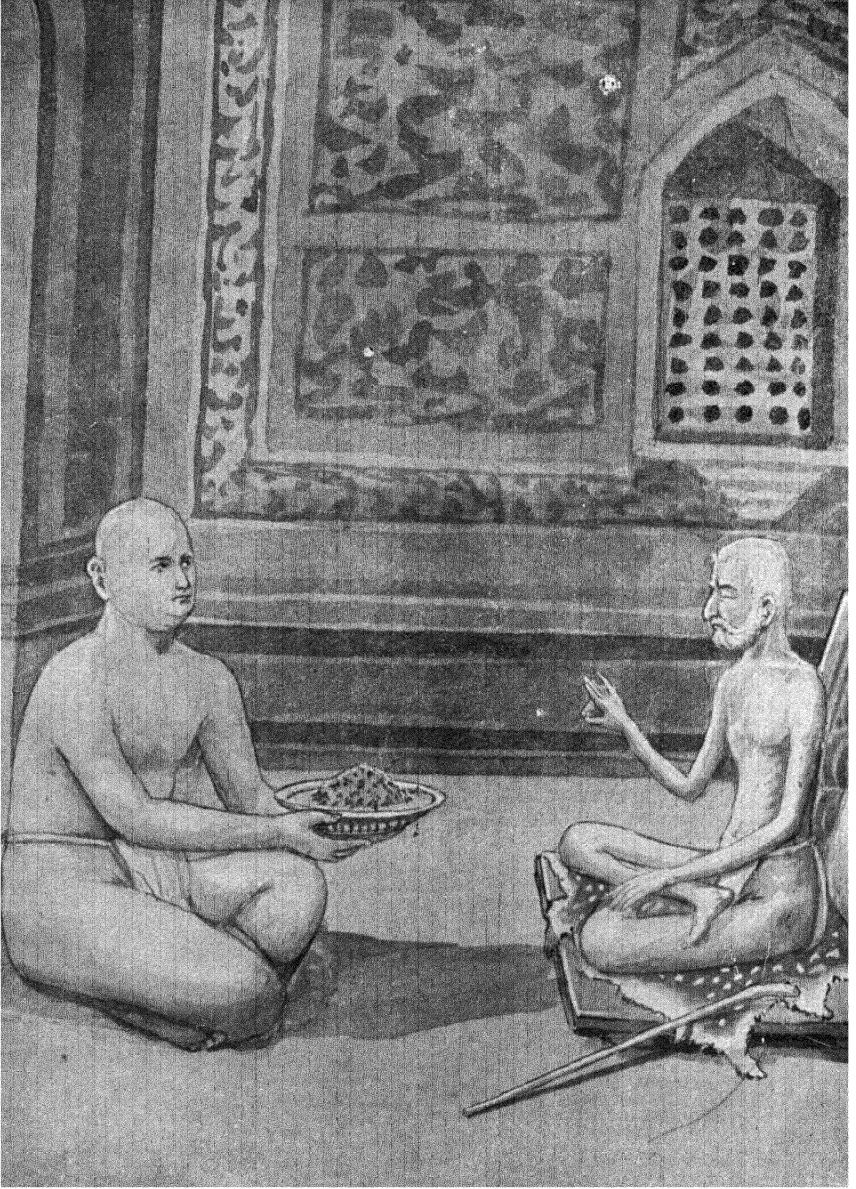
गुरु दक्षिणाका अपूर्व दृश्य

गुरुं समश्रावयदेष पाठितां
प्रयोगसिद्धिं सकलां यथायथम् ।
समीक्ष्य धैर्यं गुरुमस्य धारणां
गुरुः प्रहर्षाश्रुतरंगितान्तरः ॥९४॥

स्वामीजीने आकर दण्डीजीने जैसी पढ़ायी थी वैसी सब सिद्धि उनको सुना दी। प्रज्ञाचक्षु गुरु भी इनके धैर्य और धारणा को देखकर आनन्दाश्रु से गद्‌गद् हो उठे ॥९४॥

स पुत्रवात्सल्यमयेन चेतसा
सहर्षमालिंग्य सुशिष्यमाशिषा ।
अयोजयद् प्रेमसुधापवित्रया
गुरुप्रसादो हि महातपःफलम् ॥९५॥

विरजानन्दजीने पुत्र-वात्सल्य-रसयुक्त हृदय से शिष्य को आलिंगन करके प्रेमामृत से पवित्र आशीर्वाद द्वारा सत्कृत किया। निश्चय ही गुरु की प्रसन्नता ही महातपश्चरण का फल है ॥ ९५ ॥

गुरुचरणसरोजद्वन्द्वसेवाप्रसादै-
रधिगतशुभविद्यातृप्तचेता व्रतीन्द्रः ।
कृतनतिरतिनम्रो देवपुष्पाणि पाणौ
गुरुवरमुपसन्नः श्रद्धयोवाच धृत्वा ॥९६॥

दयानन्दने गुरुचरणरूपी कमलयुगल की सेवा रूप प्रसाद से शुभ विद्याएँ प्राप्त कर ली थीं। इसलिये व्रतीन्द्र दयानन्द प्रसन्नमनसे (गुरु को भेंट देने के लिये) हाथों में लौंग लेकर अतिनम्रता और श्रद्धा के साथ गुरु के पास आये और भक्तिसहित प्रणाम करके बोले ॥ ९६ ॥

अनुपमकृपयाऽस्मै ज्ञानमाचार्यवर्यै-
र्बलवदुपकृतोऽयं सम्प्रदायात्मपुत्रः ।
उपकृतिमणिमूल्यं जीवनस्पर्शनेन
प्रतिवितरितुमीशो नैव नूनं भवेयम् ॥९७॥

हे गुरुदेव ! अनुपम कृपा से आपने इस पुत्र को सम्पूर्ण विद्या प्रदान करके अति उपकृत किया है। इस उपकाररूपी रत्न के मूल्य को जीवनदान से भी मैं सचमुच नहीं चुका सकता ॥ ९७ ॥

उपकृतिमतुलां ते लौकिकैश्वर्यहीनः
कथमिव खलु दीनो देव निष्क्रेतुमीशः ।
इति तनुमनसो मे श्रीमतामीशितृत्वं
समुपहृतमिदानीं तल्लवंगैः पदाब्जे ॥९८॥

लौकिक ऐश्वर्य से हीन यह दीन बालक भला किस प्रकार आपके अतुल उपकारों से उऋण होसकता है ? इसलिये मेरे तन-मन पर आप का ही स्वामित्व है। मैं इस समय लौंगों के साथ उसी को आपके चरणकमलों पर भेंट धर रहा हूँ ॥ ९८ ॥

प्रमुदितमनसैवं श्रद्धयाऽऽभाष्य शिष्यं
गुरुवरपदकंजे मञ्जुले प्राणतं तम् ।
प्रणयपुलकितांगः सन्निधायोत्तमांगे
करकमलमवोचद्देशिकेन्द्रस्तदीये ॥९९॥

इस प्रकार अतिप्रसन्न मनसे श्रद्धा सहित पवित्र गुरुचरणों पर प्रणत हुए उस शिष्य के मस्तक पर प्रेम पुलकित हृदय से गुरुने हाथ रखकर कहा कि- ॥ ९९ ॥

न सौम्य ! वाञ्छामि सुवर्णदक्षिणां
प्रयच्छ मे जीवनमेव केवलम् ।
स्वदेशधर्मोद्धरणाय वत्स ! ते
यतो नियुंजीय तदाश्रुतं कुरु ॥१००॥

हे सौम्य पुत्र ! मैं सोने चाँदी की दक्षिणा नहीं चाहता, मुझे तू केवल अपना जीवन प्रदान कर; जिससे कि हे पुत्र ! मैं तेरे जीवन को स्वदेश एवं स्वधर्म के उद्धार में लगाऊँ। इसलिये तू अपने जीवनदान की प्रतिज्ञा कर ॥ १०० ॥

समर्पितं श्रीचरणे स्वजीवनं
नियोज्यमेनं विनियोजयेद् यथा ।

वशंवदोऽयं प्रयतिष्यते तथा
विचारणीया न गुरो र्निदेशना ॥१०१॥

मैंने आपश्री के चरणोंपर अपना जीवन समर्पण कर दिया। आप इस आज्ञाकारी शिष्य को जिस कार्य में लगाना चाहें लगावें क्योंकि गुरु की आज्ञा में विचार का अवकाश नहीं होता ॥ १०१ ॥

उत्साहपूर्णां निजशिष्यवाणीं
निशम्य दण्डी निजगाद तुष्टः।
अद्य श्रमैं में फलितं नितान्तं
सत्पात्रदत्ता फलतीह विद्या ॥१०२॥

उत्साह से भरी अपने शिष्य की वाणी सुनकर दण्डीजी संतुष्ट होकर बोले—'सचमुच आज मेरा सारा परिश्रम फला। सत्पात्र में दी हुई विद्या सफल ही होती है ॥ १०२ ॥

स्वस्त्यस्तु ते याहि दिगन्तवृन्दे
वन्द्यर्षिसद्ग्रन्थनिबद्धविद्याः।
विद्योतय प्रोज्ज्वलवेदधर्म-
श्रीवैजयन्तीं लघु लासय त्वम् ॥१०३॥

तुम्हारा कल्याण हो। तुम जाओ। महर्षियों के सद्ग्रन्थों का, वेदविद्या का और उज्ज्वल वैदिक सिद्धान्तों का देश देशान्तरों में प्रकाश करो, और शीघ्र ही वैदिक वैजयन्ती फहरा दो ॥ १०३ ॥

वर्णाश्रमाचारपवित्रधर्मान्
प्रसार्य लोके चलिताः कुरीतीः।
निवार्य विद्यामहिमानमार्यान्
विबोध्य कृत्वा मनुजाञ्जयाशाः ॥१०४॥

वर्णों एवं आश्रमों के पवित्र धर्म को फैला कर संसार में प्रचलित कुरूढियों का नाश कर विद्या की महिमा बताकर आर्यों को जागृत करो और दिग्वजयी बनो ॥ १०४ ॥

प्राणार्पणेनापि पवित्रधर्म-
प्रसारणां त्वं कुरु वत्स ! कामम् ।
परोपकाराय वपुस्तवेदं
समर्प्यतां सा गुरुदक्षिणेति ॥१०५॥

हे वत्स, तुम्हें प्राण भी अर्पण करना पड़े तो भी तुम पवित्र धर्म को फैलाते रहना। तुम अपने शरीर को गुरुदक्षिणा के रूप में परोपकारार्थ समर्पण कर दो ॥ १०५ ॥

ओ३म् तीर्थवर्येति पदारविन्दे
प्रणम्रमौलिं विनिगद्य देवः ।
श्रीमान् दयानन्दसरस्वतीन्द्रो-
जेतुं दिगन्तान्स ततः प्रतस्थे ॥१०६॥

श्रीदयानन्दसरस्वतीने गुरु की आज्ञा सुनकर 'एवमस्तु' कहा, और उनके चरणों पर नतमस्तक हुए। पश्चात् वे दिग्विजय के लिये गुरुगृह से निकल पड़े ॥ १०६ ॥

गुरो निदेशे स्वशिरो विनामितं
समर्पितं जीवनमेव तत्क्षणम् ।
तदुत्तरे नैव विचिन्तितं मनाङ्
निदर्शिता सद्गुरुभक्तिरुत्तमा ॥१०७॥

दयानन्दने गुरु की आज्ञा पर अपना शिर झुका दिया और तत्क्षण ही अपने जीवन को समर्पित कर दिया। गुरुजी के गुरुदक्षिणा मांगने पर इन्होंने उत्तर में जराभी विलम्ब नहीं किया और अपनी आदर्श गुरुभक्ति का निदर्शन उपस्थित कर दिया ॥ १०७ ॥

प्राग् वैदिकानेहसि यावदायुः
कश्चिद्गुरोराश्रम एकशिष्यः ।
द्वित्रा विनेयाः कुहचिन्न्यवात्सु-
र्विद्यां पठन्तो गृहमेधितीर्थात् ॥१०८॥

प्राचीन वैदिक युग में किन्हीं किन्हीं गुरुओं के पास एक ही शिष्य जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करता था और किसी किसी गुरु के पास दो या तीन ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करते हुए निवास करते थे ॥ १०८ ॥

शुश्रूषमाणा ऋषिवर्यमेके
गाश्चारयन्तो विपिने भ्रमन्तः ।
निसर्गदेव्या अपि लब्धविद्याः-
सद्ब्रह्मचर्यं न्यवसँश्चरन्तः ॥१०९॥

और कुछ विद्यार्थी वैदिक युग में ऋषियों की सेवा-शुश्रूषा करते थे, उनकी गौओं को जंगलों में चराते थे और स्वतन्त्रतापूर्वक जंगलों में घूमते हुए प्रकृति देवी से ही ज्ञान प्राप्त किया करते थे। इस तरह अपना जीवन ब्रह्मचर्याश्रम में ही व्यतीत कर देते थे ॥ १०९ ॥

श्रीश्वेतकेतुप्रमुखा व्रतीन्द्रा-
गुरोः कुलेऽध्यैयत वेदविद्याः ।
इन्द्रो भरद्वाज इति प्रसिद्धा-
वाचेरतु ब्रह्म जनित्रयं तौ ॥११०॥

ऐसे शिष्यों में श्रीश्वेतकेतु आदि श्रेष्ठ ब्रह्मचारियोंने गुरुकुलों में रहकर वेदविद्याओं का अध्ययन किया था। प्रसिद्ध इन्द्र और भरद्वाज इन दोनोंने तो तीन जन्मतक ब्रह्मचर्य के पालन पुरस्सर ब्रह्मविद्या का अध्ययन किया था ॥ ११० ॥

अंके प्रकृत्या रुचिरे विशाला-
विद्यालयास्सद्गुरुपर्णशालाः ।
तरंगिणीनीरतरन्मरालाः
पुराऽभवन्मञ्जुरसालमालाः ॥१११॥

तपोधनारण्यचरत्कुरङ्गा-
निरन्तरं कुंजलसद्विहंगाः ।

पुष्पावलीगुञ्जदनन्तभृंगाः
प्रसंगतस्संगतसाधुसंगाः ॥११२॥

प्राचीन काल में प्रकृति देवी की निसर्ग सुन्दर गोद में विशाल विद्यालय हुआ करते थे, जिनमें श्रेष्ठ गुरुओं की पर्णकुटियाँ सुन्दर आम्रवाटिकाओं में हुआ करती थीं। जहाँ पर आसपासकी नदियों के स्वच्छ नीर में राजहँस कल्लोल किया करते थे, तपोवनों में हरिणों के झुण्ड चरा करते थे। अनेक प्रकार के पक्षीगण कुञ्जों में कलरव किया करते थे। असंख्य भृंगमालायें पुष्पावलियों पर गुञ्जन किया करती थीं और जहाँ समय समय पर साधुगणों का सत्संग भी हुआ करता था ॥ १११-११२ ॥

अगस्त्यकण्वर्षिवरोत्तमाश्रमाः
सहस्रशिष्यालिविभूषितोटजाः।
मखाग्निधूमावृतवायुमण्डला-
निजार्यभूमौ व्यलसन् युगे युगे ॥११३॥

साथ ही इस आर्यभूमि पर अगस्त्य और कण्व जैसे महर्षियों के विशाल आश्रम भी हुआ करते थे, जहाँ हजारों शिष्यों की पर्णकुटियाँ शोभित होती रहती थीं एवं जहाँ पर यज्ञाग्नि के धूम से वायुमण्डल घिरा रहता था ॥ ११३ ॥

काशीतक्षशिलाविशालमिथिलाश्रीविश्वविद्यालया-
नालन्दादिमहाविहारमणयो रेजु र्युगे मध्यमे।
नानाशास्त्रचणाः कलागमविदो विद्यार्णवाः पण्डिता-
येभ्यो निर्ययुरार्यसंस्कृतियुता विश्वम्भरावर्त्तिनः ॥११४॥

इस भारतवर्ष में मध्ययुग में भी काशी, तक्षशिला, मिथिला, नालन्दा, विक्रमशिला, उदन्तपुरी आदि विशाल विश्वविद्यालय एवं महाविहार विद्यमान थे। जिनमें पृथिवी भरके विद्यार्थी नाना प्रकार की विद्याओं और कलाओं में पारंगत होकर आर्य-संस्कृति के अभिमानी निकला करते थे ॥ ११४ ॥

येन व्याकृतिसूत्रमौक्तिकसरः प्राणायि लोकोत्तरो-
विद्वत्कण्ठविभूषणं सुरमनःसम्मोहनस्सुन्दरः।

सोऽयं पाणिनियोगिहंसविबुधो विद्यां यतो लब्धवान्
सेयं तक्षशिला कलागमखनिःस्याद्विश्ववन्द्यातुला ॥११५॥

योगिवर महर्षि पाणिनिने भी शास्त्र एवं कलाओं की खान, अनुपम विश्ववन्दनीय तक्षशिला विश्वविद्यालय में ही समग्र विद्याएँ प्राप्त की थीं। इन्होंने अष्टाध्यायी नामक संस्कृत व्याकरण के एक महान् ग्रन्थ-रत्न की रचना की थी। यह अष्टाध्यायी सूत्ररूपी मोतियों की माला है, जो विद्वानों के कण्ठों को अलंकृत करती है और उनके मनों को मुग्ध कर लेती हैं ॥ ११५ ॥

नन्दानैश्वर्यमत्तान्निजनयबलतो-
नाशयित्वाऽधिराज्ये,
मौर्यं श्रीचन्द्रगुप्तं धृतविनयगुणं
यो न्यधत्त द्विजेन्द्रः।
चाणक्यो मन्त्रिवर्यो नृपनयनिपुणः
सोऽर्थशास्त्रप्रणेता,
यस्यासीच्छात्ररत्नं जगति विजयते
विश्वविद्यालयोऽयम् ॥११६॥

राजनीति निपुण, कौटिल्यार्थशास्त्र के निर्माता, मंत्रीश्वर चाणक्य भी इसी विश्व-विद्यालय के छात्र-रत्न थे। इस द्विजराज ने अपने नीति-चातुर्य्य से ऐश्वर्यमत्त नवनन्दों का नाश करके साम्राज्यपद पर विनयशाली, महापराक्रमी, चन्द्रगुप्त मौर्य को बैठाया था। इस प्रकार के विश्वविद्यालय संसार में क्यों न गौरवशाली हों? ॥ ११६ ॥

नालन्दाशारदोर्व्या अनुपमविबुधः
शीलभद्रो यतीन्द्र-
स्तीर्थेन्द्राद्धर्मपालादधिगतविमल-
ज्ञान आचार्यमानम् ।

तत्रैवाप्त्वा स्वबुद्ध्याहृतगुरुहृदयो-
लब्धसम्राट्प्रतिष्ठो-
विश्वग् विद्याप्रतापं व्यतनुत नितरां
विश्वविद्यालयानाम् ॥११७॥

अनुपम विद्वान् भिक्षुवर शीलभद्रने नालन्दा विश्वविद्यालय के महाविहार में आचार्य्य धर्मपाल से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़कर अपने बुद्धि-बल से गुरु के हृदय को जीतकर, उसी विश्वविद्यालय में आचार्य के बहुमान पद को प्राप्त कर लिया था और सम्राट् हर्ष से प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। साथ ही संसार भर में नालन्दा की प्रतिष्ठा फैला दी थी ॥ ११७ ॥

कॅन्टो यथाऽभूद्दुरिवर्ष एष-
न्यायागमानां शुभतत्त्वदर्शी ।
न्यायेऽद्वितीयो वसुबन्धुरेवं
ख्यातस्तदाचार्य उदात्तसत्व: ॥११८॥

जैसे यूरोप में कॉन्ट तर्कशास्त्र के महापण्डित हो गये, वैसे ही भारत के नालन्दा विश्वविद्यालय में उदात्तसत्त्व आचार्य वसुबन्धु न्यायशास्त्र के अद्वितीय पण्डित थे ॥११८॥

अतीशरत्नाकरवासुदेव-
वागीश्वरश्रीरघुनाथमुख्याः ।
आचार्यवर्या अभवन्नमीषां
बुद्धिप्रभानन्दितविज्ञचित्ताः ॥११९॥

विक्रमशिला के आचार्य दीपंकर (अतीश) और द्वारपण्डित रत्नाकर (शान्ति) वागीश्वर कीर्त्ति, तथा मिथिला के नैयायिक रघुनाथ एवं नवद्वीप के पं० वासुदेव नामक महान् आचार्य हो गये। इन लोगोंने विद्वज्जगत् में अपने बुद्धिप्रभाव से विद्वानों के मनों को आनन्दविभोर कर दिया था ॥ ११९ ॥

इदानींतना विश्वविद्यालयास्ते
यथा सर्वतोभद्रशालाविशालाः ।

सुवप्रा महारामपद्माकरान्ताः
सहस्रैस्सतीर्थ्यैस्सुतीर्थैः परीताः ॥१२०॥

तथासँस्तदानीं महोद्यानवापी-
सभागारविद्यार्थिवासालिरम्याः ।
अनेकागमाध्यापनाचार्यपूताः
सदोदात्तचारित्र्यचन्द्राभिरामाः ॥१२१॥

वर्तमानयुग के ऑक्सफोर्ड, केम्ब्रिज आदि विश्वविद्यालय जैसे बड़े बड़े भव्य भवनों, उद्यानों, मार्गों, तालावों, एवं विशाल विशाल छात्रालयों की हारमालाओं से सुशोभित हैं तथा जिनमें हजारों विद्यार्थी एवं सैकडों अध्यापक अध्ययन–अध्यापन करते रहते हैं, वैसे ही मध्ययुग के नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला, नवद्वीप, मिथिला आदि विश्वविद्यालयों में भी बड़े बड़े सभा–भवन, छात्रावास, अध्यापक–सदन, उद्यान, बावड़ी, तालाव आदि रम्य रम्य साधन उपस्थित थे। उन में भी महाबुद्धिशाली, पवित्रचरित्र, अनेक विद्याओं में पारंगत आचार्य एवं विद्यार्थी रहा करते थे ॥ १२०–१२१ ॥

आर्यसंस्कृतिगंगाया अमृतोद्गमसुन्दरम् ।
विभग्नं यवनव्याघ्रैः सरस्वत्यास्सुमन्दिरम् ॥१२२॥

कालक्रम से दैववशात् आर्यसंस्कृति की पवित्र गंगा के सुन्दर अमृत के उद्गमस्थान इन सरस्वती के मन्दिरों को संस्कृति के शत्रु मुसलमान–व्याघ्रोंने नष्टभ्रष्ट कर दिया ॥१२२॥

बौद्धसंस्कृतिगन्धाढ्या साहित्योद्यानवाटिका ।
म्लेच्छशाखामृगैश्छिन्ना विद्याम्भोरुहदीर्घिका ॥१२३॥

बौद्ध संस्कृति से सुवासित, विद्याकमलिनी से अलंकृत, साहित्य की उद्यानवाटिका हा ! म्लेच्छ वानरों द्वारा छिन्न भिन्न करके उजाड़ दी गई ॥ १२३ ॥

ईश्वरानुग्रहैः प्राप्तो विरजानन्दसद्गुरुः ।
वेदविद्योदयायाद्धा दयानन्देन भारते ॥१२४॥

चिरकाल पश्चात् पुनः ईश्वर की कृपासे ब्रह्मचारी दयानन्दने भारत में फिर वेदविद्या के अभ्युदय के लिये विरजानन्द जैसे सद्गुरु प्राप्त किये ॥ १२४ ॥

आर्षादर्शं गुरुकुलममलं
ज्ञानं यस्मादधिगतमखिलम् ।
ब्रह्मज्ञानं प्रथयितुमवनौ
निष्क्रान्तोऽयं यतिरतिविनतः ॥१२५॥

स्वामी विरजानन्दजी का गुरुकुल आर्षविद्याओं के प्रचार के लिये था। जहाँ पर दयानन्दने आर्ष एवं वैदिकज्ञान संपादन किया और विद्याध्ययन के अनन्तर संसार में आर्षविद्याओं के प्रचार के लिये गुरु से नम्रता पूर्वक विदाई लेकर निकल पड़े ॥ ११५ ॥

इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य वटोदरार्यकन्या-
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षे
गुरुकुलनिवासो नाम दशमः सर्गः ।

एकादशः सर्गः

पूर्वस्मिन् समये हिताय जगतां मृत्युञ्जयस्याश्रमाद्
दिव्यागस्त्यमहामुने रघुकुलालंकारचूडामणिः ।
दिव्यास्त्रैस्समलंकृतो निरगमत् संग्रामपञ्चाननो-
रक्षःकुञ्जरपुञ्जमर्दनपटुः श्रीमैथिलीशो यथा ॥१॥

जैसे प्राचीन काल में मृत्युञ्जय दिव्य महामुनि अगस्त्य के आश्रम से रघुकुलरूपी अलंकार के रत्नसमान, संग्राम में पंचानन, राक्षसरूपी हाथियों के समूह को मर्दन करने में चतुर, मैथिलीपति रामचन्द्रजी दिव्यास्त्रों से अलंकृत हो कर जगत्-कल्याण के लिये निकले थे, वैसे ही—॥ १ ॥

नानाशास्त्ररहस्यशस्त्रनिचयप्रालंकृतात्मा व्रती
सत्योरश्छदवान् सुधर्मसुशिरस्त्राणो दिनेन्द्रप्रभः ।
विश्वव्याप्तमतान्तराघतिमिरच्छेदाय तीर्थालयाच्-
छास्त्रार्थप्रधनांगणं प्रमुदितः सम्प्राप्तवानात्मवान् ॥२॥

सूर्य के समान तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी, आत्मवान् ब्रह्मचारी दयानन्द अनेक शास्त्रों के रहस्यरूप शस्त्र-सामग्रियों से सुसज्जित, सत्यरूपी कवच को धारण कर, शिर पर धर्म का शिरस्त्राण पहनकर, प्रसन्नता से विश्व में फैले हुए अनेक मतमतान्तररूपी पापान्धकार के नाश के लिये गुरुगृह से निकल कर शास्त्रार्थरूपी रणांगण में आ गये ॥ २ ॥

यदुकुलमणिसूक्त्युत्साहितस्यार्जुनस्य
प्रतिधमनि यथोष्णं शोणितं शूरतायाः ।
अवहदृषिशरीरे तीर्थवाग्विद्युतां सा
ततिरतिरयशीला प्राणसंचारिणी द्राक् ॥३॥

जैसे यदुकुलमणि श्रीकृष्णचन्द्रजी के उपदेशामृत से उत्साहित अर्जुन की नस नस

में वीरता का उष्ण शोणित बहता था, वैसे ही गुरुवर विरजानन्दजी की प्राणसंचारिणी वाणीरूप विद्युत् से ऋषि दयानन्द की धमनियों में आर्यजाति के उद्धार का गरम रुधिर बहने लगा ॥ ३ ॥

वैरानलेर्ष्योत्कटधूममाला-
निरुद्धनिश्वासनिमीलिताक्षे ।
अवर्णकर्णेजपताकलंक-
प्रचण्डधूलौ चललोभवायौ ॥४॥
स्वार्थान्धदम्भीश्वरकल्पितानां
मतान्तराणां विकरालजन्ये ।
प्रवीणसेनेश इवैष तस्थे
वेदोक्तधर्मोद्धरणाय धीरः ॥५॥

वैराग्नि से उत्पन्न ईर्ष्या की उत्कट धूममाला के कारण दम घोटने वाले एवं आँखों को बन्द कर देनेवाले, निन्दा चुगलखोरीरूपी कलंक की प्रचंड धूलि से व्याप्त, लोभरूपी झंझावात से चलायमान, स्वार्थियों एवं दम्भियों के मठाधीशों से रचे गये मतमतान्तरों के भयंकर युद्ध में, धीर वीर दयानन्द वैदिक धर्म के उद्धार के लिये प्रवीण सेनापति की तरह डटे रहे ॥ ४–५ ॥

मनुष्यकल्याणमहासमीहा
श्रेयोर्थविद्येति स वारुणास्त्रे ।
आदाय दिव्ये मतसम्प्रहारे
मिथ्यामताग्निं शमितुं प्रतस्थे ॥६॥

स्वामीजी उस धर्म युद्ध में मनुष्यकल्याण की महती कामना एवं कल्याणकारिणी वैदिक ब्रह्म विद्यारूपी दो वरुणास्त्रों को लेकर इस मिथ्यामत रूपी अग्नि का शमन करने के लिये उपस्थित हुए थे ॥ ६ ॥

कालिन्दीपुलिनान्तिकेऽगेलपुरे श्रीरूपचन्द्रात्मज-
श्रेष्ठ्युद्यानकृतातिथीन्द्रनिलये स्वामी वसन्सुन्दरे ।

श्रद्धालून् रचयञ्जनान् सहृदयान् स्वीयोपदेशामृतैः-
कैलासादियतीनपि स्वचरितैः कीर्तिं वितेनेऽमलाम् ॥७॥

इस कार्य के लिये सब से पहले स्वामीजी आग्रे आये। यहाँ यमुना के किनारे शेठ रूपचंद के बाग में एक सुंदर अतिथि भवन इनके लिये बना दिया गया था। उसी में स्वामीजी रहने लगे थे। श्रद्धालु सहृदयों को वे उसी बाग में उपदेशामृत पान कराने लगे। स्वामीजी के सुन्दर चरित्र और उपदेश से श्री कैलासस्वामी आदि भी प्रभावित हो गये, इसलिये स्वामीजी की कीर्त्ति अत्यन्त फैल गई ॥ ७ ॥

अपूर्वगीतार्थविधानशैलीं
रसान्वितां सारमयीं मनोज्ञाम्।
श्रुत्वा दयानन्दमुनेः प्रमुग्धा
स्निग्धा प्रसन्ना जनतापि विज्ञा ॥८॥

स्वामीजी उन दिनों गीता की कथा किया करते थे। स्वामीजी की गीतार्थ करने की शैली बड़ी मनोहर, सारयुक्त और रसीली थी। विद्वान् लोग भी स्वामीजी की अर्थशैली पर मुग्ध हो गये थे, इसलिये इन पर खूब स्नेह रखने लगे ॥ ८ ॥

श्रीमान् सुन्दरलालसज्जनवरो धर्मात्मभक्तो यतेः
सत्रा मित्रयुगेन दर्शनकृते धर्मोपदेशश्रुतेः।
गीतां व्याकरणं रसेन पठितुं नित्यं ययावानतः
सत्संगे सुवचोऽमृतस्य च रुचिः पाने भवेत्कस्य नो ॥९॥

इस नगर में स्वामीजी के सुन्दरलाल नामक एक व्यक्ति बड़े ही भक्त थे, जो सज्जन और धर्मात्मा थे। ये दो मित्रों के साथ प्रतिदिन नियमपूर्वक स्वामीजी के दर्शन एवं धर्मोपदेश को सुनने के लिये आया करते थे और बड़ी नम्रता और भक्तिपूर्वक व्याकरण, गीता आदि ग्रन्थ पढ़ा करते थे। सत्संगति और सुवचनामृतपान में भला किसकी रुचि न होगी ? ॥ ९ ॥

योगक्रियामुदरमस्तकशुद्धिहेतोः
संशिक्ष्य तं गदविमुक्तमयं व्यधत्त।

देहात्ममानसविकारनिराकरिष्णु-
जिष्णु र्नृणां नु निपुणो भिषगेव सोऽभूत् ॥१०॥

सुन्दरलालजी के उदर में एक रोग था। उनको उन्होंने नेति, धोति आदि क्रियायें सिखाकर उन्हें रोगमुक्त कर दिया था। भला जो मनुष्यों के आत्मा और मन के विकारों को दूर करने में समर्थ हो, वह मनुष्यों के शारीरिक रोगों को दूर करने में क्यों नहीं समर्थ होगा ? ॥ १० ॥

सायं सदा पण्डितमण्डलीभि-
र्ग्रन्थान्तरालोचनमेष तेने ।
अखण्डयद् भागवतादिमिथ्या-
ग्रन्थानृतज्ञो मुनिरागमज्ञः ॥११॥

वेदशास्त्र के पारंगत तथा सत्य तत्व के विज्ञाता दयानन्दजी प्रतिदिन सायंकाल पण्डितमण्डली के साथ अनेकों ग्रन्थों की आलोचना किया करते थे और भागवत आदि पुराणों को मिथ्या बताकर खंडन किया करते थे ॥ ११ ॥

ऋग्वेदमंत्रार्थविचारमार्ष-
प्रज्ञानशैल्याऽकृत योगिराजः ।
सन्ध्ये समाधौ प्रहरत्रयं स
कदाचिदस्थान्नियमेन चोभे ॥१२॥

उन्हीं दिनों योगीश्वर दयानन्द आर्षशैली के अनुकूल ऋग्वेद की ऋचाओं पर विचार किया करते थे। कभी कभी दोनों समय तीन तीन पहर तक समाधि में लीन रहा करते थे ॥ १२ ॥

वेदार्थशंकां गुरुदेवपार्श्वं
गत्वा निरास्थद्दलतश्च जातु ।
गूढार्थतत्त्वावगमप्रभूत-
प्रभूतहर्षोऽस्य कथं नु वर्ण्यः ॥१३॥

जब जब इन्हें वेदार्थ करने में शंका होती थी, तब तब कभी पत्र द्वारा और कभी स्वयं ही उपस्थित होकर गुरुवर विरजानन्द से गूढार्थ जान लिया करते थे। पश्चात् उन्हें जो आनन्द होता था, उसे क्योंकर वर्णन किया जा सकता है ॥ १३ ॥

अथैकदा ध्याननिमीलिताम्बकः
प्रभातकाले प्रभुभक्तपुंगवः ।
कलिन्दकन्यातटकान्तकानने
निबद्धपद्मासनतो निषेदिवान् ॥१४॥

एकवार प्रभुभक्त शिरोमणि स्वामीजी यमुना नदी के सुन्दर तटवर्ती बन में उषाकाल में पद्मासन लगाकर समाधि में बैठे थे ॥ १४ ॥

तदा कल्ये पूर्वं रविकररुचि व्योमसरसि
ततानां मुक्तानां रुचिरसरशोभामकलयत् ।
शनैः पश्चात् सेयं विविधमणिवर्णाञ्चिततनुः
प्रभां रंगावल्या अजनयदहर्द्वारपुरतः ॥१५॥

उषादेवी के प्रस्थान के समय व्योम-सरोवर में सूर्य की प्रथम किरण की कान्ति ने फैली हुई मोतियों की मालाओं की शोभा को धारण किया, और धीरे धीरे उस कान्तिने आगे बढ़कर दिवसरूपी द्वार के आगे अनेक रत्नों के वर्णों से रञ्जित स्वस्तिक सर्वतोभद्रादि मंगलकारक रंगावलियों से मनोहर शोभा की वृद्धि की ॥ १५ ॥

उषादेवी कान्तं कनककलशं पाणिकमले
समादायायासीन्न्वरुणकिरणं कुंकुमभृतम् ।
अनिन्द्या कालिन्द्या विमलजलवारे रुचिकरे
विधातुं सा लीलां मधुरजलदेव्याऽरुणरुचा ॥१६॥

संध्यादेवी अनिन्द्य कान्ति धारण कर अपने कर कमलों में लाल किरणरूप कुंकुम से भरे सूर्यरूपी स्वर्णकलश को लेकर मनोहर कालिन्दी के निर्मल जल में आ उपस्थित हुई, और लाल किरणों से रञ्जित जलदेवी के साथ क्रीड़ा करने लगी ॥ १६ ॥

सन्ध्यादेव्यास्स्वागतं कर्त्तुमायात
सा रम्योषा हर्षिताम्भोजहस्ता ।
व्योमक्षौमं संवसाना दिनादौ
प्राच्यां मन्ये कुंकुमक्षोदशोणम् ॥१७॥

सुन्दरी उषादेवी पूर्व दिशा में कुंकुम जैसी लाल आकाश रूपी साड़ी पहन कर हाथों में विकसित कमल एवं पुष्पमाला लेकर मानों प्रातःकालीन संध्यादेवी का स्वागत करने के लिये उपस्थित न हुई हो ! ॥ १७ ॥

कीर्णं स्वकुंकुमरजो दिनराजकुंभा-
दादाय वासरमुखे ह्युषसाऽग्रलक्ष्म्या ।
संपत्य वारिणि सहस्रमरीचिपुत्र्या-
नूनं तदेव नभसो रुचिरं विरेजे ॥१८॥

अवर्णनीय कान्तिशालिनी उषादेवीने सूर्यरूपी घट में से लाल किरणरूपी अबीर गुलाल लेकर दिनके वदन पर उड़ाया । मानों वही उड़ाया हुआ गुलाल सूर्य की पुत्री यमुना के जल में चमक रहा था ॥ १८ ॥

अम्भोजिनीशकिरणैरभवत्प्रफुल्लं
नेत्रारविन्दयुगलं मुनिमण्डनस्य ।
प्राभातिकीं स सुषमां हृदयंगमां तां
दृष्ट्वा नुनाव विभुवेदगिरः क्रमेण ॥१९॥

कमलिनी—कान्त प्रभाकर की किरणों से मुनियों में अलंकार रूप दयानन्द के नेत्रारविन्द खिल गये । अर्थात् मुख पर सूर्य किरण पड़ते ही उनकी समाधि खुल गई और प्रभातकालीन मनोहर सृष्टि—सौन्दर्य देखकर स्वामीजी क्रम से ईश्वर, वेद तथा सरस्वती की स्तुति करने लगे ॥ १९ ॥

आविर्भूतं भवति भुवने वाङ्मयं ज्योतिरेकं
भूयो भूयो यदतुलमलं ब्रह्मणः सर्गकालम् ।

दिव्यं देव्यां सुरगिरि यतस्तं गिरामिन्द्रमेनं
तत्तज्ज्योति गिरमपि तथा तां ववन्दे मुनीन्द्रः ॥२०॥

संसार में सृष्टि के प्रत्येक प्रारम्भ काल में जिस ब्रह्म से अमल, अतुल एवं दिव्य वाङ्मय ज्योति, देववाणी में प्रकट हुआ करती है, उस वाणी के स्वामी, गुरुओं के गुरु, ज्योतिःस्वरूप परब्रह्मका, वेद एवं सरस्वती का मुनीन्द्रने इस प्रकार वन्दन किया ॥२०॥

अणीयसे ते जगदीश्वराय
महीयसेऽनन्तगुणालयाय ।
विश्वम्भरायाघविनाशकाय
देवाय चार्हाय नमोऽनिशं मे ॥२१॥

हे जगदीश्वर ! तुम अणु से अणु और महान् से महान् हो। तुम ही अनन्त गुणों के भण्डार हो। आप संसार का पालन पोषण करनेवाले हो। तुम ही पाप के विनाशक हो, इसलिये पूजनीय परमदेव, आपको मेरा वारंवार नमस्कार है ॥ २१ ॥

दयायास्त्वं सिन्धु र्निखिलजनबन्धु र्गुणनिधे !
दयावृष्टेस्सृष्टिं कृतसकलसृष्टि र्वितनुषे ।
अनन्ता ते शक्ति र्मम मनसि भक्तिर्दृढतमा
पितर्ब्रह्मानन्द त्वमव शरणं मामशरणम् ॥२२॥

हे गुणनिधे प्रभो आप दया के सागर, चराचर के बन्धु, दया के मेघ एवं संसार के रचयिता हो। हे वरमते पिता, ब्रह्मानन्दप्रदाता, आपकी शक्तियाँ अनन्त हैं। इसलिये आप में मेरी दृढ भक्ति है। आप मुझ अशरण की शरण प्रदान करके रक्षा कीजिये ॥२२॥

त्वयैतद् ब्रह्माण्डं विरचितमहो सर्वममितं
यदन्तर्बाह्यस्त्वं विभुवर परब्रह्मविमलम् ।
प्रभो सर्वव्यापिन्नतुलबलशालिन् जनिमतां
सतां स्वामिन् पाहि स्वशरणगतं मामशरणम् ॥२३॥

भगवन् ! आप सारे ब्रह्माण्डों की रचना करके उन सबके अंदर और बाहर व्याप्त हो। अतः हे अनन्त बलशालिन् सर्वान्तर्यामिन् स्वामिन् ! आपके शरणापन्न इस जन की आप रक्षा करें ॥ २३ ॥

दिवा भास्वान् सूर्यो दिवि निशि निशेशो भगवता
प्रकाशार्थं दीपाविव सकललोकस्य रचितौ ।
अनन्तस्यानन्तोऽतुलमहिमशक्तेश्च महिमा
विचित्रो येनेमौ परमपुरुषेणेह रुचिरौ ॥२४॥

हे देव ! आपने दिन में सूर्य और रात में चन्द्रमा को चराचर के प्रकाश के लिये महान् दीपक के समान बनाया है। आप की महिमा अतुल तथा अद्भुत है ॥ २४ ॥

चिदानन्दं ब्रह्माजरममरमीशं यतिपतिं
शरण्यं विश्वेषां गुरुवरवरेण्यं श्रुतिकृतम् ।
अहं त्वामेम्यस्मात्सकलजनपातारममलं
सदा शुद्धात्मानं शरणमघहारिन् कुरु दयाम् ॥२५॥

हे पापों के विनाशक सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन् । आप अजर, अमर, नित्य शुद्धबुद्ध, वेदोत्पादक, संसार के महान् गुरु एवं महान् रक्षक हो। आप दया करके शरणार्थी इस जनकी रक्षा कीजिये ॥ २५ ॥

जगन्नाथानाथं लसदमलकीर्त्ते कविपते !
निदानं संसारस्थितिविलयसर्गस्य बुधराट् ।
इमं संसाराम्भोनिधिसमयनक्रैः कवलितं
पितस्त्रायस्व त्वं त्रिभुवनपते दुःखनिधितः ॥२६॥

हे जगन्नाथ त्रिभुवनपते ज्ञानस्वरूप पिता, आपकी शुद्धकीर्त्ति संसार में चमक रही है। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के आप ही एक मात्र कारण हैं। संसार के दुःखसागर में कालरूपी मगरमच्छों से ग्रसित इस भक्तजन की आप रक्षा कीजिये ॥ २६ ॥

मनोगताज्ञानतमांसि नाशयन्
नृणां सुकर्माम्बुरुहाणि हासयन् ।
द्विजावलीवर्णितवर्णमण्डलः
कवीन्द्रकर्णाभरणाग्रकुण्डलः ॥२७॥

अनन्तलोकान्तरलोकलोचनो-
भयंकराघावलिदुःखमोचनः ।
कलाग्रविद्यागुणरत्नसागरो-
विराजते भूदिवि वेदभास्करः ॥२८॥

ईश्वरस्तुति के पश्चात् ऋषिवर वेदस्तुति करने लगे । अहा ! भारतवसुन्धरा के आकाश में वेदभास्कर उदित हो रहा है, जो हृदय के अज्ञानान्धकार को नाश कर के मनुष्यों के सत्कर्मरूपी कमलों को विकसित करता है । विप्रगणरूपी विहंगमाला से सूर्य-सम वेदभगवान् का यशोगान किया जा रहा है । भगवान् वेदभास्कर कवीन्द्रगण के लिये कर्णाभरण हैं । अनन्त लोकलोकान्तरों की जनता का यह वेद—सूर्य ज्ञानचक्षु है, भयंकर पापपुञ्ज के दुःख का संहारक है । उत्तम विद्या, कला आदि गुणरत्नों का रत्नाकर है ॥ २७—२८ ॥

महेश्वरान्तःकरणाब्धिचन्द्रिका
सरस्तनुर्योगिविहंगमाश्रया ।
सुमन्त्रमुक्ताशनहर्षितात्मभि-
र्मनीषिहंसैरनिशं निषेविता ॥२९॥

सुसभ्यतासंस्कृतिनिर्गमेन्द्रदिक्
सुधर्मगंगासलिलोद्गमस्थली ।
मनोज्ञयज्ञद्रुमनन्दनावनी
न कस्य वन्द्या जननी श्रुतीश्वरी ॥३०॥

महेश्वर के हृदयसागर की चन्द्रिकास्वरूपा, योगीरूप पक्षियों की शरणदात्री सरसी (तालाव) सी, सुन्दर मंत्ररूपी मोतियों के आस्वादन से प्रसन्नात्मा मनीषी–हंसों से निरन्तर सेविता, उत्तम सभ्यता एवं संस्कृति के उदय की पूर्वदिशा, श्रेष्ठ धर्मरूपी गंगा की उद्गमस्थली, मनोहर यज्ञरूपी वृक्षों के लिये नन्दनवाटिका सी ऐश्वर्यवती भगवती श्रुतिमाता किसके लिये वन्दनीय नहीं है ? ॥ २९–३० ॥

संजीवनौषधिलतेव गुणाभिरामा
संसारतापगदभक्षणदक्षवीर्या ।
देवासुरैः सुमनुजैः सममेव सेव्या
लोकोपकारकरणाय धृतावतारा ॥३१॥

विद्यापयोधरवतीव पयस्विनीयं
विज्ञानदुग्धपरिपुष्टबुधाभिवन्द्या ।
श्रीब्रह्मणा विरचिता प्रतिसर्गवेलं
वेदेश्वरी विजयते निखिलेष्टदात्री ॥३२॥

गुणशालिनी संजीवनी औषधि की लतासी, संसार के तापत्रय और रोगों के नाश करने में अमोघ वीर्यवती, देवों, असुरों एवं मनुष्यों से समानरूप ही सेवनीय, मानों लोकोपकार के लिये ही चतुर्विध रूपधारिणी, विद्यारूपी दूध को धारण करनेवाली कामधेनु सी, विज्ञानरूपी दुग्ध से परिपुष्ट विद्वज्जनों से वंदनीय, प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मदेव से प्रकट होने वाली, सम्पूर्ण सिद्धियों की दात्री, भगवती वेदमाता का जयजयकार हो रहा है ॥ ३१–३२ ॥

स्मृतीनां सर्वस्वं भवजलधिगानां सुतरणिः
शरण्या पुण्यानां सुविमलमतीनां गलमणिः ।
सुविद्यारत्नानां खनिरशनिरेषाऽनृतजुषां
गिरां भूषा कर्णाभरणमिह माता श्रुतिरहो ॥३३॥

अहा ! श्रुतिमाता समग्र स्मृतियों का सर्वस्व, संसार–सागर में निमग्न जन के लिये नौका, पुण्यों की शरणदात्री, पवित्र बुद्धिवालों की कण्ठमाला, श्रेष्ठ विद्यारत्नों की खान, अनृतसेवियों के लिये वज्र, वाणी का अलंकार और कर्णों का आभरण है ॥ ३३ ॥

यां गीर्वाणाः प्रकृतिविमलां सुन्दरीं सेवमाना-
वाणीर्वीणां रणितनिगमां लीलयानन्दयन्तीम् ।
गायत्रीभिः सुभगमधुरं त्वामुपश्लोकयन्ती-
मानन्दन्ति प्रवरमतयस्तामहं नौमि देवीम् ॥३४॥

वेदस्तुति के पश्चात् ऋषिवर सरस्वती–विद्यादेवी की वन्दना करते हैं :

सरस्वती स्वभाव से निर्मल, एवं सर्वोपरि सुन्दर है, यह वाणीरूपी वीणा से स्वाभाविक रूप से वेदों को गाती हुई गायत्री आदि छन्दों द्वारा सुभग मधुर ईश्वर की स्तुति करती है। इस सरस्वती की सब देवगण उत्कृष्ट बुद्धि की प्राप्ति के लिये सेवा करते हैं। उसी सरस्वती की मैं भी स्तुति करता हूँ ॥ ३४ ॥

सरस्वति कथं स्तवं रचयितुं तवाहं प्रभुः
प्रभूतमसकृद् यतोऽसि निगमैस्सुगीतस्तवा ।
तवांघ्रियुगलारविन्दमकरन्दवृन्दं सदा
सदानतसुरै र्मुदा रसयितुं मिलिन्दायितम् ॥३५॥

हे देवी वाणी, मैं तेरी स्तुति करने में कैसे समर्थ होऊँ? जब कि अखिल वेद वारंवार अनेकों मंत्रों द्वारा तुम्हारी स्तुति करते हैं और विनम्र देवगण आनन्द से तुम्हारे चरणारविन्द के मकरन्द का भ्रमर बनकर निरन्तर पान करते हैं ॥ ३५ ॥

वन्दारुवृन्दारकवन्दनीये !
योऽयं प्रयासः स्तवने त्वदीये ।
भक्तेः प्रकाशाय मनोरमायाः
शक्ते र्विकासाय मनोहरायाः ॥३६॥

वंदनशील देवगणों से वन्दनीय हे सरस्वती, तुम्हारी स्तुति के लिये जो मेरा यह प्रयत्न है, वह केवल मेरी हार्दिक भक्ति के प्रकाश एवं शक्ति के विकास के लिये है ॥३६॥

जयदेवि ! दिव्यसरस्वति ! प्रभुवक्त्रपंकजसम्भवे !
कविहंसकुलकुलदेवते ! श्रुतितन्त्रमन्त्रसहोद्भवे ! ।
भवसौख्यसिन्धुतरङ्गिणी नवनव्यमंगलकारिणी !
जनतापपापविनाशिनी जनतानतान्तरनन्दिनी ॥३७॥

हे देवी दिव्य सरस्वती, हे प्रभु के मुख कमल से उत्पन्न वाणी ! हे कविश्रेष्ठों की कुलदेवता ! वेदशास्त्रों के मन्त्रों की सहोदरा ! तुम सुखसागर की ओर लेजाने वाली नदी हो, नये नये मंगलों को करने वाली हो, मनुष्यों के संताप एवं पापों का विनाश करने वाली हो, और भक्तिनम्र जनता के मन को प्रसन्न करने वाली हो ॥ ३७ ॥

वाग्देवि ! त्वं ललितललितं मंजुलं निक्वणन्ती
पाणौ वीणामिव नु दधती पञ्चमं वादयन्ती ।
वाग्भिर्भासि श्रवणसुभगं नैगमीभिः सुधां तां
सिञ्चन्ती मे हृदि नु सततं नन्दयन्ती मनो मे ॥३८॥

हे वाग्देवी ! तुम अतिसुन्दर कर्णसुखकारी आवाज करती हुई, मानों हाथों में वीणा धारण कर पंचम राग अलापती हो, और मंत्रमयी वाणी से मेरे हृदय में अमृत सिंचन कर, निरन्तर मन को आनन्द प्रदान करती हुई प्रकाशित रहती हो ॥ ३८ ॥

शैलेन्द्रादिव शास्त्ररत्नभवनान्मन्दाकिनी पावना-
न्मन्द्रामन्दमियं यथामृतकुलैराह्लादयन्ती भुवम् ।
आस्माकं हृदयं वचोभिरमलै र्विख्यातहंसादृता
मातर्देवि सरस्वति प्रवहसि प्राग्वेद वेदादहो ॥३९॥

हे माता सरस्वती देवी ! जैसे गंगा, रत्नों के आकर पावन शैलराज से निकलकर अपने निर्मल जल से पृथ्वी को पवित्र करती हुई, अपने तटवर्ती हंसों से सम्मानित हो गम्भीरतापूर्वक निरन्तर बहती रहती है, वैसे ही तुम शास्त्रों के भंडार पवित्र वेदों से निकलकर पवित्र वचनामृत से जनता के हृदय को आनन्दित कर परमहंस परिव्राजकों से आदर पाती हुई अनादिकाल से मानव हृदयरूपी भूमि पर बह रही हो ॥ ३९ ॥

वेदा एते ब्रह्मणो ब्राह्मि देवि !
त्वं वेदेभ्योऽजायथा अम्ब नूनम् ।
त्वत्तस्सर्वा व्यर्थगर्वाञ्चितास्ता-
भाषा जाताश्चित्रमेता विचित्राः ॥४०॥

हे ब्राह्मीदेवी ! ये वेद ब्रह्मा से उत्पन्न हुए और हे माता, तुम वेदों से उत्पन्न हुई हो, एवं तुम से ये सारी भाषायें पैदा हुई हैं, तो भी आश्चर्य है कि ये भाषायें व्यर्थ ही अपने भिन्न अस्तित्व का गर्व धारण कर रही हैं ॥ ४० ॥

योगिज्ञानीन्द्रकर्मीश्वरहृदयभुवं पावयन्ती पवित्रैः
कर्मज्ञानोत्तमोपासनविषयजलै ब्रह्मणो निःसरन्ती ।
मातर्गीर्वाणवाणि ! प्रकटकलरवा प्रोल्लसत्कीर्त्तिचन्द्रा
नूनं गंगा त्रिलोक्यां प्रवहसि तिसृभिः स्रोतसां पंक्तिभिस्त्वम् ॥४१॥

हे ब्रह्मसुता माता गीर्वाणवाणी। तुम योगियों, ज्ञानियों और कर्मकाण्डियों के हृदयस्थल को पवित्र उपासना, ज्ञान और कर्मरूप पवित्र जलों से पावन करती हुई, तीनों लोकों में तीन धाराओं द्वारा कलकल मधुर ध्वनि करती हुई, अपनी कीर्ति-चद्रिका को छिटकाती हुई सचमुच त्रिपथगा गंगा ही हो ॥ ४१ ॥

क्वचिद्गम्भीरान्तर्गहनविषयाच्छादिततटी
जटीन्द्रैर्धीवर्य्यैरसकृदवगाढाऽऽमिषफलम् ।
क्वचिन्मन्दस्नेया विशदरसरम्या रुचिकरा
स्रवन्तीवाम्ब त्वं जयसि विबुधानन्दिनि सदा ॥४२॥

हे देवरूपी हँसों की आनन्ददायिनी गंगासदृशी माता सरस्वती ! कहीं कहीं गंभीर और गहन विषयरूपी जलों से पूर्ण तटवाली, इसलिये जटाधारी विद्वान्रूपी धीवरों से निरन्तर तत्वरूपी मांसकी प्राप्ति के लिये आलोडित होनेवाली और कहीं कहीं साधारण बुद्धिवालों से अवगाहन करने योग्य, स्पष्ट नवरसरूपी जल से सुन्दर एवं रुचिकर होने से तुम विजयशालिनी हो ॥ ४२ ॥

आरुह्याम्ब प्रतनुविमलं शेमुषीनौविमानं
त्वत्कल्लोलामृतजलकुलेऽमन्दमान्दोल्यमानम् ।
त्रैलोक्यस्थो मुनिवरगणो देवि कैवल्यकामः
सौख्याम्भोधिं गुणमणिनिधिं विन्दते देवदेवम् ॥४३॥

हे देवि ! तीनों लोगों के मुमुक्षु देवगण, सूक्ष्म एवं विमल बुद्धिरूपी नौ-विमान पर चढ़कर विचाररूपी तरंगों के अमृतमय जलप्रवाह में अवगाहन करते हुए, गुणरूपी रत्नों के निधि, सुख के सागर, देवाधिदेव को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४३ ॥

दोधूयन्ते दिशि विदिशि ता वैजयन्त्यो बुधेन्द्रै-
र्वाङ्माधुर्यप्लुतसुहृदयैस्त्वत्पदाम्भोजभृंगैः ।
सान्द्रश्रद्धाभक्तिवचसा कीर्त्तयद्भिस्त्वदीयां
सम्पूर्णेन्दुप्रतिमधवलां कीर्त्तिमम्ब प्रकीर्त्याम् ॥४४॥

हे माता ! तुम्हारी वाणी की मधुरता से तरंगित-हृदय, तुम्हारे चरणकमल का भ्रमर सम विद्वान्गण, गाढ़ भक्तिसे सने वचनों द्वारा, तुम्हारी पूर्णचन्द्रतुल्य शुभ्र कीर्तनीय कीर्त्ति का कीर्त्तन करता हुआ सब दिशाओं में विजय वैजयन्ती फहरा रहा है ॥ ४४ ॥

रुचिरगुणमणीनां कान्तिभी राजमानं
नवनवरसवृन्दैश्चान्दनैः सिच्यमानम् ।
जननि तव सुधाक्तं सुन्दरं मन्दिरं ते
कविकृतकलगीतं प्राप्य नन्दन्ति देवाः ॥४५॥

हे जननी ! सुन्दर ओज आदि गुणरूपी मणियों की कान्ति से जगमगाते हुए, आनन्ददायक नये नये नवरसरूपी चन्दन रसों से अभिषिक्त अमृतरूपी चूने से पुते हुए, कविजनों के मधुरगीतों से गुंजित तेरे सुन्दर मन्दिर को पाकर विद्वन्मण्डल प्रसन्न हो रहे हैं ॥ ४५ ॥

त्वत्साहित्यसुधापगातटभुवं श्रित्वा बुधेन्द्रा न के
वेदान्तोपनिषद्वचःसुमनसां किञ्जल्कजालान्वितम् ।

मातर्वान्तममन्दशान्तिपवनं संसेवमानाः सदा
स्वात्मानन्दरता भवार्त्तिरहिता भूता भवन्त्यञ्जसा ॥४६॥

हे माता ! तेरे साहित्यरूपी देवगंगा (अमृतनदी) के तट का आश्रय लेकर, सदा वेदान्त और उपनिषदों के सूक्ति-सुमनों के पराग से सुगन्धित शीतल मन्द समीर का सेवन करते हुए, कौन विद्वान् जल्दी ही संसारताप से मुक्त एवं आत्मानन्द में मस्त नहीं हुए, न होते हैं, न होंगे ? ॥ ४६ ॥

अये मातर्वाणि त्वमिव जयसि त्वं त्रिभुवने
गिरां वारां धारां वरममृतभाजां जलमुचाम् ।
प्रवर्षन्ती माला हृदयसरसीं तापललितां
निदाघान्ते तासामहह शमयन्तीव नृभुवाम् ॥४७॥

हे माता वाणी ! तीनों भुवनों में अकेली तुम ही अपने जैसी विजयिनी हो तुम्हारी उपमा तुम ही हो । जैसे ताप से संतप्त पृथिवी पर अमृतजल बरसाने वाली मेघमाला ग्रीष्मऋतु के अंत में प्रकट हो कर, जल बरसा कर सरोवरों को तृप्त एवं शान्त कर देती है; वैसेही तुम त्रिविध ताप संतप्त जनता के हृदय को अमृतमयी वाणी से तृप्त एवं शान्त कर देती हो ॥ ४७ ॥

वाल्मीकिः प्राक् कविकुलगुरु माननीयो महर्षि-
र्लोकालोक्यां सुरगिरमिमां लौकिकच्छन्दसा त्वाम् ।
सारस्निग्धै र्मधुरमधुरै र्वाङ्मयैरर्चयन् सन्
प्रापल्लोके कविषु महतीं पूजनीयां प्रतिष्ठाम् ॥४८॥

प्राचीनकाल में कविकुलगुरु माननीय महर्षि वाल्मीकिने लौकिक छन्दों द्वारा इस सुरवाणी को, अतिमधुर, सारगर्भित काव्यों से अर्चन करते हुए लोक में प्रकाशित कर दिया, जिस से ये संसार में महती पूजा के पात्र बने ॥ ४८ ॥

भुवि भाभिरम्ब विभासितः कविभास एष विभासते,
कवितावितानविधायिनी कविकालिदासविलासता ।

भवभूतिरंग विभूतिमाँस्तव कीर्त्तिमेव ततान तां-
समपूजयन्नितरां गिरा कविभारविस्तव भारविम् ॥४९॥

हे माता, अपनी प्रतिभा की प्रभा से कविवर भास संसार में भासित हो रहे हैं। कविसम्राट् कालिदास की कविता–माधुरी कवितारूपी चँदौबा के तानने में अनुपम है। भवभूति की काव्य–विभूतियाँ भी तुम्हारी ही कीर्त्ति फैला रही हैं और कविवर भारवि ने तुम्हारी ही ओजस्विनी वाणी की अर्चना की है ॥ ४९ ॥

सति नरपतिरत्ने विक्रमादित्यवीरे
वररुचिनवरत्नं शासति प्राज्यराज्यम् ।
जननि वरमखण्डं ताण्डवं नाटयन्ती
वदनसदनरंगं प्रालसो मण्डयन्ती ॥५०॥

जब नृपतिवर वीर विक्रमादित्य विशाल साम्राज्य का शासन कर रहे थे, तब वररुचि आदि नवरत्न इन की राज्य–सभा में चमक रहे थे। उस समय हे माता! तुम प्रत्येक कवि के मुखरूपी भवन की रंगशाला को अखण्ड नृत्य से मण्डित कर रही थी ॥ ५० ॥

भोजे भूते जनपतिमणौ त्वत्पदाम्भोजभृंगे
ग्रामे ग्रामे विलसति बुधग्रामणीग्राम इत्थम् ।
त्वत्साहित्योपवनपवनै र्वीज्यमानो रसार्द्रै-
स्तप्तस्वान्तं शमयति भवक्लेशजालैः स्म लोकः ॥५१॥

तेरे चरण–कमल के भ्रमर राजशिरोमणि भोज जब राज्य कर रहे थे, तब एक एक ग्राम में विद्वानों की मण्डलियाँ विराज रही थीं। उस समय जनता भवताप से संतप्त अपने अंतःकरणों को वाङ्मयरूप उपवन के शीतल मन्द सुगन्धित समीरण से शान्त करती थी ॥ ५१ ॥

भाषोत्तंसे ! त्वदमृतसरः सूक्तिमुक्ताभिरामं
कामं काम्यं बुधवरगणा हंसलीलायमानाः ।
दुष्प्रापं तद् विमलमतयः प्राप्य ते पुण्यवन्तः
सन्तः सन्ति प्रथितयशसो धन्यधन्या अवन्याम् ॥५२॥

हे भाषाओं में भूषणरूपा देववाणी, हंस के समान आचरण करते हुए, पुण्यशाली विमलमति विद्वन्मण्डल, सूक्तिरूपी मुक्तावलियों से मण्डित, चाहने योग्य, तेरे दुर्लभ अमृत सरोवर को पाकर संसार में धन्य धन्य एवं यशस्वी बन रहे हैं ॥ ५२ ॥

इत्थं प्रसादगुणगुम्फितरम्यभावैः
पद्यैः प्रसाद्य मधुरैः सुरवन्द्यवाणीम् ।
पुण्यार्यभूमिजननीं जननीगुणज्ञः
प्रोवाच सान्त्वनमयीं शुभवाचमेवम् ॥५३॥

इस प्रकार महर्षि दयानन्दने प्रसाद–गुणयुक्त रम्य भावों वाले मधुर पद्यों से देव वन्दनीय देववाणी को प्रसन्न किया। पश्चात् जन्मभूमि के गुणों के ज्ञाता ऋषिवर पवित्र आर्यभूमि को उद्देश करके निम्न लिखित सान्त्वनादायक शुभवाणी से सान्त्वना देने लगे ॥ ५३ ॥

मातर्महेश्वरसमर्पितरत्नगर्भे !
पुण्यात्मरत्नजनयित्रि सुपुण्यभूमे ! ।
चारित्र्यवत्सलसुवत्सपवित्रितांगे !
त्वां के नमन्ति न जनाः सुपवित्रितांगे ! ॥५४॥

हे माता ! आप के अंदर जगत्स्रष्टाने पुष्कल रत्न भर दिये हैं। तुम पुण्यात्माओं की जन्मदात्री जन्मभूमि हो। तुम्हारी गोद को चारित्र्यशील पुत्रों ने पवित्र किया है, अतः तुम पवित्रांगिनी हो। इसलिये तुम किस की वन्दनीय नहीं ? ॥ ५४ ॥

मातः कथं तव मुखं मलिनांबुजश्रि
श्रीले तवाक्षियुगलं कथमश्रुवर्षि ! ।
गात्रं बिभर्षि कृशमंग कथं वदान्ये !
पश्यामि हा तव दशामतिशोचनीयाम् ॥५५॥

हे माता ! तुम्हारा मुखकमल कान्तिविहीन क्यों है ? आखें अश्रु–वर्षा क्यों कर रही हैं। हे दानशीले तुम्हारा शरीर कृश क्यों है ? हा ! इस समय तुम्हारी बड़ी शोचनीय दशा देख रहा हूँ ॥ ५५ ॥

मा त्वं विषीद जनयित्रि पवित्रवृत्ते !
स्वीयां निभाल्य कुदशां कुदशानभिज्ञे ! ।
कस्यानिशं भुवि दशा परिणामशीला
दृष्टा सुशीलवति ! सा सुनिबद्धमूला ॥५६॥

हे पवित्रचरित्रे जननि ! अपनी दुर्दशा देख कर खिन्न मत हो. हे सुन्दरशीले ! संसार में किसकी दशा एक सी रही है, जो तुम्हारी रहेगी ॥ ५६ ॥

जाता ऋषीन्द्रमुनिपुंगवविज्ञवर्या-
स्त्वय्येव देवि निगमागमतंत्रविज्ञाः ।
येषां यशोभिरमलैः समशोभि विश्वं
प्रागेव दर्शनकृतामधुनाऽपि रम्यम् ॥५७॥

हे जन्मभूमे ! निगमागम शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् ऋषिमुनि पुंगव पुरातन युग में तुम्हारी ही कोख से पैदा हुए थे, जो बड़े बड़े महान् दर्शनों के रचयिता थे और जिनकी पवित्र कीर्त्ति से आज भी सारा संसार शोभित हो रहा है ॥ ५७ ॥

शिक्षां तवैव समवाप्य गुणानभिज्ञा-
विज्ञा बभूवुरितरे नितरामसभ्याः ।
तां सभ्यतां समधिगम्य तवोपकण्ठान्-
मातः समुन्नतिपथं ययुरन्यदेशाः ॥५८॥

हे माता ! गुणदोष की परीक्षा से अनभिज्ञ, असभ्य विदेशी तुम्हारी ही शिक्षा एवं संस्कृति को पाकर उन्नति-मार्ग के पथिक बने ॥ ५८ ॥

प्रागम्ब सोऽश्वपतिभूपतिरात्मराज्ये
स्तेयं न मे जनपदे न कदर्यतास्ति ।
नाधार्मिकोऽपि जन एवमवेक्ष्यतां तद्
दर्पं चकार पुरतो विदुषामृषीणाम् ॥५९॥

हे माता ! पूर्वकाल में तुम्हारे गर्भ से अश्वपति जैसे राजा पैदा हुए थे, जो विद्वान् ऋषियों के आगे अभिमानपूर्वक कह सकते थे कि:—हे ऋषियो ! मेरे देश में चोरी, कृपणता, एवं अधार्मिकता आदि दोष नहीं है ॥ ५९ ॥

नो विद्यते नृपवरो धरणीतलेऽस्मि-
न्नित्थं प्रवक्तुमधुना प्रभुरेव कोऽपि ।
प्राप्तेऽपि सून्नतिपदं विषये स्वकीये
मात विषीदसि कथं त्वमये मुधैवम् ॥६०॥

हे माता ! आज इस विज्ञानयुग में भी प्राकृतिक उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ एक भी कोई देश नहीं है कि जहाँ का सम्राट् अश्वपति राजा की तरह अभिमानपूर्वक घोषणा कर सके । तो तुम आज अपनी इस अवनति के कारण व्यर्थ ही क्यों दुखित हो रही हो ॥ ६० ॥

जानाति किं न जननी जनकेश्वरं तं
राजर्षिवर्यमखिलागमदर्शनज्ञम् ।
वेदोदितेन सुपथा प्रकृतीरवन्तं
शान्त्या स्वराज्यममलं परितोषयन्तम् ॥६१॥

हे जननी ! क्या तुम राजा जनक को भूल चुकी हो, जो राजा होते हुए भी परम-शास्त्रज्ञ और ब्रह्मवेत्ता राजर्षि थे । ये राजा वेदानुकूल शुभमार्ग पर चलते हुए प्रजा को भी उन्नति-शिखर पर आसीन कराते थे, और इस प्रकार शान्ति से अपने स्वराज्य का शासन करते थे ॥ ६१ ॥

राजा प्रजा इव निजाः प्रकृतीः स मेने
प्राङ् मेनिरे नरपतिं पितरं प्रजाश्च ।
धर्मेण राष्ट्रमखिलं परिपालयन्त्स-
न्नादर्श एष समभूत्तव सन्ततीनाम् ॥६२॥

प्राचीनकाल में राजा लोग अपनी प्रजा को पुत्र की तरह मानते थे । प्रजा भी राजा को पितृतुल्य मानती थी । इस प्रकार धर्मपूर्वक अखिल राष्ट्र का पालन और संचालन होता था । यह था आदर्श तुम्हारी सन्तानों का ! ॥ ६२ ॥

आप्तस्त्वदंकमयि देवि स कृष्णचन्द्रः
पुत्रोत्तमो गुरुकुले कृतसंनिवासः ।
यस्याधुनापि सुयशोहरिणांक एष-
आनन्दयत्यतितरां वसुधामशेषाम् ॥६३॥

हे दिव्यमातृभूमि, आप ही के सुपुत्र श्रीकृष्णचन्द्रजी, जिन्होंने तुम्हारी गोद को शोभित किया था। ये सान्दीपन गुरु के आश्रम में रहकर संपूर्ण विद्या एवं कलाओं में निपुण हो गये थे। उनका यशश्चन्द्रमा अब भी सम्पूर्ण पृथिवी को आनन्दित कर रहा है ॥ ६३ ॥

सब्रह्मचारिणमयं नृपतिः सुदाम-
नामानमात्मगृहमागतवन्तमम्ब ! ।
दारिद्र्यदुःखविकलं कृतवान् प्रसन्नं
दत्वा धनादिकममुं निजबन्धुतुल्यम् ॥६४॥

सुदामा नामक ब्राह्मण भी श्रीकृष्णचन्द्र के साथ पढ़ते थे। गृहस्थ होने पर जब इन्हें दारिद्र्य ने आ सताया तब अपने बन्धु के समान सत्कारादि द्वारा धन देकर इन्हें श्रीकृष्णने संतुष्ट कर दिया था ॥ ६४ ॥

शिक्षैव सा गुरुकुलोषितवर्णिराजां
सम्पूर्णवेदविहितागमबोधभाजाम् ।
यन्मानवा अनुबभूवुरतीव सौख्यं
सर्वं जनं निजजनं भुवि मन्यमानाः ॥६५॥

सम्पूर्ण वेद एवं शास्त्रों के ज्ञान को धारण करने वाले गुरुकुलीय ब्रह्मचारीगण का तो यह आदर्श ही था कि वे संसार में मानव मात्र को निज जन ही मानते थे, और इसी कारण मानव जाति अतिशय सुख का अनुभव करती थी ॥ ६५ ॥

मातस्त्वया न जनिताः कति नाम पुत्रा-
विद्यावतां बलवतां गुणिनां वरेण्याः ।

यत्सन्निभा न जनिता भुवि कैश्चिदन्यै-
देंशैरतो वदनमिन्दुसमुज्ज्वलं ते ॥६६॥

हे माता मातृभूमि ! तुमने अनेकों बलवान्, गुणवान्, विद्वान्, संतानों को पैदा किया है, जिनके समान संसार में किसी देशने पैदा नहीं किये, इसलिये तुम्हारा मुख चन्द्रसम समुज्वल है ॥ ६६ ॥

ईदृक्षास्ते त्वयि समभवन् ब्रह्मचारीन्द्रसंघा-
येषामग्रे नृपतिमणयोऽप्यम्ब ! नम्रोत्तमांगाः ।
एतादृक्षे तव सति बले वन्दनीये ! प्रसोतुं
शोकग्रस्ता भवसि नु कथं पुत्ररत्नं नृरत्नम् ॥६७॥

हे वन्दनीय दिव्यभूमि, तुम्हारे में ऐसे २ श्रेष्ठ ब्रह्मचारी हो चुके हैं, जिन के आगे सम्राट् भी झुकते थे, ऐसे नरकेसरी पुत्ररत्नों के जन्म देने की शक्ति रखती हुई भी तुम क्यों शोकसागर में डूब रही हो ? ॥ ६७ ॥

वन्द्यार्यभूमिजननीगुणगानलीनो-
विश्वेशवेदसुरगीस्तवनात्तवीर्यः ।
वेदार्थतत्वमणिदातृगुरूत्तमानां
पुण्योपकारममलेन हृदाऽस्तुतायम् ॥६८॥

वन्दनीय जननी आर्यभूमि के गुणगान में लीन, ईश्वर, वेद एवं देववाणी के स्तवन से उत्साहित ऋषिवर, वेदों के अर्थ-तत्वरूप रत्नों के प्रदाता अपने गुरुदेव के पुण्य उपकारों को स्मरण करके भक्तिपुरस्सर स्तुति करने लगे ॥ ६८ ॥

आचार्यरत्नांघ्रियुगारविन्दं
वन्दे पवित्रं प्रमुदा प्रणम्रः ।
यस्य प्रसादात् प्रतिपद्य विद्या-
चिन्तामणिं मे सफलोऽवतारः ॥६९॥

मैं भक्ति से आनन्दपूर्वक आचार्य देव के पवित्र चरण–कमल–युगल की वंदना करता हूँ, जिन की कृपा से विद्यारूपी चिन्तामणि–रत्न पाकर मेरा जन्म सफल हो गया ॥ ६९ ॥

देहोद्भवं तौ पितरौ प्रदाय
देहस्य पुष्टिं कुरुतः परं ताम् ।
वितीर्य विद्यां गुरुरात्मनीना-
मात्मोन्नतिं ब्रह्मद आतनोति ॥७०॥

माता पिता तो जन्म देकर केवल देह का ही पालनपोषण करते हैं, किन्तु आत्म-कल्याणकारी ब्रह्मदाता गुरुदेव तो विद्याओं को प्रदान कर आत्मा की सर्वाङ्गीण उन्नति करते हैं ॥ ७० ॥

आर्षज्ञानमहादीपो मह्यं दत्तो महात्मना ।
पाखण्डिनां तमोग्रन्थान् येन नेष्ये प्रकाशताम् ॥७१॥

महात्मा विरजानन्दजीने मुझे आर्षज्ञानरूपी महान् दीप प्रदान किया है, जिस से पाखण्डियों के तमोमय ग्रन्थों को मैं प्रकाश में लाऊंगा ॥ ७१ ॥

ज्ञानरत्नाकरादात्मा लब्ध्वा मे मेघवद्रसान्
जनतोपकृतौ सज्जो जीवनार्पणनिर्णयः ॥७२॥

ज्ञान के महासागर समान गुरु से मेघसमान मेरा आत्मा रसरूपी जलों को ग्रहण करके जनता के उपकारार्थ जीवनरूपी जल के समर्पण के लिये निर्णय कर चुका है ॥ ७२ ॥

ज्ञानभानोर्ममाप्यासावात्मेन्दुः शास्त्रदीधितिम् ।
निर्वाणचन्द्रिकामाप्तो जगदानन्ददायिनीम् ॥७३॥

मेरा आत्मारूपी चन्द्र ज्ञान के सूर्यसमान गुरु से शास्त्ररूपी किरणों को पाकर जगदानन्ददायिनी मुक्तिचन्द्रिका को प्राप्त कर चुका है ॥ ७३ ॥

ब्रह्मतेजोबलं लब्धं ब्रह्मदाल्लोकशंकरम् ।
एकजीवनदानेन कथं स्यात्तस्य निष्क्रयः ॥७४॥

मैंने ब्रह्मदाता गुरुदेव से जगत्–कल्याणकारी ब्रह्मतेज प्राप्त किया है, तो एक जीवनदान से मैं उनका बदला कैसे चुका सकता हूँ ॥ ७४ ॥

यावज्जीवमहं लोके तदाज्ञापरिपालकः ।
यतिष्ये सत्यविद्यानां महिम्नां विस्तृतौ ध्रुवः ॥७५॥

मैं जीवनपर्यंत उनकी आज्ञा का पालन करता हुआ संसार में सत्यविद्याओं की महिमा के विस्तार करने में ध्रुव समान निश्चल हो कर यत्न करूंगा ॥ ७५ ॥

धर्मोद्धारमहायज्ञे हुत्वा स्वं जीवनं हविः ।
दक्षिणां गुरुदेवाय दास्यामि हृदयंगमाम् ॥७६॥

मैं वैदिकधर्मोद्धार रूपी महायज्ञ में अपने जीवनरूपी घृत–सामग्री को होम करके गुरुदेव को मनोनुकूल दक्षिणा दूंगा ॥ ७६ ॥

इत्यात्मना प्रतिज्ञाय ज्ञानदातु ऋणादयम् ।
मुक्तो भवितुमुत्सेहे दयानन्दो महोदयः ॥७७॥

इस प्रकार महा अभ्युदयशाली दयानन्द अपने अंतकरण में प्रतिज्ञा करके ज्ञान-दाता पिता के ऋण से मुक्त होने के लिये उत्सुक हो गये ॥ ७७ ॥

अथेशोपासनारीतिं प्रतिमार्चनखण्डनम् ।
बोधयन्न्यवसद् देवस्तदारामे शरद्द्वयम् ॥७८॥

पश्चात् आगरे में शेठ रूपचंद के उद्यान में निवास करते हुए स्वामीजीने वैदिक ईश्वरोपासना की रीति और मूर्त्तिपूजा–खण्डन आदि विषयों पर लोगों को उपदेश करते हुए दो वर्ष बिताये ॥ ७८ ॥

श्रुत्वा ग्वालियराधीशै रायोजितमसौ जपम् ।
योगी भागवतस्यायाद् राजधानीं महोत्सवाम् ॥७९॥

एक वार महाराजा ग्वालियर ने देवी भागवत के पारायण का महोत्सव किया था। इस में दूर दूर देशों से बड़े बड़े पण्डित भी बुलाये गये थे। इसलिये इस उत्सव में योगीश्वर दयानन्द भी आ गये ॥ ७९ ॥

आह्वास्त शास्त्रिणोऽजस्रं शास्त्रार्थाय सभाजिरे ।
परं वादिमृगेन्द्रस्य गर्जनाद् भेजिरे भयम् ॥८०॥

स्वामीजी सभा—आंगन में ही शास्त्रार्थ के लिये उत्सव पर आये । वे निरन्तर शास्त्रियों को आह्वान करते रहे, परन्तु वादियों में सिंहतुल्य स्वामीजी की गर्जना मात्र से वे भयभीत होकर भाग खड़े हुए ॥ ८० ॥

व्याख्यानेषु ततश्चायं लीलां भागवतीं यतिः ।
बोधयँल्लोकचेतांसि स्वानुकूलान्यकल्पयत् ॥८१॥

पश्चात् यतिराज दयानन्द ने अपने व्याख्यानों में भागवत लीला की पोल खोलते हुए, जनता को अपनी ओर आकर्षित कर लिया ॥ ८१ ॥

निर्भयस्य यमिनो वचोऽमृतं
वेदशास्त्रनयसंगतं हितम् ।
स्वीचकार जनता नतान्तरा
सत्यतां सुहृदया निपीय तत् ॥८२॥

निर्भय यतिवर के वेदशास्त्रानुकूल एवं न्यायसंगत हितकारी वचनामृत का सहृदय जनताने पान किया, और नतमस्तक होकर उनकी सत्यता को स्वीकार कर लिया ॥ ८२ ॥

ततः करौलीनृपराजधानीं-
प्रगम्य तद्राजसभाबुधेन्द्रान् ।
विजित्य वादे मुनिरल्पकालं
स भद्रवत्यास्तटमध्यवात्सीत् ॥८३॥

इसके पश्चात् स्वामीजी ग्वालियर से करौली नामक राजधानी को गये । वहाँ के राजपण्डित मणिराम आदि को स्वामीजी ने शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया और कुछ काल के लिये भद्रवती नदी के तटपर वास किया ॥ ८३ ॥

स्वामिना जयपुरं प्रयाय तत्
रामपुण्यविपिने यदा स्थितम् ।

ईश्वरात्मविषयेऽनुयुक्तवा-
नात्मवन्तममुमात्मधीर्यतिः ॥८४॥

यहाँ से स्वामीजी जयपुर आये और माली रामपुण्य नामक दारोगा के बाग में ठहरे। यहाँ आत्मवान् परमहंस गोपालानन्दजी ने स्वामीजी से आत्मा–परमात्मा के विषय पर अनेकों प्रश्न किये थे ॥ ८४ ॥

प्राप्य युक्तियुतमुत्तमोत्तरं
पाण्डितीप्रचुरमस्य योगिनः।
संगमीप्सुरवसत्स संयमी
संशयं निरसितुं मुदाऽन्तिके ॥८५॥

योगिराज स्वामीजी के युक्तियुक्त एवं पाण्डित्यपूर्ण उत्तम उत्तर पाकर, इन संन्यासी परमहंसने स्वामीजी की संगति की और आनन्दपूर्वक कुछ दिनों तक स्वामीजी के पास रहते हुए अनेक शंकाओं का निराकरण किया ॥ ८५ ॥

सेवार्थं ब्राह्मणास्तत्र स्वामिनो न्यवसंस्त्रयः
द्विजं स सच्चिदानन्दं सूर्यमन्त्रमुपादिशत् ॥८६॥

इस बाग में स्वामीजी की सेवा के लिये तीन ब्राह्मण रहते थे। उनमें से एक सच्चिदानन्द नामक ब्राह्मण था, जिसे स्वामीजीने सूर्यमन्त्र का उपदेश दिया था ॥ ८६ ॥

जयपुरेश्वररामनिमंत्रितः
श्रवणनाथविनेयमणिर्बुधः।
व्रजसुनन्दनमन्दिरमागतो-
यमिवरेण समं समभाषत ॥८७॥

जयपुराधीश महाराजा रामसिंहने श्रवणनाथ के शिष्यरत्न विद्वान् लक्ष्मणनाथ को बुलाया और द्वारकाधीश के मंदिर में श्रीलक्ष्मणनाथने यतिवर दयानन्द से बातचीत की ॥ ८७ ॥

सकलशास्त्रधुरन्धरतां मुने-
रथ यमीश्वरतां स विलोक्य तम् ।
विदितवैष्णवशैवकथाहवे
कविरयाचत वादसहायताम् ॥८८॥

लक्ष्मणनाथ मुनिवर दयानन्द की अखिल शास्त्रों में धुरन्धरता और संयमशीलता देखकर प्रभावित हो गये और इसीलिये भविष्य में होनेवाले शैवों और वैष्णवों के विख्यात शास्त्रार्थ-संग्राम में इन्हों ने स्वामीजी से सहायता की याचना की ॥ ८८ ॥

शास्त्रार्थसंगरे मां चेन्निमन्त्रयितुमिच्छथ ।
वित्त बुद्ध्यनुकूलं भो वक्ष्यामीत्यवदन्मुनिः ॥८९॥

स्वामीजी ने कहा कि यदि आप लोग मुझे शास्त्रार्थ में निमंत्रित करना चाहते हैं तो मैं तो अपनी बुद्धि के अनुकूल सचसच ही कहूँगा। यह आप लोगों को जान लेना चाहिये ॥ ८९ ॥

विद्वाँल्लक्ष्मणनाथोऽयं योगिवैदग्ध्यमोहितः ।
एवमस्त्विति वागीशनिश्चयं सोऽन्वमन्यत ॥९०॥

विद्वद्वर लक्ष्मणनाथ तो वागीश्वर दयानन्द के पाण्डित्य पर मुग्ध हो चुके थे, इसलिये इन्हों ने ‘ तथास्तु ’ कहकर वाग्मीश्वर दयानन्द के निश्चय को स्वीकार कर लिया ॥ ९० ॥

प्रश्नान् पञ्चदश स्वामी प्राहिणोत्पण्डितान्तिके ।
ऋते दुर्वचनात्तेभ्यो नैष लेभे तदुत्तरम् ॥९१॥

इसी बीच में स्वामीजी ने कुछ पण्डितों के पास पन्द्रह प्रश्न लिख भेजे। परन्तु उन पण्डितों की ओर से दुर्वचनों के सिवाय और कुछ भी उत्तर न मिला ॥ ९१ ॥

दुरुक्तिपत्रादपि देववाचः
प्रदर्श्य दोषानयमष्ट तेषाम् ।

प्रत्युत्तरं प्रेषितवान् प्रगल्भः
पदप्रबोधे प्रथितप्रभावः ॥९२॥

स्वामीजी व्याकरणशास्त्र में विश्रुत कीर्त्ति प्राप्त कर चुके थे। इसलिये प्रगल्भ दयानन्दने उन पण्डितों के संस्कृत में लिखे दुर्वचनपूर्ण पत्र में से आठ अशुद्धियाँ निकालकर उनके पास प्रत्युत्तर भेज दिया ॥ ९२ ॥

क्षुब्धं दलेनास्य दलं बुधानां
तदाऽऽह्वतेमं तनितुं विवादम् ।
व्यासानुरोधेन मुनिः सभायां
गत्वाऽजयत्तान् मतिकौशलेन ॥९३॥

इस पत्र से जयपुर का पण्डित–मण्डल क्षुब्ध हो उठा और इन लोगों ने स्वामीजी को शास्त्रार्थ के लिये आह्वान किया। बक्षीराम व्यास के अनुरोध से स्वामीजी सभा में पधारे और उन पण्डितों को अपनी बुद्धि की चतुराई से सहजही में हरा दिया ॥ ९३ ॥

विद्याभिमानिजिनभक्तगुरुं विवादे
जैनागमोदितमतैः प्रहितैस्स्वलेखैः ।
इन्द्रार्चितांघ्रिकमलो विमलान्तरंगो-
मौनावलम्बिनममुं व्यतनोन्मुनीन्द्रः ॥९४॥

बड़े बड़े ऐश्वर्यशालियों एवं विद्वानों से पूजित-चरण-कमल तथा पवित्रान्तःकरण मुनीन्द्र दयानन्द ने जैनियों के गुरु विद्याभिमानी जतीजी को जैन शास्त्रों के प्रमाणों से युक्त अपने भेजे हुए लेखों द्वारा शास्त्रार्थ में चुप कर दिया ॥ ९४ ॥

अथाचरौलाधिपकर्णभूषां
गताऽस्य कीर्त्ति विदुषां वरस्य ।
स्वसुन्दरोद्यानविशालशालां-
निषेवितुं प्रार्थित एष राज्ञा ॥९५॥

विद्वानों में श्रेष्ठ स्वामीजी की कीर्त्ति कुछ दिनों बाद अचरौल के ठाकुर रणजीतसिंह के कानों तक पहुँची। इसलिये इन्हों ने स्वामीजो को अपनी सुन्दर वाटिका में बने सुन्दर भवन में रहने के लिये प्रार्थना-पत्र भेजा ॥ ९५ ॥

बृहदारण्यकाद्यास्तास्तत्वोपनिषदः सदा ।
शुश्रुवुर्वीरराजन्याः श्रद्धयाऽस्माज्जगद्गुरोः ॥९६॥

जगद्गुरु दयानन्द रणजीतसिंह की प्रार्थना स्वीकार कर अचरौल आ गये और यहाँ बृहदारण्यक आदि सत्य उपनिषदों की कथा करने लगे। तब वीर क्षत्रिय लोग बड़ी श्रद्धा से स्वामीजी की कथा सुनने लगे ॥ ९६ ॥

अष्टाध्यायीं महाभाष्यं धातुरूपावलिं च सः ।
विपश्चित्पाठयामास विद्यार्थिगणमानतम् ॥९७॥

यहाँ विद्वद्वर स्वामीजी के पास भक्तिभाव से अनेक विद्यार्थी भी आते थे। स्वामीजी उन्हें अष्टाध्यायी, धातुरूपावली और महाभाष्य पढ़ाया करते थे ॥ ९७ ॥

भ्रमा विलीना हृदयस्य संशया-
लयं गताः सा प्रतिमार्चनाऽप्यहो ।
सुमार्गबोधोऽजनि भूभुजां सतां
फलं प्रसूते नहि किं समागमः ॥९८॥

यहाँ स्वामीजी के उपदेशों से क्षत्रियों के भ्रम नष्ट हो गये, हृदय के सारे संशय दूर हो गये, मूर्त्तिपूजा पर से श्रद्धा उठ गई और उन्हें सत्यमार्ग का बोध हो गया। अहा! सज्जनों की संमति क्या क्या फल नहीं पैदा करती है? ॥ ९८ ॥

इतो निलीनो नृपरामसिंहः
प्रसिद्धशास्त्रार्थरणप्रबन्धे ।
चमूपतिं लक्ष्मणनाथधीरं
शैवेषु वीरं विदधे जयेच्छुः ॥९९॥

इधर जयपुर में महाराजा रामसिंह विख्यात शास्त्रार्थ–समर के प्रबन्ध में लगे थे। जय की कामना से शैवों में अग्रगण्य विद्वान् लक्ष्मणनाथ को महाराजा ने शास्त्रार्थ–युद्ध का सेनापति बनाया था ॥ ९९ ॥

बक्षीरामकनीरामौ बुधावास्तां सहोदरौ ।
शैवशास्त्रार्थसंभारसभायाः सुप्रबन्धकौ ॥१००॥

बक्षीराम व्यास और कनीराम व्यास दोनों सगे भाई थे। राजाने इन्हीं दोनों को वैष्णवों के साथ होनेवाली शास्त्रार्थ–सभा की तैयारी के लिये व्यवस्थापक नियुक्त किया था ॥ १०० ॥

पण्डितैरादिसंवादे स्वामिनो बुद्धिवैभवम् ।
विद्यायाः विपुलं वीर्यं ताभ्यामासीत्परीक्षितम् ॥१०१॥

पण्डितों के साथ पहले जो स्वामीजी की बातचीत हुई थी, इससे इन्हों ने स्वामीजी के बुद्धिवैभव और विद्याचातुर्य्य की अच्छी परीक्षा कर ली थी ॥ १०१ ॥

शैववैष्णवशास्त्रार्थप्रबलायोधने मुनिः ।
सेनानीः सत्यसंनद्धो विदधे शैवसूरिभिः ॥१०२॥

इसलिये इन दोनों व्यवस्थापकों ने तथा शैव विद्वानों ने शैवों और वैष्णवों के प्रबल शास्त्रार्थ–संग्राम में सत्यकवचधारी दयानन्दजी को सेनापति पद पर नियुक्त किया ॥ १०२ ॥

अनीकिनीशो निरपेक्षवृत्तिः
संख्ये प्रवृत्ते समरानुरागी ।
स्वराष्ट्रसंबद्धसुराष्ट्रपक्षं
यथावलम्बेत नयेषु दक्षः ॥१०३॥

शैवं तथा वैष्णवसम्प्रदायाद्
वरं समालम्ब्य मतं मुनीन्द्रः ।

चक्रांकिताचार्यचयेन चर्चा-
रणाय सज्जो रसतः श्रुतिज्ञः ॥१०४॥

जैसे नीतिचतुर, निरपेक्षवृत्ति, युद्धरसिक, सेनानायक युद्ध प्रारम्भ होने पर अपने राष्ट्र से सम्बद्ध दूसरे उत्तम राष्ट्रों का पक्ष ग्रहण करता है, वैसे ही, वेदवेत्ता दयानन्द वैष्णव सम्प्रदाय से शैवमत को कुछ श्रेष्ठ मानकर रसपूर्वक चक्रांकित आचार्यों के साथ शास्त्रार्थ के लिये सज्ज हो गये ॥ १०३–१०४ ॥

सुदर्शनाचार्यमुखा विपक्षे
बुधा हरिश्चन्द्रनिभा व्यराजन् ।
शास्त्रार्थयुद्धैकरसाः समर्था-
स्स्वपक्षरक्षाहितदक्षचित्ताः ॥१०५॥

विरुद्ध पक्षमें पं. सुदर्शनाचार्य और पं. हरिश्चन्द्र जैसे विद्वान् थे, जो शास्त्रार्थ–युद्ध–कला में अति प्रवीण तथा अपने पक्ष-समर्थन में महासमर्थ थे ॥ १०५ ॥

वेदानुकूलं मतमस्मदीयं
विष्णोः पदं तत्परमं प्रसिद्धम् ।
पश्यन्ति नित्यं दिवि सूरयस्ते
प्रमाणमत्र श्रुतिरेव साक्षात् ॥१०६॥

अपक्वजीवो न तदश्नुते पदं
कृशानुतापांकितविग्रहः परम् ।
अतप्ततन्वादिपदप्रकाशितं
प्रकाशते मन्त्रयुगं श्रुतेर्वरम् ॥१०७॥

वैष्णवों ने अपने पक्ष-समर्थन में कहा कि–हमारा मत वेदानुकूल है। इस में "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवीव चक्षुराततम्" इत्यादि श्रुति प्रमाणभूत हैं; तथा अपक्व जीव उस परमपद को नहीं पा सकता है, इसलिये अग्नि से शरीर को शंख-चक्रादि द्वारा तप्त करना चाहिये। इस के प्रतिपादन में निम्न लिखित श्रुति प्रमाण है– "अतप्ततनू र्न तदामोऽश्नुते" "तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पते" इत्यादि ॥ १०६–१०७ ॥

इति प्रतिज्ञां प्रविधाय वैष्णवं
मतं प्रतिष्ठाप्य विवादसंगरे ।
समग्रशैवाग्रसरान् वितर्जितुं
विरेजिरे वैष्णवपण्डितेश्वराः ॥१०८॥

इस प्रकार वैष्णव पण्डित प्रवरों ने प्रतिज्ञा द्वारा वैष्णव मत की स्थापना करते हुए शैवों के कुल पण्डित मण्डल को परास्त करने के लिये शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षियों को तर्जना करना शुरु किया ॥ १०८ ॥

अगाधपाण्डित्यपयोनिधिस्तदा
मुदा दयानन्दयतिर्व्रतीश्वरः ।
शिवंकरः शैवनृणां सभारणे
समुद्यतो वैष्णवमार्गखण्डने ॥१०९॥

तब उस समय अगाध पाण्डित्य के महासागर व्रतीश्वर दयानन्द यतिराज आनन्द-पूर्वक सभा-संग्राम में शैवभक्तों का कल्याण चाहते हुए वैष्णवमत का इस प्रकार खण्डन करने लगे ॥ १०९ ॥

श्रुते विरुद्धं भवतां मतं तत्
पुष्णाति पक्षं नहि मन्त्र एषः ।
विष्णोः पदं दिव्यदृशः समाधौ
पश्यन्ति दिव्यं न तु वैष्णवास्तत् ॥११०॥

आप का मत वेदविरुद्ध है। 'तद्विष्णोः' यह मंत्र आप के मत की पुष्टि नहीं करता है। ज्ञानी योगीजन सर्वव्यापक परमात्मा के अलौकिक पद को ज्ञानचक्षु से समाधि में देखते हैं। आप वैष्णव लोग तो विष्णु का दर्शन वैकुण्ठ या गोलोक में मानते हैं जो मिथ्या है ॥ ११० ॥

अष्टांगयोगाचरणैरशुद्धेः
क्षयं विधायात्मरतिप्रसन्नाः ।

ज्ञानप्रदीप्त्या परमात्मविष्णो-
ज्ञातुं स्वरूपं प्रभवन्ति सन्तः ॥१११॥

अष्टांग योग का पालन करने से मन की अशुद्धियों का नाश कर के आत्मानन्द से मस्त योगी सत्पुरुष उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि से सर्वव्यापक विष्णु परमात्मा का स्वरूप जानने के लिये शक्तिमान् होते हैं ॥ १११ ॥

शंखचक्रगदापद्मैः संतप्तैरनले वपुः ।
अंकयित्वा प्रभुप्राप्तिः कथं स्यादात्मनामहो ॥११२॥

शंख, चक्र, गदा और पद्मों के आकार के बने हुए ताम्बे के पदार्थों को अग्नि में तपाकर शरीर को दाग देने से जीवात्मा परमात्मा की प्राप्ति कैसे कर सकता है ॥ ११२ ॥

मालातिलकसंज्ञानां धारणैः केवलं जपैः ।
लभ्येत यदि वैकुण्ठः सत्यादिभिरलं व्रतैः ॥११३॥

माला, तिलक और नाम के धारण करने से एवं केवल जप से यदि विष्णु की प्राप्ति हो, तो सत्य, अहिंसा आदि व्रतों और अनुष्ठानों की क्या आवश्यकता है ॥ ११३ ॥

अतप्ततन्वादिपवित्रमंत्र-
सत्यार्थविज्ञानपराङ्मुखैस्तैः ।
सद्ब्रह्मचर्यादितपांसि हित्वा
तापस्तनौ संविहितो विमुक्त्यै ॥११४॥

'अतप्ततनूः' आदि पवित्र मंत्रों के सत्यार्थ के विज्ञान से पराङ्मुख होकर, ब्रह्मचर्यादि तपों को त्यागकर मुक्ति के लिये शरीर पर दागने का विधान शास्त्रविरुद्ध है। शास्त्र में तो 'सत्यं तपः' 'ऋतं तपः' आदि कहा है। पवित्र आचरण द्वारा ही जीवात्मा शम, दम, तितिक्षा, उपरति आदि मोक्ष-साधनों से अपने को पकाकर मुक्ति के योग्य होता है ॥ ११४ ॥

इत्थं मुनिर्वैष्णवसम्प्रदाय-
ग्रन्थेभ्य उद्धृत्य तदीयलीलाम् ।

आलोचमालोचममून्सलज्जान्
व्यधात्परास्तान् विदुषोऽपि मूकान् ॥११५॥

मुनिवर दयानन्दने इस प्रकार वैष्णव संप्रदाय के ग्रन्थों में से अनेक उद्धरणों द्वारा उनकी लीलाओं की कड़ी आलोचना की और वैष्णव विद्वानों को हरा कर मूक कर दिया ॥ ११५ ॥

शैवानां हृदयाम्भोधिः प्रहर्षेन्दुप्रवर्द्धितः ।
मर्यादां लंघयाञ्चक्रे वैष्णवानां पराजयात् ॥११६॥

वैष्णवों की हार से शैवों का हृदय–सागर आनन्दरूपी चन्द्र से उमड़कर मर्यादा को लांघ गया ॥ ११६ ॥

पौराः प्रभावितास्तेषां विजयेन द्रुतं तदा ।
प्रक्रान्ता भवितुं शैवा रामसिंहोऽपि भूपतिः ॥११७॥

शैवों के विजय से प्रभावित होकर जनता जल्दी जल्दी शैवमत ग्रहण करने लगी। महाराजा रामसिंह ने भी शैवमत की दीक्षा ली ॥ ११७ ॥

कण्ठं न केवलं माला रुद्राक्षाणां ततो नृणाम् ।
दीक्षितानामलंचक्रु भूपानेकपवाजिनाम् ॥११८॥

रुद्राक्षमाला ने केवल दीक्षित मनुष्यों के ही कंठों को विभूषित नहीं किया, किन्तु राजा के हाथी और घोड़ों के कण्ठों को भी सजा दिया ॥ ११८ ॥

वैष्णवोत्तमदिङ्नागान् वादयुद्धे विजित्य तान् ।
यतिचन्द्रहरेः कीर्तिः कौमुदीव ततावनौ ॥११९॥

युद्ध में वैष्णवों के उत्तम पण्डितरूपी गजराजों को हरा देने से संन्यासी दयानन्द-रूपी सिंह की कीर्तिचन्द्रिका भूमण्डल में फैल गई ॥ ११९ ॥

तद्राज्यमण्डलाधीशा भक्ता भूत्वा महात्मनः ।
न्यमन्त्रयन्त मन्त्रज्ञं ज्ञानामृतपिपासवः ॥१२०॥

जयपुर राज्य के मण्डलेश्वर राजा भी स्वामीजी के भक्त बन गये और ज्ञानामृत के पिपासु बनकर इन लोगों ने मंत्रद्रष्टा दयानन्द को अपने अपने राज्य में पधारने का निमंत्रण दिया ॥ १२० ॥

धर्मज्ञानसुधामेवं पाययन् क्षत्रियोत्तमान् ।
इन्द्रसिंहादिराजन्यान् विनेयान् विदधौ मुनिः ॥१२१॥

स्वामीजी ने श्रेष्ठ क्षत्रियों को धर्मज्ञान का अमृतपान कराया, जिस से इन्द्रसिंह आदि क्षत्रियवर इनके शिष्य हो गये ॥ १२१ ॥

स सार्द्धांश्चतुरो मासान् नीत्वा जयपुरे यतिः ।
कृष्णदुर्गं ययौ यस्मिन् पृथ्वीसिंहो महीपतिः ॥१२२॥

साढ़े चार महीने जयपुर में व्यतीत कर के यतिवर किशनगढ़ राज्य में गये। यहाँ उस समय पृथिवीसिंह नामक राजा राज्य करते थे ॥ १२२ ॥

निभाल्य तं वल्लभसम्प्रदाये
विराजमानं बुधराजमान्यः ।
भाले च पुण्ड्रं नृपपण्डिताना-
मखण्डयत्पण्डिततां स शास्त्रे ॥१२३॥

विद्वानों और राजाओं के वन्दनीय स्वामीजी ने वहाँ के राजा को वल्लभ संप्रदायी जानकर और राजपण्डित श्री विठ्ठल और देवदत्त के ललाट पर पुण्ड्र देखकर उन के सिद्धान्तों का खण्डन किया ॥ १२३ ॥

अन्यथा ग्राहितो राजा पण्डितै र्निन्दया मुनेः ।
आदिष्टवानमुं राष्ट्राद् रुष्टो गन्तुं बहिर्द्रुतम् ॥१२४॥

पण्डितों ने स्वामीजी के सम्बन्ध में राजा के मन में खूब खराब भावना भर दी। जिससे क्रुद्ध होकर राजा ने जल्दी इन्हें राजधानी से चले जाने की आज्ञा दी ॥ १२४ ॥

अवमत्य शासनं तन्-
नृपस्य योमी जगाद मुक्तभयः ।

'उत्थापयितुममुष्मात्
स्थानान्मां कः प्रभवति नरः' ॥१२५॥

यह निर्भय योगी राजा के शासन को तिरस्कार की दृष्टि से देखकर बोला, "देखूं भला मुझे यहाँ से कौन उठाता है ? ॥ १२५ ॥

पञ्चषान् स दिवसान् मुनिहंसः
कृष्णदुर्गजनतां जनधर्मान् ।
वेदशास्त्रविहितान् हितकामो-
वेदयन्नुषितवान् निरपेक्षः ॥१२६॥

निरपेक्ष परमहंस दयानन्द पांच छ दिन वहीं ठहर गये, और उन्हों ने कल्याण चाहते हुए किशनगढ की जनता को मानवधर्म और वेदशास्त्रविहित मत का उपदेश दिया ॥ १२६ ॥

विश्रुतोऽथ गतवानजमेरं
विश्रुतं स नगरं नगरम्यम् ।
वर्णवासरमुवास सुतीर्थं
पुष्करं विमलधीरथ यातः ॥१२७॥

विख्यात प्रभावशाली स्वामीजी यहाँ से गिरिमाला के कारण मनोहर प्रसिद्ध अजमेर नामक नगर में आये यहाँ चार दिन रहकर पवित्रान्तःकरण मुनिवर दयानन्द पुष्करतीर्थ पहुँच गये ॥ १२७ ॥

ब्रह्मदेवपरिपूजनमस्मिन्
केवलं भवति भारतवर्षे ।
ब्रह्ममन्दिरमुपेत्य ततोऽयं
तत्र वासमकृतोत्तमशीलः ॥१२८॥

सम्पूर्ण भारत में केवल मात्र पुष्कर में ही ब्रह्माजी की पूजा होती है। इसलिये पवित्र-चरित्र स्वामीजी भी ब्रह्मा के मन्दिर में आकर रह गये ॥ १२८ ॥

प्रतिमार्चनखण्डनं बलाद्
व्यदधाद्वैष्णवमार्गभञ्जनाम् ।
द्विजमण्डलमानसाम्बुधिः
क्षुभितः खण्डनचण्डवायुना ॥१२९॥

यहाँ स्वामीजी ने बलपूर्वक मूर्त्तिपूजा और वैष्णव मत का खण्डन शुरु किया। इस खण्डनरूप प्रचण्ड आँधी से ब्राह्मण मण्डल का हृदय-सागर क्षुब्ध हो उठा ॥ १२९ ॥

तर्कशास्त्रचणशास्त्रिवरेण
व्यकटेन गिरिकन्दरभाजा ।
चर्चितुं स्वयमयं यमिराजः
प्राप भागवत एतदुपान्तम् ॥१३०॥

यहाँ एक व्यंकट शास्त्री नामक पण्डित न्याय के बड़े भारी विद्वान् थे, जो एक गुफा में रहा करते थे। स्वामीजी स्वयं ही इन से भागवत-मत पर चर्चा के लिये उनके पास पहुँच गये ॥ १३० ॥

प्रचण्डतर्कैः प्रबलैः प्रमाणैः
स खण्डयन्भागवतं मतं तत् ।
प्रचण्डतेजा नयपण्डितं तं
पराभवद् व्याकरणेऽपि तीव्रम् ॥१३१॥

स्वामीजी ने प्रचण्ड तर्कों से और प्रबल प्रमाणों द्वारा भागवत-सम्प्रदाय की धज्जियाँ उड़ा दी। आदित्यसम तेजस्वी आदित्य ब्रह्मचारी ने न्यायशास्त्र के इस पण्डित को व्याकरण में बुरी तरह से परास्त कर दिया ॥ १३१ ॥

स्वीकृत्य सत्यं यतिनः स पक्षं
प्रशस्तविद्यामभिनन्द्य धीमान् ।

'ब्रवीति तथ्यं यतिरेष सर्वं'
सर्वान् द्विजानित्यवदद् विनम्रः ॥१३२॥

श्रीव्यंकट शास्त्री ने दयानन्द का सत्यपक्ष स्वीकार कर के उन की प्रशस्त विद्या का अभिनन्दन किया और नम्र होकर सब ब्राह्मणों से कहा कि–ये संन्यासी जो कुछ कहते हैं, सब सच है ॥ १३२ ॥

निन्ये मुनिं स्वस्य गुरोः सकाशं
घोरस्य घोराचरणस्य शास्त्री ।
संभाष्य गीर्वाणगिरा गुरु र्ज्ञैः
सताऽमुनैनं प्रशशंस गोष्ठ्याम् ॥१३३॥

फिर ये महानुभाव स्वामीजी को अपने गुरु के पास ले गये, जो भयंकर घोरपंथी थे परन्तु न्यायशास्त्र में निष्णात थे। ये स्वामीजी के साथ देर तक संस्कृत भाषा में बातचीत करते रहे ॥ १३३ ॥

मैत्रीं प्रपन्नस्य मुनेस्तदानीं
नैयायिकस्स्वामिनमित्यगादीत् ।
'शास्त्रार्थकाले मदपेक्षिता चेत्
सहायतायै स्मरणीय एषः' ॥१३४॥

नैयायिक व्यंकटशास्त्री स्वामीजी के परम मित्र बन गये और इन्हों ने स्वामीजी से कहा कि :–किसी भी शास्त्रार्थ में यदि मेरी आवश्यकता हो तो आप मुझे अवश्य स्मरण करें, मैं एकदम उपस्थित हो जाऊंगा ॥ १३४ ॥

तीर्थप्रसंगेन हि संगतानां
तदा जनानां विपुलोत्सवोऽभूत् ।
तस्मिन् कुरीतिव्रतदम्भनुत्त्यै
व्याख्यातवान् ख्यातयशा निकामम् ॥१३५॥

उस समय पुष्कर में एक बहुत बड़ा मेला लगा था। तीर्थमेला होने के कारण बहुत जनता जमा हो गई थी। इस मेले में विख्यात यशस्वी स्वामीजी ने अनेक सामाजिक कुरीतियों एवं धार्मिक दम्भों का खण्डन करते हुए उपदेश दिया ॥ १३५ ॥

मृकण्डुवंशस्य ऋषेर्गुहाया-
आनीतभूत्या स्वतनूं व्यलिम्पत् ।
अनीलमाणिक्यविशालिमध्यां
रुद्राक्षमालां स गले बभार ॥१३६॥

मृकण्डुवंश के एक ऋषि की गुफा में से स्वामीजी भस्म लाकर अपने शरीर पर लगाया करते थे और उन दिनों स्फटिकमणि से युक्त रुद्राक्षमाला पहना करते थे ॥१३६॥

सन्तोषशान्ती हृदये तितिक्षां
सारल्यमस्यास्तुवतैव सन्तः ।
विद्वद्वराः पण्डिततामहत्ता-
ममंसतर्षेरपि मुक्तकण्ठम् ॥१३७॥

संतगण ऋषि दयानन्द के संतोष, शान्ति, तितिक्षा, सरलता आदि गुणों की प्रशंसा किया ही करते थे, किन्तु महान् विद्वद्वर भी मुक्त–कंठ से इन के पाण्डित्य की महत्ता को स्वीकार करते थे ॥ १३७ ॥

दयानन्दवचोवातैः साम्प्रदायिकसागरः ।
आन्दोलितविचारोर्मिश्चुक्षुभे भ्रमवार्भ्रमैः ॥१३८॥

दयानन्द के वचनरूपी आँधी से सांप्रदायिक समुद्र में विचार के तरंग एवं भ्रान्ति की भँवर पैदा हो गई ॥ १३८ ॥

पूर्णिमामेलवेलायां तुलसीमालिका गलात् ।
लोका निस्सारयामासुः शतशो मुनिबोधनात् ॥१३९॥

मुनिवर दयानन्द के वचनामृत से उस पूर्णिमा के मेले में आये हुए सैंकड़ों लोग अपने गलों से तुलसी की मालाएँ उतार फेंकने लगे ॥ १३९ ॥

धावमाना ययुर्विप्रा व्यंकटस्यान्तिकं बुधः ।
व्याजह्रुः स्वामिसंबोधाल्लोकचित्तविवर्त्तनम् ॥१४०॥

ब्राह्मण लोग इस घटना से घबराकर व्यंकट शास्त्री के पास दौड़े और स्वामीजी के उपदेशों से जनता के हृदय-परिवर्तन का हाल सुनाया ॥ १४० ॥

मुनीन्द्रेण समं वादं कर्त्तुं नास्मि प्रभुर्द्विजाः ! ।
सत्यमेव वदत्यार्यः शास्त्री तानित्युवाच सः ॥१४१

व्यंकट शास्त्री ने ब्राह्मणों से कहा कि :–हे द्विजो ! मैं मुनीन्द्र दयानन्द के साथ शास्त्रार्थ करने को तैयार नहीं हूं, क्योंकि वे जो कुछ कहते हैं सच ही कहते हैं ॥१४१॥

ब्रह्मदेवगृहपूजकोत्तमो-
मानपुर्यभिधयाऽथ विश्रुतः ।
मित्रतामुपगतः स योगिनः
पुष्टदेहरुचिरो बलीश्वरः ॥१४२॥

ब्रह्मदेव के मन्दिर के महन्त का नाम मानपुरी था, इनका शरीर बड़ा ही हृष्टपुष्ट एवं बलिष्ठ था। ये स्वामीजी के मित्र बन गये ॥ १४२ ॥

अपाययद् दुग्धमयं यतीश्वरं
सहायकोऽभूदनिशं महात्मनः ।
विवादकाले कलहप्रियान् द्विजा-
नतर्जयद् दण्डधरान् स दण्डिना ॥१४३॥

ये यतीश्वर दयानन्दजी को खूब दूध पिलाया करते थे और हमेशा शास्त्रार्थ के समय में स्वामीजी के सहायक रहा करते थे। दण्डा चलानेवाले, झगडालु ब्राह्मणों को ये धमकाकर भगा दिया करते थे ॥ १४३ ॥

पूजकं शिवदयालुमप्ययं
मूर्त्तिपूजनविधेरहापयत् ।

आश्रवः श्रुतवतो द्विजस्ततः
पत्रकार्यगृहसेवकोऽभवत् ॥१४४॥

स्वामीजी ने शिवदयालु नामक एक पुजारी को मूर्त्तिपूजा से छुड़ा दिया। श्रुतज्ञ स्वामीजी की आज्ञा का पालक यह ब्राह्मण पीछे से पोष्ट ऑफिस में नौकर हो गया ॥१४४॥

केन नाम्नेश्वरस्याहं करवै जपमित्ययम् ।
सच्चिदानन्दनामामुं पृष्टो मुनिरवेदयत् ॥१४५॥

एकवार इस ब्राह्मणने स्वामीजी से पूछा कि—मैं ईश्वर का जप किस नाम से किया करूँ ? तब स्वामीजीने कहा कि 'सच्चिदानन्द' शब्द से जप करो ॥ १४५ ॥

शिवस्य विष्णोः प्रतिमार्हणां मणिः
सतां न्यषेधीदनिशं मनीषिणाम् ।
निराकृतेरीशितुरेव शंकरी-
मुपासनामादिशदर्हतां वरः ॥१४६॥

पूजनीय मनीषियों में श्रेष्ठ संत शिरोमणि स्वामीजी शिव एवं विष्णु की मूर्त्तिपूजा का निषेध करते ही रहते थे और कल्याणकारी निराकार ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया करते थे ॥ १४६ ॥

मूर्त्तिं दृष्ट्वा ब्रह्मणः संनिवृत्ता
वृद्धा देवी योगिनं द्रष्टुमायात ।
पप्रच्छायं त्वं कुतो मातराया-
वीक्ष्य ब्रह्मायामि सा प्रत्यवोचत् ॥१४७॥

एकवार एक वृद्धा स्त्री ब्रह्मा की मूर्त्ति के दर्शन से लौटकर स्वामीजी के दर्शन करने आई ॥ १४७ ॥

ब्रह्मा किञ्चिदुपादिशन्नु भवतीम् ? ओमित्यसौ प्राब्रवीद्-
उत्थाय द्रुतमासनान्मुनिरतो यात्वा समं वृद्धया ॥

मूर्त्तेरन्तिकमुक्तवानयममूं मूर्त्तिं वदाभाषितुम् ।
मूकाश्चेद् विबुधास्तवाग्रत इयं केत्यभ्यधात्सस्मितम् ॥१४८॥

स्वामीजीने पूछा माता ! तुम कहाँ से आ रही हो ? उसने कहा कि–मैं ब्रह्मा का दर्शन करके आ रही हूँ । 'क्या ब्रह्माजीने आपको कुछ उपदेश दिया ? वह बोली हाँ । स्वामीजी झट उठकर उस वृद्धा के साथ मूर्त्ति के पास जाकर उस से बोले कि, माता ! मूर्ति को बोलने के लिये कहो; बुढ़िया हँसकर बोली—स्वामीजी महाराज, आप के सामने तो बड़े बड़े विद्वान् भी चुप हो जाते हैं, तो इस मूर्त्ति की तो क्या बात ? ॥१४८॥

ब्रह्मदेवालये पुष्करे ब्रह्मविद्

ब्रह्मवृन्दे सदा ब्रह्मतत्त्वं दिशन् ।

ब्रह्मचर्यप्रभावं च विख्यापयन्

ब्रह्मचारी तदोवास मासद्वयम् ॥१४९॥

ब्रह्मवित् ब्रह्मचारी दयानन्द पुष्कर के ब्रह्म-मंदिर में ब्राह्मणों की सभा में ब्रह्मतत्व का उपदेश देते हुए एवं अपने ब्रह्मचर्य के प्रभाव को दिखलाते हुए दो मास रह गये ॥ १४९ ॥

इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य बटोदरार्यकन्या-
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षेर्वन्दनी-
यदेवतावन्दनपूर्वकं दिग्विजयारम्भमंगला-
चरणं नामैकादशः सर्गः ।

द्वादशः सर्गः

[इस सर्गमें विविध वृत्तों एवं उनके भेदोंका नाम क्रमश : श्लोकोंमें आवेगा तथा उसी वृत्त वा छन्द का वह श्लोक होगा ।]

'इन्द्रवज्रावृत्तम् ।'

यस्येन्द्रवज्रोपमगोचरेषु
वश्येन्द्रियस्य क्षणभंगुरेषु ।
नाभून्मनो लीनमयं यमीन्द्रो-
यातोऽजमेरं जनमंगलार्थी ॥१॥

विद्युत् के समान चंचल एवं क्षणभंगुर विषयों में यतीन्द्र दयानन्द का मन कभी भी लीन न हुआ । समग्र संसार के कल्याण को चाहनेवाले स्वामीजी पुष्कर से अजमेर आये ॥ १ ॥

'उपेन्द्रवज्रा'—

उपेन्द्रवज्रं गिरिदानवानां
बलं यथा कुण्ठितवीर्यमास्त ।
तथैव तद्वाक्कुलिशाग्रतस्तत्
प्रभावहीनं मतवादिवृन्दम् ॥२॥

जैसे इन्द्र के वज्र के सामने गिरिसमान दानवों की शक्तियाँ कुण्ठित हो गई थीं, वैसे ही इन मुनिवर के वचन वज्र के सामने मतवादियों की बुद्धि निस्तेज हो गई थी ॥२॥

'उपजातिः'—

भृंगा यथा यान्त्युपजाति मुग्धाः
पुष्पामृतं पातुमयु विदग्धाः ।
मनोज्ञबोधामृतमार्यशीलाः
सुमंगलाचाररतेरुपान्तम् ॥३॥

जैसे भ्रमर पुष्परस को पीने के लिये मालती-लता के पास मुग्ध हो कर जाते हैं, ठीक वैसे ही विद्वान् आर्य सज्जन पवित्र आचरण में लीन स्वामीजी के पास मनोहर ज्ञानामृत पीने के लिये आते थे ॥ ३ ॥

उपजातिभेदः ' कीर्तिः '—

मनोरमारामजुषो महर्षेः
कीर्त्ति र्नटी तत्र पुरे ननर्त्त ।
विज्ञापयन्ती गुणगौरवालिं
चित्तं हरन्ती गुणिनां विलासैः ॥४॥

महर्षि अजमेर में श्रीमान् बंसीलाल के सुन्दर बाग में रहते थे। उनकी कीर्त्तिरूपी नटी नगर में उनकी गुण-गरिमा को फैलाती हुई तथा गुणिजनों के मनों को हरण करती हुई मानों नृत्य कर रही थी ॥ ४ ॥

' वाणी '—

जीवेशसर्गक्रमवेदवाणी-
विचारणामीशमतानुगैः सः ।
घस्रत्रयं वाग्मिवरः सशास्त्रं
चक्रे स्वधर्मोत्तमताभिमानी ॥५॥

अपने धर्म की उत्तमता के अभिमानी वाग्मीश्वर दयानन्दजी, तीन दिन तक ईसाई मतावलम्बी रॉबिन्सन, ग्रे, और शूलब्रेड पादरियों के साथ, जीव, ईश्वर, सृष्टि-उत्पत्ति-क्रम तथा ईश्वरवाणी आदि विषयों पर शास्त्रप्रमाणसहित विचारणा करते रहे ॥ ५ ॥

' माला '—

तदीशुदेवस्य परेशतायां
पुनर्जनित्वे मरणं गतस्य ।
स्वारोहणादावनुयोगमालां
तर्कांशुमाली कलयाम्बभूव ॥६॥

तर्क के सूर्य्य स्वामीजी ने ईसाइयों के ईश्वर की ईश्वरता, पुनर्जन्म, मरण, आकाश-आरोहण आदि विषय पर प्रश्नों की झड़ी लगा दी ॥ ६ ॥

'शाला'—

शास्त्रार्थशालागतपादरीशो-
रुष्टोऽब्रवीदाहतबुद्धिरेनम् ।
कदाचिदीदृग्वचनैरवश्यं
कारागृहं यास्यति तर्कशाली ॥७॥

शास्त्रार्थ–सभा में आये हुए पादरियों के मुखिये ने इनके तर्कों से हतबुद्धि होकर और क्रोधित होकर कहा कि–'स्वामीजी, आप ऐसे तर्कों से अवश्य ही कभी जेल जायेंगे ॥ ७ ॥

'हंसी'—

स्वसत्यधर्माध्वगतस्य कारा
लज्जाकरी मे न बिभेमि नातः ।
अनिष्टकृत्स्यां नहि कष्टदातु-
र्हंसीं गिरं तं मुनिरित्यगादीत् ॥८॥

मुनिवर ने परमहंस की सी मीठी वाणी में कहा कि:–अपने सत्यधर्म पर चलते हुए भले ही मुझे जेल जाना पड़े, यह कोई लज्जा की बात नहीं है। इसलिये मुझे इसका कुछ भी डर नहीं है और मैं मुझे कष्ट देने वालों का अनिष्ट चिन्तन भी नहीं करूंगा ॥ ८ ॥

'माया'—

ऋतं त्यजेयं न नरेन्द्रभीत्या
मयासवोऽमी तृणवन्नु हेयाः ।
भवत्प्रभुः किं गलपाशदाने-
र्मायाविलोके निहतो न धीमन् ? ॥९॥

हे बुद्धिमान् पादरियो! मैं राजा के डर से सत्य को त्याग नहीं सकता। मैं अपने प्राणों को धर्म के लिये तृणतुल्य अर्पण कर दूंगा। क्या आपके प्रभु ईसा को धूर्तों ने फाँसी पर चढ़ा कर नहीं मारा था? ॥ ९ ॥

'जाया'—

रॉबिन्सनाख्यस्य निमन्त्रणेन
मिमेल तेनादृतवाङ् मुनीन्द्रः।
सुतां स्वजायामिव भुक्तवान्नु
ब्रह्मेत्यपृच्छत् स मुनिं महेच्छः ॥१०॥

लाट पादरी रॉबिन्सन के निमन्त्रण पर स्वामीजी उनसे मिले, इन्होंने स्वामीजी का बड़ा आदर किया, और एक प्रश्न पूछा कि:—ब्रह्माने अपनी पुत्री से क्या स्त्री का सा व्यवहार किया था? ॥ १० ॥

'बाला'—

ब्रह्माभिधाना बहवो मनुष्या-
स्स्यात्तेषु बालागमनापराधी।
ब्रह्मा महर्षिस्तु पवित्रशीलो-
बभूव धीमानिति तं बभाषे ॥११॥

स्वामीजीने कहा कि ब्रह्मा नाम वाले बहुत से मनुष्य हो चुके होंगे। उन में से किसी एकने शायद ऐसा किया होगा। किन्तु ब्रह्मा नामक एक महर्षि तो बड़े विद्वान् और पवित्रचरित्रशाली थे ॥ ११ ॥

'आर्द्रा'—

सुसंगतोक्त्या यतिनः स आंग्ल-
आर्द्रान्तरात्मा प्रणयैः प्रसन्नः।
पत्रं लिखित्वा निजपाणिनेत्थं
ददौ मुनीन्द्राय गुणैकगृह्यः ॥१२॥

गुण का पक्षपाती यह अंगरेज यतिवर की सुसंगत युक्तियों से और उनके प्रेममय व्यवहार से बड़ा प्रसन्न हुआ और अपने हाथों से स्वामीजी को निम्नलिखित पत्र लिखकर दे दिया ॥ १२ ॥

'भद्रा'—

"स्वामी दयानन्दसरस्वतीन्द्रो-
भद्राच्छविद्वान्निगमागमानाम् ।
अस्तीह दृष्टो न मयेदृगन्यः
स्वजीवने संस्कृतपण्डितेशः ॥१३॥

"स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसा वेद और शास्त्रों का उद्भट पण्डित आजतक मैंने अपने जीवन में दूसरा कोई नहीं देखा" ॥ १३ ॥

'प्रेमा'—

समागमेनास्य हि सज्जनस्य
महान् सुलाभो भविता जनस्य ।
प्रेमार्द्रचित्ताः पुरुषा महान्तो-
भवन्ति नूनं विरला जगत्याम् ॥१४॥

"इस सत्पुरुष के समागम से जनता को महान् लाभ होगा। क्योंकि संसार में इस प्रकार के प्रेमार्द्र हृदयवाले महान् पुरुष विरल ही हुआ करते हैं" ॥ १४ ॥

'रामा'—

रामारमाभ्यां विरतो नितान्तं
शान्तांतरंगो भुवनेशभक्तः ।
समागमाकांक्षिभिरेष भद्रै-
र्भद्रान्तरात्माऽऽदरणीय एव" ॥१५॥

"आप लक्ष्मी और ललना दोनों से नितान्त विरक्त हैं। आप शान्त अंतःकरण हैं एवं ईश्वर के महान् भक्त हैं। भद्र पुरुषों का कर्तव्य है कि वे ऐसे महान् पुरुषों की संगति करें तथा इनका सत्कार करें" ॥ १५ ॥

'ऋद्धि :'—

स ऋद्धिभागांग्लनियोगिनाथो
श्रीयोगिनाथो मृदु संबभाषे ।
"प्रजेश्वरोऽयं जनकः प्रजानां
प्रजास्तु राज्ञोऽपि निजप्रजावत् ॥१६॥

एकवार योगीश्वर दयानन्द की मेजर डेविडसन से भेंट हुई, इन्हें स्वामीजी ने कोमल शब्दों में कहा कि—"राजा प्रजा का पिता है, और राजा को भी चाहिये कि वह प्रजा को अपनी संतति के तुल्य समझे ॥ १६ ॥

'बुद्धि :'—

पुत्रं प्रयान्तं विपरीतमार्गं
पिता निरुन्ध्याद् वरबुद्धिरेवम् ।
सुशासकः शासितनिन्द्यकार्यं
निवार्य धर्मेषु नियोजयेत्ताः ॥१७॥

"उत्तम बुद्धिशाली शासक पिता का कर्तव्य है कि यदि प्रजारूपी पुत्र कुपथ-गामी हों तो उन्हें उस मार्ग से रोके, और उन्हें उत्तम धर्मकार्यों में लगा दें ॥ १७ ॥

'इन्द्रवंशा'—

आंग्लेन्द्रवंशाश्रितशासकोत्तमै-
स्ते दण्डनीया दुरिताशयाः शठाः ।
ये वञ्चयित्वा मतिहीनमानवान्
धर्मोपदेशेन हरन्ति सम्पदम् ॥१८॥

अंग्रेज बादशाहों का कर्तव्य है कि जो दुष्टाशय धूर्त धर्म के नाम पर अज्ञानियों को ठगकर उन से रुपया ऐंठते हैं—उन्हें वे दण्ड दें ॥ १८ ॥

'वंशस्थवृत्तम्'—

ऋतं स्वधर्मं मनुजा विहाय ते
स्वकीयवंशस्थनयाभिमानिनः ।

अविद्यया किल्विषितान्तराः परं
तुदन्ति मुग्धाञ्शुभकर्मदम्भतः ॥१९॥

ऐसे लोगों को भी दण्ड दें जो अपने सत्यधर्म को छोड़कर केवल अपनी कुलीनता के मिथ्याभिमानी होकर अविद्या से पापी बनकर शुभ कर्म के दंभ से भोली भाली जनता को दुःख पहुंचाते हैं ॥ १९ ॥

'उपजातिभेदो'गौरः'—

चेतोहरामर्थमयीं सुसंगतां
गिरं स गौरो यमिनो निशम्य ताम् ।
'न शासकाः कस्यचिदग्र्यधर्मणि
क्षिपन्ति हस्ता' निति संजगाद तम् ॥२०॥

मेजर डेविडसन ने स्वामीजी की मनोहर युक्तियुक्त सारगर्भित वाणी सुनकर कहा कि—आपकी बात बिल्कुल ठीक है, किन्तु राज्यकर्ता लोग किसी के धर्म में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझते ॥ २० ॥

'गुरुः'—

अथान्यदोद्यानगतां निषण्णवा-
नासन्दिकां स्वामिवरोऽध्यजीगपत ।
तदोपयन्तं ब्रुकनामकं पुरोऽ-
ब्रुवन् विनेयाः प्रविलोक्य सद्गुरुम् ॥२१॥

किसी समय स्वामीजी बाग में कुर्सी पर बैठकर पढ़ा रहे थे। उस समय कर्नेल ब्रूक को सामने से आते हुए देखकर विद्यार्थियों ने स्वामीजी से कहा कि— ॥ २१ ॥

'कर्म'—

श्रीकर्नेलः शासनकर्मदर्शकः
संन्यासिनां द्वेषकरः समागमत् ।
निजासनं सारयतु प्रतीपतो-
मनाग्गुरो तन्नयनाध्वनस्ततः ॥२२॥

हे गुरो ! गवर्नर जनरल के एजेन्ट कर्नल ब्रूक आ रहे हैं। ये संन्यासियों पर खूब जला करते हैं। इसलिये आप जरा अपनी कुर्सी का मुंह फेर लें जिस से यह आप को न देख सकें ॥ २२ ॥

'विनेयः'—

इदन्तु वाञ्छाम्यहमित्युदीर्य स-
यतिस्स्ववेत्रासनमग्रतोऽकरोत् ।
बिभ्युर्विनेया यतिमग्रतः स्थितं
निरीक्ष्य चारामगतं विदेशजम् ॥२३॥

'यह तो मैं चाहता ही हूँ' ऐसा कहकर संन्यासी ने अपनी कुर्सी और भी आगे बढ़ा दी और कुर्सी पर बैठ गये। स्वामीजी के शिष्य कर्नल ब्रूक को आते देखकर तथा स्वामीजी को आगे बढ़कर बैठे देखकर डर गये ॥ २३ ॥

'शान्तः'—

मा भैष्ट रे तिष्ठत शान्तमानसा-
इतीरयित्वाऽभ्रमदन्तिकं यमी ।
उष्णीषमुत्तार्य स सादरं पुरः-
समासदत्स्वामिपदं मुदन्वितः ॥२४॥

'हे विद्यार्थियो ! मत ड्रो, शान्ति से बैठे रहो'। ऐसा कहकर स्वामीजी समीप घूमने लगे। इतने में कर्नल ब्रूक आ पहुँचे और आदर से प्रसन्नता के साथ टोप उतारकर स्वामीजी के सामने खड़े हुए ॥ २४ ॥

'विचक्षणः'—

हस्तेन हस्तं परिगृह्य तावुभौ
मानं मिथोऽदर्शयतां विचक्षणौ ।
आसन्दिके स्वे प्रतिसम्मुखस्थिते
उभावलञ्चक्रतुरुन्नतान्तरौ ॥२५॥

दोनों ने साथ ही हस्तधूनन किया, तथा एक दूसरे के प्रति आदरभाव प्रकट किया। बाद में उन्नतहृदय दोनों ही विचक्षण आमने सामने की कुर्सियों पर बैठ गये ॥ २५ ॥

'भव्यम्'—

अथो मिथोऽमू परिपृच्छ्य सादरं
भव्यं नृभव्योचितचारुचिन्तनौ ।
वार्त्तां मुदा तेनतुरिन्दुसुन्दरा-
ननौ प्रसंगोत्तमसंगतां शुभाम् ॥२६॥

पहले इन दोनों ने एक दूसरे का कुशल प्रश्न पूछा। दोनों के विचार मनुष्य हितकारी थे तथा दोनों ही सौम्य थे। इसलिये इन दोनों ने आनन्द से प्रसंगोपात्त अनेक प्रकार की शुभ बातें कीं ॥ २६ ॥

'धर्मः'—

अनन्तरं योगिवरोऽन्वयुंक्त तं
भवान्नु धर्मं वितनोति हन्ति वा? ।
न मन्महे धर्मविनाशनं वरं
लाभं परं यत्र तदेव तन्महे ॥२७॥

बातचीत के प्रसंग में योगिवरने इन से पूछा कि—क्या आप धर्म को फैलाना चाहते हैं या नष्ट करना चाहते हैं? कर्नल ब्रूकने कहा कि हम धर्म का नाश करना अच्छा नहीं मानते किन्तु जिस से मानवसमाज को लाभ हो ऐसे ही धर्म को हम स्वीकार करते हैं ॥ २७ ॥

'फलम्'—

लाभस्य कार्यं क्रियते न शासकैः
विनाशनं प्रत्युत दृश्यतां कृषेः ।
गवां वधादत्युपकारकात्मनां
नानाफलोत्पत्तिभृतो निरन्तरम् ॥२८॥
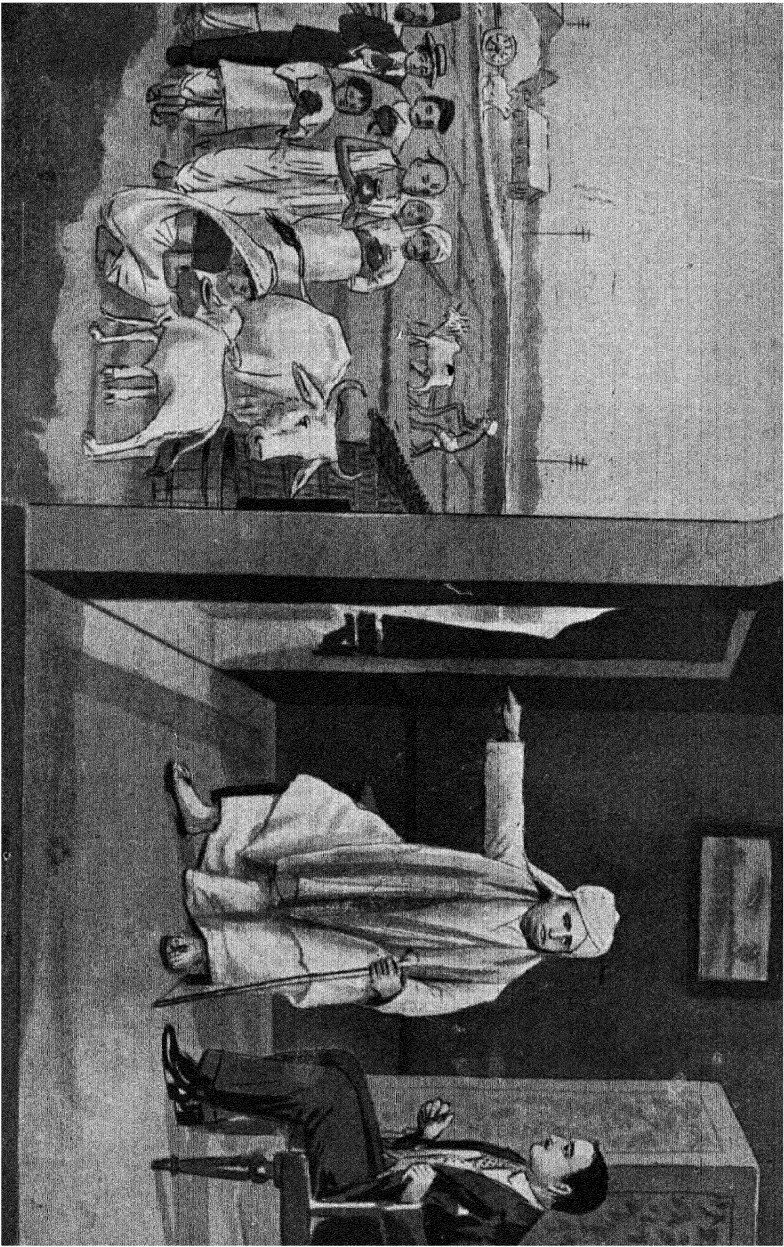
राजस्थान के पोलिटिकल एजेण्ट कर्नल ब्रुकस से गोरक्षापर वार्तालाप

स्वामीजीने कहा कि शासक लोग लाभ के कार्य तो करते नहीं हैं किन्तु विनाश का काम करते हैं। देखिये–खेती के लिये उपकारी गौ जैसे प्राणियों का वध आप लोग करते हैं। खेती से अनेक प्रकार के धान्य और फलादि उत्पन्न होते हैं, उस का मुख्य साधन गोपालन ही है ॥ २८ ॥

'जीवनम्'—

पयस्विनीजीवनतोऽर्थदृष्टितो-
लक्षात्मनां पालनमंग जायते ।
अथैकधेनो र्वधतो नु केवलं
पञ्चात्मनां तुन्दकृशानुशामनम् ॥२९॥

आर्थिक दृष्टि से भी एक गौ के जीवन से एक लाख मनुष्यों का पालनपोषण होता है। और एक गाय के वध से तो केवल पांच ही आदमियों के पेट की आग बूझती है ॥ २९ ॥

'परमार्थः'—

हानिस्तु गोमारणतो विनिश्चिता
सम्मन्यते सा परमार्थतो मया ।
भवान् मदीयं भवनं श्व एतु तद्
भूयोऽत्र वार्त्ता तनितास्महे वयम् ॥३०॥

कर्नल ब्रूकने कहा कि गोवध से हानि तो है ही, उसे मैं स्वीकार करता हूं। आप कल मेरे बंगले पर आवें। इस सम्बन्ध में हम कल खूब बातचीत करेंगे ॥ ३० ॥

'ज्योतिः'—

अथोत्तरेद्युः ब्रूकभद्रवाहनं
यतेरुपान्तं समुपागमन्मुनिः ।
ज्योतिर्विदाऽऽरुह्य समं समं ययौ
हर्म्यं सुरम्यं नृपनीतिभृन्मते: ॥३१॥

दूसरे दिन निश्चित समय पर कर्नल ब्रूक की बग्गी स्वामीजी को लेने आई। स्वामीजीने रूपराम जोशी के साथ बग्गीपर चढ़कर राजनीतिज्ञ कर्नल ब्रूक के बंगले पर गये ॥ ३१ ॥

'रूपम्'—

सम्मानपूर्वं यमिनं निजालये
स रूपरामेण समं समागतम् ।
वेत्रासने तावुपवेश्य मंजुले
गोरक्षणे मंजुगिराऽऽलपच्चिरम् ॥३२॥

कर्नलब्रूक ने स्वामी जी को रूपराम सहित अपने बंगले में आने पर आदर सहित बेंत की सुंदर कुर्सियों पर बैठाया और गो-रक्षण विषय पर बड़ी देर तक मिठास के साथ बातचीत होती रही ॥ ३२ ॥

'अर्थवृत्तम्'—

यथार्थतो हानिकरो गवां वधो-
नो मेऽधिकारः परमस्य वारणे ।
लाटेन संमेल्य सुभाषतां भवान्
पत्रं ममादर्श्य तमित्युवाच सन् ॥३३॥

कर्नल ने कहाकि—वास्तव में गोवध हानिजनक है, किन्तु मेरा अधिकार इसे रोकने का नहीं है। आप मेरा यह पत्र दिखाकर गवर्नर जनरल से मिले और उनसे बातचीत करें ॥ ३३ ॥

'भद्रविराट्'—

हन्तायि नरेन्द्र ! नाकरोस्त्वं
वेदानां विदुषां वरेण वार्त्ताम् ।
इत्थं दलमेकमालिखत्तं
गौरो भद्रविराटसहृद्वरोऽयम ॥३४॥

फिर इस कर्नल ने महाराजा जयपुर के पास–जो इनके परम मित्र थे–एक पत्र लिखा कि बड़ा ही खेद है कि आपने वेदों के महान् विद्वान् दयानन्द से बातचीत नहीं की ॥ ३४ ॥

'द्रुतविलम्बितवृत्तम्'—

जयपुरेश इदं दलमागतं
समनुवाच्य गतोऽनुशयं भृशम् ।
द्रुतविलम्बितनीतिचणो द्रुतं
यतिविलोकनयत्नपरोऽभवत् ॥३५॥

जब महाराज जयपुराधीश के पास यह पत्र पहुँचा तब इसे पढकर वे पश्चाताप करने लगे, और शीघ्र ही यह नीतिनिपुण राजा स्वामीजी के दर्शनों के लिये यत्न करने लगा ॥ ३५ ॥

'स्वागता'—

श्यामवर्णरुचिराङ्गयुवानौ
नागपर्वतवनादुपयातौ ।
योगिनं नियमिनौ मिलनार्थं
स्वागतादृतधियाऽऽसितुमुक्तौ ॥३६॥

नाग पर्वत के जंगल से दो श्यामवर्ण सुंदर शरीर वाले तरुण तपस्वी स्वामीजी के दर्शनार्थ आये। स्वामीजी ने आदर सत्कार के बाद उन्हें बैठाया ॥ ३६ ॥

'रुचिरा'—

व्रतीश्वरो व्रतरुचिराङ्गसौष्ठवः
स्मिताननस्त्रिदशगिराऽऽलपन्मुदा ।
स योगतो मुनियुगलेन योगधीः
सतां मुदं ननु तनुते समागमः ॥३७॥

ब्रह्मचर्य के व्रत से सुन्दर सुडौल शरीर वाले व्रतीश्वर दयानन्द ने मुस्कराकर आनन्द से योगविषयक देववाणी में उन दोनों से बातचीत की। सचमुच सज्जनों की संगति आनन्द को बढाने वाली होती है ॥ ३७ ॥

'प्रहर्षिणी'—

योगीन्द्राननहिमशैलतः प्रभूता
गीर्गङ्गा विबुधमनःप्रहर्षिणीयम् ।
तैलंगान्तरवनभूमिमार्द्रयन्ती
नैर्मल्यात् सुगुणफलाञ्चितां वितेने ॥३८॥

योगीन्द्र के मुखरूपी हिमालय से उत्पन्न हुई, विद्वान्‌रूपी हंसों के हृदयों को प्रसन्न करनेवाली, विमल वाणीरूपी गंगाने उन तरुण तैलंग-देशवासी तपस्वियों के हृदयरूपी वनभूमि को—आर्द्र करते हुए—उसको उत्तम गुणरूपी फलों से युक्त कर दिया ॥ ३८ ॥

'पुष्पिताग्रा'—

मुनिवरवचनामृतेन सिक्ता
तरुणतपोधनमानसोत्तमोर्वी ।
शुभगुणवपनात्सुपुष्पिताग्रा
समजनि देवमनोहरा फलाढ्या ॥३९॥

मुनिवर के वचनामृत ने उन तरुण तपस्वियों की हृदयस्थली को सींचा, और उसमें सद्गुणरूपी बीज बोया। जिस से उस में उत्तम पुष्प खिल गये। कुछ समय बाद उत्तम फल भी लग गये, उन्हें देख देवताओं का मन भी ललचा उठा ॥ ३९ ॥

'शालिनी'—

निस्सार्यामू कण्टकान् दर्परूपान्
स्वान्तक्षोणीं शालिनीं पुण्यसस्यैः ।
संपाद्य स्वां तापसौ संयमीशं
नत्वाऽयातां मोक्षलक्ष्मीमभीप्सू ॥४०॥

इन दोनों तपस्वियों ने अंतःकरण की भूमि से अहंकार के काँटे निकाल डाले, जिससे वह स्थल पुण्य की धान्यसम्पदा से लहलहा उठा। वे मोक्षाभिलाषी होकर स्वामीजो को प्रणामकर वहाँ से चले गये ॥ ४० ॥

'मन्दाक्रान्ता'—

रामस्नेहिप्रथितगुरुराडागतोऽभूत्पुरेऽस्मि-
न्नाहूतोऽयं निगमविदुषा वादयुद्धाय धूर्त्तः ।
नानाव्याजैरपसृत इतो वादभीत्या स नूनं
मन्दाक्रान्ता भरतवसुधा शोच्यतां हा गतेयम् ॥४१॥

अजमेर में उन दिनों रामस्नेही संप्रदाय का महंत आया हुआ था। वेदवक्ता स्वामीजी ने उसे शास्त्रार्थ के लिये बुलाया। वह अनेक बहाने बनाकर शास्त्रार्थ से डरता हुआ वहाँ से भाग खड़ा हुआ। हा! सचमुच यह भारतभूमि ऐसे पाखण्डियों से घिरकर शोचनीय दशा को प्राप्त हो चुकी है ॥ ४१ ॥

'पृथ्वी'—

स्वकल्पितमतान्तराधिपदिवान्धहृत्कम्पने-
र्मुनीश्वरदिवाकरोग्रवचनांशुभि र्विश्वतः ।
ततैस्तिमिरघस्मरैस्सुकृतिमानसांभोरुहां
विकासिभिरकारि सोज्ज्वलतराऽऽर्यपृथ्वी भृशम् ॥४२॥

स्वकपोलकल्पित मतमतान्तरों के महन्तरूपी उल्लुओं के हृदयों को कंपित करने वाले, विश्व में फैले पाप–अंधकार को नाश करने वाले, पुण्यात्माओं के हृदय–कमलों को खिलाने वाले, दयानन्द–दिवाकर के उग्र वचन–किरणों से यह आर्य–वसुन्धरा आलोकित हो गई ॥ ४२ ॥

'मालिनी'—

परिषदि ऋषिवाचां वेदपीयूषभाजां
ततिरतिमधुराणां लोकभद्रंकरीणाम् ।
मतिचतुरनराणां बर्हिणां वान्तरंगे
मुदमतनुत विद्युन्मालिनीवाम्बुदाली ॥४३॥

सभाओं में वेदामृत बरसानेवाली, अति मधुर, लोककल्याणकारिणी ऋषिवाणी ने विद्युन्मालिनी मेघमाला की तरह बुद्धिमान् पुरुषरूपी मयूरों के मनों को आनन्द निमग्न कर दिया ॥ ४३ ॥

'शार्दूलविक्रीडितम्'—

पृथ्वीसिंहनरेन्द्रदुर्मदबुधोद्दामद्विपालीवचः-
शुण्डादण्डविखण्डने कलहिनां पाखण्डिनां मण्डले ।
दम्भेहामृगमर्दनेऽनृतजुषां गोमायुकल्पात्मनां
विद्रावे जयति प्रचण्डयतिराट्शार्दूलविक्रीडितम् ॥४४॥

किशनगढ़ के राजा पृथ्वीसिंह के अभिमानी राजपंडितरूपी गजों के वाणीरूपी शुण्ड-दण्ड के तोड़ने में, कलहकारी पाखण्डियों के मण्डल को मरोड़ने में, दम्भरूपी भेड़िये के मर्दन में, असत्यवादीरूपी गीदड़ों को भगाने में, उग्र यतिराट्रूपी शार्दूल का पराक्रम विजयी हुआ ॥ ४४ ॥

'हरिणप्लुता'—

सुखसागरतीरनिवासिनो-
मुनिहरेरुपकण्ठमिता बुधाः ।
मतभंगमवाप्य पलायिता-
मृगनिभा भयतो हरिणप्लुताः ॥४५॥

किशनगढ़ में स्वामीजी सुखसागर नामक तालाव के किनारे रहा करते थे। वहाँ से अनेक विद्वान्रूपी मृग वादविवाद में पराजित होकर हरिनों के समान भाग जाया करते थे ॥ ४५ ॥

'अपरवक्त्रम्'—

क्षणमपि विमलेन चेतसा
गिरममलामशृणोन्मुने र्नु यः ।
न पुनरपरवक्त्रमैक्षत
प्रवरगिरां महिमेदृगद्भुतः ॥४६॥

यदि कोई पवित्र हृदय से स्वामीजी की वाणी क्षणभर भी सुन लेता तो फिर उसे दूसरे का मुख देखने की आवश्यकता नहीं रहती। उत्तम वाणी की महिमा ही ऐसी अद्भुत है ॥ ४६ ॥

'केतुमती'—

समलंकृतां नृपतिवृन्दै-
राजसभां महोत्सवसुशोभाम् ।
प्रययौ विलोकितुमथोत्कः
केतुमतीं महार्गलपुरीं ताम् ॥४७॥

राजाओं से अलंकृत राजसभा को देखने के लिये उत्कंठित होकर, ध्वजपताका आदि से सजी महोत्सव वाली आगरा नगरी में मुनीन्द्र आये ॥ ४७ ॥

'उपस्थिता'—

यस्यां रुचिरोज्ज्वलवेषभृन्
नानामणिमौक्तिकमण्डना ।
लक्ष्मीमदमत्तमना भृशं
मुग्धा जनता समुपस्थिता ॥४८॥

इन दिनों आगरा में सुन्दर स्वच्छ वेषवाली, अनेक रत्न, हीरे, जवाहर, मोती आदि से मण्डित लक्ष्मी-मद से उन्मत्त मनवाली धनिक तथा भोली भाली गरीब जनता भी खूब संख्या में जमा हुई थी ॥ ४८ ॥

'रथोद्धता'—

स्वामिना हितकरैस्सुभाषणै-
र्नन्दिताऽत्र जनता मनोरमैः ।
नन्दयत्यतिशयं हिता प्रिया
मानसं तुदति गीरथोद्धता ॥४९॥

ऋषिने यहाँ मनोहर कल्याणकारी उत्तम व्याख्यानों द्वारा जनता को मुग्ध कर दिया। हितकारिणी प्रियवाणी हृदय को अतिशय आनन्द देती है, और उद्धत कठोर वाणी मनको खूब पीड़ा पहुँचाती है ॥ ४९ ॥

'वसन्ततिलका'—

सर्वातिशायिगुणतस्सकलर्तुमध्ये
जातो वसन्त इव यस्तिलको जनेषु ।
योगी विरच्य लघुभागवतप्रदोष-
प्रादर्शपुस्तकमसौ वितताार लोके ॥५०॥

जैसे सब ऋतुओं में सर्वाधिक गुणवान् होने से वसन्त ऋतु श्रेष्ठ है वैसे ही स्वामीजी मनुष्यों में सर्वाधिक गुणी होने से भूषण रूप थे। यहाँ पर स्वामीजी ने भागवत पुराण के दोषों की निदर्शिका एक पुस्तिका लिखकर जनता में बाँटी ॥ ५० ॥

'प्रहरणकलिता'—

मुनिवरवचनैः श्रुतहरिचरिता
निजमतदुरितश्रवणविकुपिता ।
मधुरिपुशरणा विकलितकरणा
प्रहरणकलिता हरिमतजनता ॥५१॥

एक मात्र विष्णु की शरणार्थी वैष्णव-जनता मुनिवर के मुख से भागवत प्रतिपादित कृष्णचरित्र पर टीकाटिप्पणी सुनकर अपने मत पर लगाये दोषों के श्रवण से क्रुद्ध एवं व्याकुल होकर स्वामीजी पर प्रहार करने को तैयार हो गई ॥ ५१ ॥

'अपराजिता'—

परिषदि कलहं विधातुमना ययौ
परमियमतुलं मुनीन्द्रमनोबलम् ।
नयनपथमलं विधाय पलायिता
यतितिलकतनु र्जयत्यपराजिता ॥५२॥

ये लोग झगड़ा करने के लिये सभा में आये। परन्तु मुनीन्द्र के अतुल मनोबल को देखकर भाग गये। यतिवर दयानन्द की मुखमुद्रा अपराजित रही ॥ ५२ ॥

'मत्तमयूरम्'—

भद्रोरस्को दीर्घसुबाहु र्वरभालो-
भद्रस्कन्धो मांसलदेहस्तनुबालः ।
कम्बुग्रीवः शान्तमुखेन्दु र्मुनिचन्द्रो-
गोष्ठ्यां रेजे मत्तमयूराम्बकरम्यः ॥५३॥

स्वामीजी की छाती विशाल, भुजाएँ लम्बीं, ललाट उन्नत, वृषभ से स्कन्ध, पुष्ट शरीर, छोटे छोटे बाल, शंख समान गर्दन, चन्द्र सा सौम्य मुख और मस्त मोर की सी आँखें थीं ॥ ५३ ॥

'मत्ता'—

तीरोद्याने रवितनयाया-
यात्रिव्राताद् धृतबहुवित्ताः ।
यस्यामूषु र्यतिरुपयातो-
मत्ता मल्ला इव मथुरां ताम् ॥५४॥

आगरा से चलकर स्वामीजी मथुरा आये। इस नगर में यमुना नदी के तटवर्ती बागों में मस्तमल्ल से चौबे लोग रहा करते हैं और ये लोग यात्रियों से धर्म के नाम पर धन लूटा करते हैं ॥ ५४ ॥

'शुद्धविराट्'—

आचार्यांघ्रियुगं स सादरं
नत्वा हेमपटं पदे न्यधात् ।
पंचच्छात्रयुतो व्रतीश्वरो-
भक्तः शुद्धविराट्परात्मनः ॥५५॥

स्वामीजी के साथ पांच विद्यार्थी थे। यहाँ अपने आचार्य स्वामी विरजानन्द के स्थान पर आकर ईश्वरभक्त स्वामीजी ने आदरसहित आचार्य के चरणों में प्रणाम कर सोने की मुद्राएँ एवं रेशमी वस्त्र भेंट किये ॥ ५५ ॥

'प्रणवः'—

आचख्यौ निजमखिलं वृत्तं
शास्त्रार्थाजिसमयसंवृत्तम् ।
श्रुत्वा तन्मुदिततरो जातः
शिष्यस्य प्रणवपराचार्यः ॥५६॥

स्वामी विरजानन्दजी को दयानन्दजी ने अपने शास्त्रार्थ-संग्राम का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। प्रणव जप-परायण आचार्य शिष्य की बातें सुन अति प्रसन्न हुए ॥ ५६ ॥

'ललितम्'—

स शिवाशिषा निजविनेय-
ममलचरितं गुणोज्ज्वलम् ।
पुलकिततनुरभिनन्द्य गुरु-
र्ललितं मनीषितममंस्त पूरितम् ॥५७॥

रोमांचित शरीरवाले गुरुने पवित्र-चरित्र, गुणोज्वल अपने शिष्य को मंगलमय आशीर्वाद से अभिनन्दन दिया और अपनी श्रेष्ठ अभिलाषाओं को पूर्ण हुई मानी ॥ ५७ ॥

'अवितथम्'—

गुरुचरणारविन्दयुगसेवनशुद्धमनाः
श्रुतिगतसंशयान्निगमविद्गुरुतो नुनुदे ।
अवितथवाङ्मुनिः श्रुतिमतप्रथनोत्सुकधी-
र्गुरुवरसम्मतिं स गमनार्थमवाप ततः ॥५८॥

गुरु-चरणारविन्द के सेवन से पवित्रित हृदय, वेदवेत्ता दयानन्द ने कुछ एक वैदिक शंकाओं का आचार्य से निरसन किया। पश्चात् सत्यवक्ता मुनीन्द्र ने वैदिक धर्म-प्रसार के लिये उत्कण्ठित होकर जाने के लिये गुरुदेव से आज्ञा मांगी ॥ ५८ ॥

'पुटः'—

अतुलमतिपुटेऽलं पुण्यशीलः
श्रुतममृतमिवार्यं तीर्थवर्यात् ।
विनयविनतमूर्द्धाऽऽदाय शिष्यः
ललितकरपुटोऽयाद् भद्रकामः ॥५९॥

पुण्यशील, भद्रकाम शिष्य ने अपने अनुपम मतिरूपी दोने में, वेदामृत पानकर विनय से नतमस्तक हो दोनों हाथ जोड़कर गुरुवर्य्य से विदाई ली ॥ ५९ ॥

'वृन्ता'—

निजगुरुविरहभवैः खेदै-
र्विकलितमृदुलहृदो नूनम् ।
निपतितममलदृशोऽस्रु स्राक्
सुममिव पवनहतं वृन्तात् ॥६०॥

सचमुच स्वामीजी का कोमल हृदय अपने आचार्य के वियोगजन्य दुःख से व्याकुल हो उठा और उनकी पवित्र आंखों से जल्दी ही आँसू के दो बूंद टपक पड़े; जैसे पवन से आहत होकर दण्ठल से फूल गिर पड़ते हैं ॥ ६० ॥

'वर्द्धमानम्'—

दण्डीन्द्रस्य विवर्द्धमानविस्रसयाऽसौ
विपुलं वपुषि विलोक्य दुर्बलत्वम् ।
गुरुपरिचरणमना इतरनगरगमनं
हृदयनिहितनिशितशरं ननु मेने ॥६१॥

उनदिनों स्वामी विरजानन्दजी का शरीर अतिवृद्धत्व के कारण दुर्बल होता जा रहा था। इसलिये गुरुदेव की सेवा की इच्छावाले स्वामी दयानन्द को मथुरा से दूसरी जगह जाना हृदय में लगे तीक्ष्ण बाण की तरह मालूम हुआ ॥ ६१ ॥

'विद्युन्माला'—

आचार्याज्ञां शीर्षे धृत्वा धर्मोद्धारायेतो यातः ।
विद्युन्मालालीलान् भावान् कर्मन्दीन्द्रो मत्वा सर्वान् ॥६२॥

आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य करके और सब पदार्थों को बिजली के समान चंचल लीला वाले समझकर संन्यासी प्रवर दयानन्द वैदिक धर्मोद्धार के लिये निकल पड़े ॥ ६२ ॥

'चित्रपदा'—

चित्रपदार्थमनोज्ञं मेरठपत्तनमायात् ।
चित्रपदाञ्चितवाणीमोहितकोविद आर्यः ॥६२॥

विविध अलंकारयुक्त वाणी से विद्वानों को मुग्ध करनेवाले आर्यसंन्यासी, विविध वस्तुओं से मनोहर मेरठ नगरी में आ गये ॥ ६३ ॥

'प्रमिताक्षरा'—

विदिताक्षरामलहृदो यमिनः
परिषज्जुषां सुविदुषां हृदयम् ।
प्रमिताक्षराऽपि बहुभावमयी
शिववाग् जहार मधुरा मृदुला ॥६४॥

ब्रह्मज्ञान से पवित्र-हृदय, संयमी स्वामीजी की कल्याणमयी वाणी, अल्पाक्षरा होती हुई भी विपुलभावभरी, मधुरा तथा मृदुला होने से सभा के विद्वानों के हृदयों को हर लेती थी ॥ ६४ ॥

'स्रग्विणी'—

उत्तरासंगमंगेऽधुना प्रावृणो-
दन्तरीयं पदाम्भोजयुग्मे दधौ ।
कम्बुरम्यां चकारात्मधीः कंधरां
सुप्रभासुन्दरस्फाटिकस्रग्विणीम् ॥६५॥

इस समय आत्मदर्शी दयानन्दजी ने शरीर पर दुशाला ओढ रक्खा था, पैरों में मोजे थे और शंख सदृश गले में चमकती स्फटिक मणियों की मनोहर माला थी ॥ ६५ ॥

‘ असंबाधा ’—

गंगारामोऽभूत्सुयशसि महितः प्राज्ञो-
योगी तं प्रोचे वितरतु मम साहाय्यम् ।
गोरक्षायां सन् कृषिरतिफलदात्री स्याद्
येनासंबाधा क्रतुकृतिरनिशं पुण्या ॥६६॥

गंगाराम नाम के एक बड़े सुविख्यात पण्डित थे। स्वामीजी ने इनसे कहा कि—आप गोरक्षा के कार्य में हमें कुछ सहायता कीजिये, जिससे कृषि फलवती हो और विना विघ्न के यज्ञ यागादि पुण्य कार्य निरन्तर संपादित होते रहें ॥ ६६ ॥

‘ उद्गता ’—

बहुराजसंगतसभासु
सकलसुखदां पयस्विनीम् ।
रक्षितुमभिवचनं प्रददौ
नृपपंक्तिरार्यहृदया कुलोद्गता ॥६७॥

स्वामीजी को समय समय पर कतिपय आर्य-संस्कृति के अभिमानी राजाओं ने राजसभाओं में सकल सुखदायिनी गौ की रक्षा का वचन दिया था ॥ ६७ ॥

‘ ततम् ’—

यदि नरपतिमाला सोत्कण्ठया
भवति विमलकार्ये साहाय्यकृत ।
वयमपि मुनिहंसोद्युक्ता मुदा
जगति पशुवधं रोद्धुं सन्ततम् ॥६८॥

यहीं बातें स्वामीजी ने पं. गंगारामजी से भी कहीं थीं। गंगाराम ने स्वामीजी से कहा कि—हे मुनिराजहंस, यदि राजा लोग सहर्ष गोवंश की रक्षा के लिये सहायता के वचन दे चुके हैं तो मैं भी आनन्दपूर्वक संसार में पशुवध रोकने के लिये निरन्तर यत्न करता रहूँगा ॥ ६८ ॥

'स्रग्धरा'—

गंगारामेण पृष्टः प्रमुदितमनसोद्दिश्य भस्माभ्रकं स-
ब्रह्मानन्दाब्धिहंसो विमलगुणमणिस्रग्धरार्यावतंसः ।
कृष्णं भस्माभ्रकं तन्निजनिकटगतं दर्शयामास कृत्स्नं
दत्तं तस्मै यथेष्टं स्थविरजनतनौ यौवनौजःप्रदायि ॥६९॥

ब्रह्मानन्द-सरोवर के हंस, विमलगुणमणिमाला को धारण करनेवाले आर्यावतंस ऋषि दयानन्द से पं० गंगाराम ने पूछा कि आप भस्म भी रखते हैं ? तब स्वामीजी ने अपने पास के कृष्णाभ्रक भस्म को दिखलाया और कहा कि-यदि आप की इच्छा हो तो इच्छानुकूल ले लीजिये। यह भस्म बूढों को भी नवयौवन प्रदान करता है ॥ ६९ ॥

'सुवदना'—

कामं कामेन्धनं तत्कथमजयदहो योगीन्द्र! मदनं
जग्धं दिव्यौषधं द्राङ् मदयति हृदयं सन्नित्युदगृणात ।
कुर्यादेकान्तवासं प्रणवरतमना नृत्याद्यनुचितं
दृश्यं पश्येन्न धीमानपि न च मनसा ध्येया सुवदना ॥७०॥

"हे योगीन्द्र! यह दिव्यौषधि तो खूब ही कामोद्दीपक है। इसके सेवन से तो मन मदयुक्त हो जाता है और उस अवस्था में काम को जीतना कठिन हो जाता है, तो आपने कैसे काम को जीत लिया ?" स्वामीजी ने कहा कि काम को जीतने के लिये बुद्धिमानों को चाहिये कि एकान्तवास में रहकर ओंकार का जाप किया करें, नृत्यादि अनुचित दृश्य और कामोद्दीपक गीत आदि से बचता रहे और मन से भी सुवदना का ध्यान न करें ॥ ७० ॥

'दोधकम्'—

पुण्यविरोधकनिन्द्यनिनादं
चञ्चलमानसदोधकशीलम् ।
अन्यकलत्रविलोकनमोहं
संयमिजीवनभृत्तु विमुञ्चेत ॥७१॥

संयमी जीवनजीवी को अपवित्र निन्दनीय शब्दों का उच्चारण नहीं करना चाहिये। चंचल मन को और भी उत्तेजित करनेवाले पर-स्त्री दर्शन का मोह छोड़ देना चाहिये ॥ ७१ ॥

'भुजंगप्रयातम्'—

भुजंगप्रयातोपमै र्दुश्चरित्रै-
स्त्यजेत्संगतं सन्ततं दम्भिमित्रैः।
पवित्रैरुदाराशयै र्ब्रह्मविज्ञै-
र्विदध्याद्धितेच्छु र्मनो जेतुकामः ॥७२॥

वह, सर्प के समान कुटिलगति, दुश्चरित्र दम्भी मित्रों की संगति से सर्वदा पृथक् रहे और पवित्र, उदाराशय, ब्रह्मज्ञानी जगद् हितेच्छु संतों की संगति करे ॥ ७२ ॥

'वृत्तम्'—

स्वापतोऽधिकात्तु मंगलानमंगलान् विलोकयेन्नृचन्द्र !
गोचराननारतं ततो दिवानिशं तदों३पदं जपन्तु।
संविशेत्सुनिद्रयावृतोऽथ जागृतो निषद्य भद्रकारि,
भक्तितः पुनर्जपेत्स वृत्तमस्त्यदः प्रशास्तमित्यगादि ॥७३॥

मनुष्यों को अधिक निद्रा से मंगल और अमंगल स्वप्न दीखते हैं। इसलिये रात्रिं-दिवा ओंकार के जप में लीन रहे। ओंकार-जप करते करते जब नींद आ जाय तब सो जाय, और फिर जागते ही पुनः भक्ति से कल्याणकारी प्रणव का जप करे। हे नरश्रेष्ठ ! ऐसा ही आचरण मनुष्य के लिये अति प्रशस्त है ॥ ७३ ॥

'मत्तकम्'—

मन्मथवासनां जयति यो-
भवाम्बुधिजयातनापरिचितः,
पावनभक्तिपूर्णहृदयो-
जितेन्द्रियतया परेशमिरतः।

मद्रकतीर्थमन्त्रजपनै-
रनन्तसुखबोधजातपुलको-
मुक्तिपदं स मृत्युविजयी
मुनीश्वर इवाप्नुयात सुकृतवान् ॥७४॥

जो मनुष्य संसार की यातनाओं से परिचित है, जिस का हृदय भगवान् की पवित्र भक्ति से लबालब भरा है, जो जितेन्द्रिय बन कर परमेश्वर में तल्लीन है, जिसे हर्ष-दायक गुरुमंत्र के जप से अनन्त सुखानुभव के कारण रोमाञ्च हो जाते है, वही मनुष्य पुण्यशाली ऋषि की तरह कामवासना को जीतकर मृत्युञ्जयी होता है, और मुक्ति का पद पा लेता है ॥ ७४ ॥

'अश्वललितम्'—

अनिलविकम्पितोर्मितरलं निभालयति जीवनं तनुजुषां
वपुरपि हीयमानमनिशं जरामहिलया वशीकृतमिदम् ।
सपदि निपीडनव्यतिकरं यमादिव नराधिपान्नरपशुः
परललनां विलोक्य तनुते तथापि हतबुद्धिरश्वललितम् ॥७५॥

मनुष्य हमेशा ही पवन से कम्पित तरंग के समान चंचल मानव—जीवन को देखा करता है। और वह इस शरीर को भी जरादेवी के वशीभूत होकर क्षीण होता हुआ देखा ही करता है, शरीर पर नित्यशः मृत्युराजका आक्रमण भी सहसा होते हुए देखता है। तो भी हतबुद्धि यह नरपशु परस्त्री को देखर अश्वलीला करता है ॥ ७५ ॥

'समानी'—

ब्रह्मचर्यपालनेन देहचारुतां य एति ।
तत्समानतां बले नु कः करोतु निर्जरोऽपि ॥७६॥

जो मनुष्य ब्रह्मचर्य के पालन से शरीर को सुन्दर और सुडौल बनाता है, क्या कोई देवता भी बल में उसकी समानता कर सकता है ? ॥ ७६ ॥

'प्रमाणी'—

शरीरमानसात्मनां पराक्रमे मतौ बले ।
मुनेः प्रमाणवेदने न कोऽप्यलं सुरेष्वहो ॥७७॥

शारीरिक, मानसिक और आत्मिक पराक्रम एवं बुद्धिबल में मुनिवर दयानन्द का परिमाण जानने के लिये देवों में भी कोई समर्थ नहीं है ॥ ७७ ॥

'वितानम्'—

अथ यातो यतिराजः स हरिद्वारसुतीर्थम् ।
भवति द्वादशवर्षे विपुलं कुम्भवितानम् ॥७८॥

फिर यतिराज प्रसिद्ध-हरिद्वार तीर्थ गये, जहाँ प्रति १२ वें वर्ष महान् कुंभ-मेला लगा करता है ॥ ७८ ॥

'तद्भेदः'— प्रथम :—

सन्तो महान्त आगताः संन्यासिनस्तपस्विनः ।
वैराग्यवन्त एकतो मायाभृतोऽपि चान्यतः ॥७९॥

इस मेले में एक ओर त्यागी, तपस्वी, ज्ञानी संत महात्मा आते हैं, जब दूसरी ओर माया में फँसे दंभी महन्त भी आते हैं ॥ ७९ ॥

'तद्भेदः'— द्वितीय :—

'विष्णोः पदकंजं भज गंगाम्बुनि पापं क्षिणु ।
मूर्त्तिं नम मुक्तिं व्रज' यत्र ध्वनिरश्रूयत ॥८०॥

यहाँ चारों ओर से ये शब्द सुनाई पड़ रहे थे कि—आओ विष्णु के चरण कमल का सेवन करो, पवित्र गंगा में स्नान करके पाप धो डालो, मूर्त्ति को प्रणाम करो और मुक्ति को पा लो ॥ ८० ॥

'तद्भेदः'— तृतीय :—

शुक्लसुचैलवितानं भूपतिसाधुवराणाम् ।
देवनदीमभितोऽलं मंजुलकान्तिमतानीत् ॥८१॥

उस समय हरिद्वार में संपत्तिशाली महन्तों एवं राजाओं के श्वेतवस्त्र के विशाल तंबू गंगा के दोनों किनारों पर मंजुल शोभा फैला रहे थे ॥ ८१ ॥

'वेगवती'—

नृपशिल्पिभगीरथकीर्त्ति-
केतनभा गिरिराजभवा या ।
विमलाम्बुमयी मुनिसेव्या
वेगवती वहति प्रबलोर्मिः ॥८२॥

जहाँ हिमालय से उत्पन्न हुई, अपने समय के महान् शिल्पकार राजा भगीरथ की कीर्त्तिपताका तुल्य, पवित्र जलवाली, मुनिजनों से सेवित, प्रबल तरंगयुक्त गंगा वेग से बह रही थी ॥ ८२ ॥

'द्रुतमध्या'—

यद्यपि शीघ्रतया हिमशैला-
दवतरति प्रबलाम्बुतरंगा ।
पुण्यहरिस्थलपार्श्वगगंगा
श्रयति गतिं मृदुलद्रुतमध्याम् ॥८३॥

यद्यपि गंगा हिमालय से प्रबल तरंगों से युक्त, उछलती कूदती नीचे उतरती है, तो भी पवित्र हरिद्वार के पास इस की मध्यगति हो जाती है ॥ ८३ ॥

'उपचित्रकम्'—

उपचित्रककाननसुन्दरे
कोकिलकूजनमंजुरसाले ।
हिमशैलपदान्तिकपत्तने
पर्णकुटीनिकुरम्बमराजत् ॥८४॥

अनेक प्रकार के जंगलों से रमणीय, कोयलों के कूजन से मंजुल आम्रवाटिकाओं से शोभित, हिमशैल की उपत्यका में स्थित हरिद्वार में उस समय असंख्य झोंपड़ियाँ विराज रही थीं ॥ ८४ ॥

'आर्या'—

आर्यावर्त्ते विस्मयकारी विविधमतवादिसाधूनाम् ।
कुम्भोत्सवविधिरनुपम इह भवति हरिपुरतीर्थान्ते ॥८५॥

समस्त आर्यावर्त्त में, हरिद्वार के पुण्य तीर्थ में, कुम्भ के प्रसंग पर विविध मत संप्रदाय के संत महन्तों की अनुपम उत्सव-विधि होती है ॥ ८५ ॥

'शिखरिणी'—

समग्रप्रान्तानां विविधनगरेभ्यो वृषधियो-
जटीन्द्रा मुण्डीशा विहितयतिवेशा अपि परे ।
क्षितीशा राजन्या विमलहृदया योगिन इतो-
गिरेर्गां मुक्त्वाऽऽयुः प्रकृतिललितां तां शिखरिणीम् ॥८६॥

उन दिनों हरिद्वार में समग्र प्रान्तों के विविध नगरों से धार्मिक और मूर्ख, जटाधारी, मुण्डी संन्यासी, राजा और पवित्र हृदयशाली योगिगण भी हिमालय की स्वाभाविक सुन्दर चोटियाँ छोड़ कर आ जाते हैं ॥ ८६ ॥

'कुसुमितलतावेल्लिता'—

पुण्यारण्यानी कुसुमितलतावेल्लितान्ता समन्ताद्-
वासन्ती लक्ष्मी गिरिपरिसरे संततानात्मलीलाम् ।
सप्तस्रोतोऽके प्रवरवरणाः पर्णशाला दशास्यां
मुक्तात्मा योगी जनहितमनाः कारयित्वा न्यवात्सीत् ॥८७॥

हिमालय की तलेटी में महान् जंगल पुष्पलताओं से लदा पड़ा था। वसन्त-शोभा चारों ओर अपनी लीला फैला रही थी। वहीं सप्तस्रोत के पास जनकल्याणकारी मुक्तात्मा योगी दयानन्द बहुत बड़े घेरे में १० कुटियाँ बनवा कर रहने लगे ॥ ८७ ॥

"विस्मिता"—

जनानां बोधाय श्रुतिमतधर-
स्तत्र पाखण्डजिष्णु-

नैदीष्णः शास्त्रार्थे ध्वजममलधी-
धूर्त्तपाखण्डखण्डि ।
न्यखानीत्संन्यासी द्विजयतिगणैः
सेवितः संवसद्भि-
र्यदालोक्याश्चर्यप्रथनचतुरं
प्रेक्षका विस्मिताक्षाः ॥८८॥

वैदिक सिद्धान्तों के आचार्य, पाखण्ड विजेता, पवित्रमति, शास्त्रार्थधुरन्धर संन्यासी दयानन्दने लोगों में जानकारी के लिये अपने घेरे में पाखण्डखण्डनी पताका फहराई, कतिपय ब्राह्मण और संन्यासी इनकी सेवा शुश्रूषा के लिये एवं उपदेश श्रवण के लिये इनकी ही कुटियाओं में आकर रहने लगे। फहराती हुई उस पाखण्डखण्डनी ध्वजा को देखकर लोग आश्चर्य–चकित हो जाते थे ॥ ८८ ॥

'अनुष्टुब्–"वक्त्रम्"'—

मुनिवक्त्रेन्दुबिम्बोत्थ–निगमोक्तामृतं भद्रम् ।
संपपु र्नृचकोरास्ते ह्यनुष्टुब्धदृशस्तथ्यम् ॥८९॥

मुनि के मुखचन्द्रमण्डल से निकले हुए सत्य एवं कल्याणकारी वेदामृत को स्थिर-नेत्र होकर मनुष्यरूपी चकोर पीने लगे ॥ ८९ ॥

'पथ्या'—

वेदोक्तानुगुणं तस्य भाषणं शृण्वतां खलु ।
श्रुतिपथ्याजुषां नष्टा नृणां मृत्यूद्भवामयाः ॥९०॥

स्वामीजी के वेदानुकूल भाषण को सुननेवाले, वेदवाक्यरूपी हरीतकी (हरड़) को सेवन करते हुए श्रोताओं की मानों मृत्युजन्य व्याधियाँ नष्ट हो गईं ॥ ९० ॥

'विपुला'—

पुराणलीला विपुला मनोज्ञावल्लरीव सा ।
तर्कैः कुठारै र्व्रतिना च्छिन्नमूला व्यधाय्यहो ॥९१॥

व्रतधारी संन्यासीने तर्क की कुल्हाड़ी से विपुल पुराणों की लीलारूपी ललितलताओं को मानों जड़ मूल से काट दिया ॥ ९१ ॥

'कैतवमते प्रकारः प्रथमः'—

साम्प्रदायिकधर्मभृद्धान्यां धृतिमतां वरः ।
मूर्त्यर्चनविखण्डनं चकाराम्नायतत्त्ववित् ॥९२॥

वेदसिद्धान्तवेत्ता, धृतिमान् स्वामीजीने साम्प्रदायिक धर्मों की राजधानी में जोर-शोर से मूर्तिपूजा का खण्डन किया ॥ ९२ ॥

'चपला'—

व्यापकाजेश्वरवपुर्धारणं वेदतर्काभ्याम् ।
खण्डितं तेन चपला रुषिताः पूजकास्ततः ॥९३॥

इन्होंने वेदों के प्रमाणों तथा तर्कों से व्यापक, अजन्मा परमेश्वर के अवतारवाद का खण्डन किया, इसलिये धूर्तपूजारी क्रुद्ध हो गये ॥ ९३ ॥

'प्रकारो द्वितीयः'—

मुखे मुखे मूर्त्तिजुषां मन्दिरे मन्दिरे हरेः ।
मूर्त्तिपूजानिषेद्धुस्सा चर्चाजनि मुनीशितुः ॥९४॥

उन दिनों प्रत्येक मन्दिर में तथा प्रत्येक मनुष्य के मुखपर मूर्त्तिपूजा के खण्डन करने वाले इन मुनीश्वर की ही चर्चा थी ॥ ९४ ॥

'प्र० तृतीयः'—

संन्यासिविबुधं द्रष्टुं श्रोतुमस्याद्भुतां गिरम् ।
प्रच्छन्नरूपा विबुधा आययु र्यतिसंसदि ॥९५॥

इन विद्वान् संन्यासी के दर्शनार्थ तथा इनकी अद्भुत वाणी को सुनने के लिये विद्वान् लोग छिपकर इनकी सभा में आया करते थे ॥ ९५ ॥

'प्र० चतुर्थः'—

जडार्चनां विष्णुजनिं मृतश्राद्धकृतिं यतेः ।
श्रुत्वाननाच्चित्रदृशः प्रैक्षन्तैव निराकृताम् ॥९६॥

स्वामीजी के मुख से खण्डन की जाती हुई जड़-पूजा, ईश्वर की उत्पत्ति तथा मृतकश्राद्धक्रिया को सुनकर बड़े बड़े विद्वान् स्वामीजी की ओर आश्चर्यमय दृष्टि से देखते ही रह जाते थे ॥ ९६ ॥

'प्र० पञ्चमः'—

तीर्थाप्लवं कण्ठमालां विचित्रतिलकक्रियाम् ।
माहात्म्यमीशस्य नाम्नां मुनिराट् स निराकरोत ॥९७॥

मुनिराजने तीर्थस्थान, कण्ठी, विविध तिलक तथा नाममाहात्म्य की खूब धज्जियाँ उडाई ॥ ९७ ॥

'प्र० षष्ठः'—

विपक्षिणां ज्ञानचक्षुः साधूनामुन्मिमेष तत् ।
येषां भक्ता अभूवन्नु ते तु संयमिभूपतेः ॥९८॥

स्वामीजी के उपदेशों से विपक्षी सत्पुरुषों के ज्ञाननेत्र खुल गये और इन संयमी सार्वभौम के सब महान् भक्त बन गये ॥ ९८ ॥

'प्र० सप्तमः'—

स्वामिनं नास्तिकं केचित्प्रोच्य स्वान् यजमाननॄन् ।
शमिताशंकानकार्षुरल्पबुद्धियुतान् बुधाः ॥९९॥

कितने ही पण्डे और पुजारी अपने अल्पबुद्धिवाले यजमानों को 'स्वामीजी नास्तिक हैं,' ऐसा कहकर उनकी शंकाओं का समाधान किया करते थे ॥ ९९ ॥

'प्र० अष्टमः'—

निन्दागिरं जगुरमी व्रतिराजो विरोधतः ।
भाषणं संविदधिरे विज्ञंमन्यजनाः क्रुधा ॥१००॥

कतिपय पण्डितमन्य पौराणिक इस ब्रह्मचारी सम्राट् के विरोध में निन्दा करने लगे और अपनी सभाओं में भाषण देने लगे ॥ १०० ॥

'प्र० नवमः'—

सुदम्भखण्डनवचोधराकम्प इयान् बली ।
सुरावलीगिरिततिः कम्पमाप मुहुर्मुहुः ॥१०१॥

स्वामीजी ने पाखण्ड और दंभ के खण्डन का ऐसा बलवान् भूकम्प पैदा कर दिया कि मानों मंदिर मठ के देवी देवतारूपी गिरिमाला वारंवार काँप उठों ॥ १०१ ॥

' प्र० दशमः '—

विशुद्धानन्दविबुधः काशीख्यातस्तदा यतिः ।
जन्मवर्णपरं मन्त्रं प्रस्तुत्यार्थमिमं व्यधात् ॥१०२॥

काशी के ख्यातनामा स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती स्वामीजी की सभा में आकर, जन्ममूलक वर्णपरक ' ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् ' मंत्र को प्रस्तुत करके निम्नलिखित अर्थ करने लगे ॥ १०२ ॥

' प्र० एकादशः '—

वदनादभवन् विप्रा बाहुभ्यां क्षत्रिया विधेः ।
ऊरुभ्यामर्यनिवहा अंघ्रितो वृषला इमे ॥१०३॥

ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जाँघों से वैश्य, और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए ॥ १०३ ॥

' प्र० द्वादशः '—

तुण्डान्निष्ठ्यूतिर्जायते जगाद यतिराडमुम् ।
अर्थोऽयमयुक्तो यतः श्रुतेर्भवदुदीरितः ॥१०४॥

स्वामीजी ने कहा कि—आपने इस मंत्र का जो अर्थ किया है वह असंगत है, मुख से तो थूक पैदा होता है ॥ १०४ ॥

' प्र० त्रयोदशः '—

विप्रास्समाजे वक्त्रवत् सद्गुणैस्समलंकृताः ।
विराजो बाहुतुल्या हि शौर्यौदार्यविभूषिताः ॥१०५॥

सचमुच तो इस मंत्र का अर्थ यह है कि समाज में विद्या और गुणों से अलंकृत होने के कारण ब्राह्मण मुखतुल्य हैं। शौर्य औदार्य आदि गुणों से विभूषित होने के कारण क्षत्रिय भुजातुल्य हैं ॥ १०५ ॥

'प्र० चतुर्दशः'—

ऊरुजाः कृषिवाणिज्यैस्तुन्दवत्पालका विशाम् ।
वर्णत्रयसेवारत-वृषला अंघ्रिसन्निभाः ॥१०६॥

कृषि और वाणिज्य द्वारा प्रजापालक होने के कारण वैश्य उदरवत् हैं तथा तीनों वर्णों की सेवा में तल्लीन होने से शूद्र चरण की तरह हैं ॥ १०६ ॥

'प्र० पंचदशः'

मन्त्रार्थवेदे मूढास्ते रूपकालंकृतिं जनाः ।
नाज्ञासिषु र्यस्मादत्र मिथ्यार्थं चक्रिरे भृशम् ॥१०७॥

वेदों के मंत्रार्थ को न समझने के कारण मूर्ख जन रूपक अलंकार को न समझ सके, जिससे मिथ्या अर्थ किया ॥ १०७ ॥

'प्र० षोडशः'

व्यवस्थयाऽतो वर्णानां गुणकर्मस्वभावतः ।
भाव्यमेषां समाजे सा प्रभोराज्ञेति मन्यताम् ॥१०८॥

इसलिये समाज में वर्णों की व्यवस्था गुणकर्मस्वभावानुसार होनी चाहिये । वेद की ऐसी ही आज्ञा है, जिसे सब को स्वीकार करना चाहिये ॥ १०८ ॥

'प्र० सप्तदशः'

यति र्विशुद्धानन्दोऽसौ शास्त्रार्थेषु पराजितः ।
आदित्यस्य पुरो बभ्रे रजनीन्द्रो यथा श्रियम् ॥१०९॥

स्वामी विशुद्धानन्दजी इस प्रकार स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ में पराजित हो कर ऐसे निस्तेज हो गये जैसे सूर्य के सामने चन्द्र ॥ १०९ ॥

'प्र० अष्टादशः'

बुधो यति र्महानन्दो वेदप्रथमदर्शनम् ।
विधाय जज्ञे सद्बोधैः स्वामिनो निगमानुगः ॥११०॥

महानन्द नामक विद्वान् संन्यासी ने स्वामीजी के पास वेदों का दर्शन किया और उनके सदुपदेशों से वेदानुयायी बने ॥ ११० ॥

'प्र०

पृष्टश्चित्सुखिपंक्त्यर्थं निर्मलोपाख्यसाधुना ।
स्वामी तमर्थमाख्याय प्रमाणं नेत्युवाच सः ॥१११॥

निर्मला संतसिंह ने स्वामीजी से चित्सुखी नामक ग्रन्थ की एक पँक्ति का अर्थ पूछा। स्वामीजी ने अर्थ बताया और कहा कि यह कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं हैं ॥१११॥

परीक्षितुमिमं देवं विद्यायां विविधा बुधाः ।
संगम्य मौनितामुद्रां लेभिरे वाक्समुद्गके ॥११२॥

अनेक शास्त्रों के विद्वान् स्वामीजी की विद्या की परीक्षा लेने आये, किन्तु बातचीत के पश्चात् स्वामीजी ने सबकी वाणीरूपी पेटी में मौनता का ताला लगा दिया ॥ ११२ ॥

योगी भागवतस्यालं खण्डनेऽकृत पुस्तकम् ।
कुम्भे सहस्रशो नृभ्यो भ्रमनाशाय तद् ददौ ॥११३॥

योगीश्वर दयानन्द ने भागवत खण्डन की एक पुस्तिका लिखी थी, जिसे जनता में भ्रमनिवारणार्थ कुंभ के प्रसंगपर बाँटी थी ॥ ११३ ॥

श्रद्धालूपहृतान् द्राक्षाफलमिष्टान्नमोदकान् ।
दरिद्रेभ्यो ददौ दाता दयानन्दो दयार्द्रहृत ॥११४॥

दयालुहृदय त्यागी दयानन्दजी ने श्रद्धालुओं के दिये, भेंट के द्राक्ष, फल, मिठाई आदि गरीबों को प्रदान कर दिये ॥ ११४ ॥

गोस्वामिनां कलौ जाते विशुद्धानन्दतो नतैः ।
साहाय्येऽभ्यर्थितो योगी न्यषेधीत्समताधिया ॥११५॥

स्वामी विशुद्धानन्दजी से गोसाइयों का विवाद चल रहा था। गोसाइयों ने उस में सहायता देने के लिये योगीश्वर से प्रार्थना की। स्वामीजी ने समत्व की भावना से सहायता देना अस्वीकार किया ॥ ११५ ॥

'औपच्छन्दसकम्'—

परवञ्चनकर्मणि प्रवीणं
यतिवृन्दं गृहमेधितोऽपि दुष्टम् ।
निजधर्मपराङ्मुखं तदानी-
मौपच्छन्दसकं ददर्श देवः ॥११६॥

दिव्य दयानन्दजी ने कुम्भ में दूसरों को ठगने में चतुर, गृहस्थों से भी गये बीते, यतिधर्म से विमुख, स्वच्छन्दी संन्यासियों को देखा ॥ ११६ ॥

'औपच्छन्दसके प्रथमः प्रकारः'—

धर्म्यैर्वचनैर्विमोह्य मुग्धान्
यच्छिष्यान् सुकृताभिलाषिवैश्यान् ।
लक्ष्मीं परिगृह्य धर्मदम्भा-
दौपच्छन्दसकं ततान वृत्तम् ॥११७॥

ये संन्यासी धर्माभिलाषी सरलहृदय वैश्यों को धर्म के बहाने धार्मिक प्रवचनों से मोहकर उन से धन ऐंठकर स्वेच्छाचार फैला रहे थे ॥ ११७ ॥

'द्वितीयः प्रकारः'—

प्रथममितरकामिनीं स्वशिष्यां
कृत्वा तत्पतिभावमाश्रयेत्तत् ।
विषयनिरतमुण्डिमण्डलं चे-
दौपच्छन्दसकं जगद्धतं हा ॥११८॥

स्वेच्छाचारी विषयमग्न मुण्डीमंडल यदि पहले भक्तों की स्त्रियों को अपनी चेली बनाकर पश्चात् उन के पतिभाव को धारण करें तो हा। संसार नष्ट हुआ ॥ ११८ ॥

'कनकप्रभा'—

गुरुपुण्यधर्मविमुखो जगद्गुरु-
र्यतिवेषमत्र नितरां कलङ्कयन् ।

कनकप्रभाविकसितान्तराम्बुजः
कनकाङ्गनारतमना निरीक्षितः ॥११९॥

स्वामीजी ने देखा कि–संसार का गुरु संन्यासी, अपने पवित्र गुरुधर्म से विमुख होकर यतिवेश को सुतरां कलंकित करता हुआ इस समय सोना चाँदी की चमक से मोहित अंतःकरण के कारण कनक और कामिनी में रत है ॥ ११९ ॥

'ललना'—

वैष्णवमार्गप्रथितगुरुवराः
स्वीयविनेया धनिवरललनाः ।
भक्तिषु कृत्वा तरलितहृदया-
श्चक्रुरमूभिर्मदनविलसितम् ॥१२०॥

वैष्णव संप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य लोग, धनवानों की ललनाओं को अपनी चेलियाँ बनाकर, उन को भक्तिरस में सानकर उनके साथ मदनलीला करते थे ॥ १२० ॥

'भ्रमरविलसितम्'—

आचार्याश्चेत्परयुवतिरता-
निन्द्यां लीलां विषयकवलिताः ।
कुर्युः शिष्याः किमिव न खलु ते
स्त्रीपद्मिन्यां भ्रमरविलसितम् ॥१२१॥

यदि आचार्य ही विषय निमग्न होकर परस्त्रीगामी हों तो भला उनके शिष्य स्त्री–पद्मिनी में भ्रमरलीला क्यों न करें ॥ १२१ ॥

'तोटकम्'—

धनरागि विरागिकुलं व्यसने-
ष्वखिलेषु निलीनतया विकलम् ।
अमताक्षरलेशमपि स्मयभृन्-
मततोटकमार्यजनैरतनोत ॥१२२॥

संपूर्ण व्यसनों में लिप्त होने के कारण धनप्रेमी वैरागी मण्डल, निरक्षर होने पर भी अहंकारी बनकर भद्रपुरुषों के साथ कलह कर रहा था ॥ १२२ ॥

'हरिणी'—

शिशुतरवयोजातोद्वाहत्वतो मृतभर्त्तृका-
स्तरुणवयसः कामोद्रेकाद्गताः स्मरनिघ्नताम् ।
तरलहरिणीनेत्रास्तीर्थे विरागिकुलाहृता-
अहह ललना आर्याणां ता मुखे लिलिपुर्मसीम् ॥१२३॥

बाल्यकाल में विवाह हो जाने के कारण विधवा नवयुवतियाँ कामोद्रेक से मदन-वश होकर यहाँ आती हैं और उन्हें फँसाकर ये वैरागी लोग उन्हें हरण कर लेते हैं। हा ! इन चंचलनयना आर्य ललनाओं ने आर्यों के मुख पर कालिमा पोत दी ॥ १२३ ॥

'कुड्मलदन्ती'—

या वरयोषा निगमविदुष्यः
कुड्मलदन्त्यः कुलयुगभूषाः ।
ता मतिहीनै द्विजकुलदर्पै-
र्दीनदशां हा खलु लघु नीताः ॥१२४॥

जो उत्तम स्त्रियाँ शास्त्रों में विदुषी बनकर माता पिता और पति कुल की भूषा बनकर समाज का कल्याण करतीं थीं, वे कुड्मलदन्ती इन द्विजकुलाभिमानी मतिहीन धूर्त्तों से हा ! अतिशीघ्र दीन दशा को पहुंचाई गईं ॥ १२५ ॥

'वैश्वदेवी'—

सत्यज्ञानार्थी कर्मवीरो महात्मा
वृन्दे साधूनां वैश्वदेवो वरेण्यः ।
नृणां कल्याणे योगिवर्येण कुम्भे
नैकः संलब्धोऽदर्शि तेनेति खिन्नम् ॥१२५॥

योगीश्वर ने साधुओं की मण्डलियों में सत्यज्ञानी, कर्मवीर, महात्मा, मनुष्यकल्याण में संलग्न, ईश्वरभक्त कोई साधु नहीं देखा। इस से इनका मन बड़ा उदास हो गया ॥ १२५ ॥

'नवमालिनी'—

परविपदीक्षणेन नयनास्रै-
हृदि नवमालिनीह करुणोर्मिः ।
प्रवहति कस्यचिन्न बत साधो-
र्मुनिवरमन्तरेण नृदयार्द्रम् ॥१२६॥

इस कुम्भ मेले में मनुष्यदया से आर्द्र, मुनिवर दयानन्द के सिवाय, दूसरे की विपत्ति को देखकर आँखों के आँसुओं के साथ किसी भी साधु के हृदय में तरंगवती दया की गंगा नहीं बह रही थी ॥ १२६ ॥

'जलोद्धतगतिः'—

महीसुरगणो जडार्चनतया
विमूढधिषणः स्वधर्मविमुखः ।
जलोद्धतगती रसातलमधो-
ययौ स्वयमिमं समाजमनयत् ॥१२७॥

ब्राह्मणलोग मूर्तिपूजा के कारण, बुद्धिभ्रष्ट हो कर स्वधर्म से विमुख हो गये और जल के उद्धत वेग की तरह स्वयंभी रसातल को जा रहे थे और समाज को भी रसातल पहुँचा रहे थे ॥ १२७ ॥

'कुसुमविचित्रा'—

विधिहतगेहाः कृशतरदेहाः
पितृसुखहीनाः विपदि निलीनाः ।
कुसुमविचित्रालकगणिकाभि-
र्द्विजकुलबाला वशमुपनीताः ॥१२८॥

भाग्यवशात् घरबार से रहित, कृशकाय, मातापिता के सुख से वंचित, द्विजों की कन्यायें विपत्ति में फँसकर फूलों से गूँथी वेणी–वाली वेश्याओं के चंगुल में पड रही थीं ॥ १२८ ॥

' वैतालीयम् '—

अन्नालभनादकालतः
संदृष्टाखिलकुल्यजालकाः ।
बालाः सुकठोरकुन्तला-
वैतालीयवपु र्व्यडम्बयन् ॥१२९॥

अन्न न मिलने से असमय में ही कंकालमात्र शेष अतएव कठोर और रुक्ष केशवाले बालक मुर्दे की तरह शरीर धारण कर रहे थे ॥ १२९ ॥

' प्रथमभेदः '—

जठरानलशामनाय ये
कृशकायाः परधर्मिणां नृणाम् ।
विनिपत्य करोग्रपञ्जरे
समभूवञ्छ्रुतिधर्मवैरिणः ॥१३०॥

ये दुर्बल शरीर वाले बालक जठराग्नि की शान्ति के लिये विधर्मियों के चंगुल में पड़कर वैदिकधर्म के विरोधी बन रहे थे ॥ १३० ॥

' विलासिनी '—

विलासिनीं कुवृत्तिमार्यजातिं
दिने दिने रसातलं व्रजन्तीम् ।
विलोक्य सूक्ष्मलोचनैर्महर्षिः
शुगम्बुधौ ममज्ज दूरदर्शी ॥१३१॥

आर्य जाति को विलासी, दुर्व्यसनी और कुमार्गगामी होकर दिनोंदिन रसातल में जाती देखकर सूक्ष्म दृष्टि, दूरदर्शी महर्षि शोक सागर में निमग्न हो गये ॥ १३१ ॥

'श्येनी'—

उग्रदृष्टिरन्यभोग्यहारिणी
मांसभक्षिणी सदा कलिप्रिया ।
श्येनिकेव निन्दितार्यसन्ततिः
शोच्यतां गतेत्यचिन्तयन्मुनिः ॥१३२॥

स्वामीजी को ज्ञात हुआ कि–आर्य सन्तति बाज की तरह उग्र–दृष्टि, दूसरों के सत्व को हरने वाली, मांसभक्षी, झगडालु अतएव निन्दित शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई थी ॥ १३२ ॥

'अनुष्टुप्सु विपुलाभेदः'— (१९)

ग्रस्तोऽभूत्सत्यधर्मार्को धर्मान्धाचार्यराहुणा ।
अघान्धकारैश्छन्ना सार्यलोकावनि र्यतः ॥१३३॥

सत्यधर्म का सूर्य, धर्मान्ध आचार्यरूपी राहुओं से ग्रसा जा चुका था, जिस से आर्यावर्त्त पापान्धकार से ढक गया था ॥ १३३ ॥

भे० (२०)

असत्यकृमिसंघातै विषाक्तै र्जनजीवनम् ।
तरुमूलं ननु जग्धं नाशं यातुमुपस्थितम् ॥१३४॥

मानवजीवनरूपी महान् वृक्ष का मूल असत्यरूपी विषाक्त कृमिसमूहों से खाया जाकर नाशोन्मुख हो रहा था ॥ १३४ ॥

भे० (२१)

सुसंस्कारान् वरनयाञ्छुभकर्मार्यसभ्यताम् ।
घुणोपमाऽऽदन्नितरां प्रतीचीना कुसंस्कृतिः ॥१३५॥

पश्चिमीय कुसंस्कृतिरूपी घुन उत्तम संस्कार, उत्तम नीति, शुभ कर्म एवं आर्य–सभ्यता को नितान्त खोखला कर रहा था ॥ १३५ ॥

विपरीता— (२२)

देशकल्याणलालसा संजज्ञे स्वामिनस्स्वान्ते ।
दुर्दशावीक्षणात् क्षिते विपरीताकृतेस्तीव्रा ॥१३६॥

स्वामीजी के हृदय में आर्यावर्त के दुर्दशामय विपरीत स्वरूप के दर्शन से देश-कल्याण की तीव्र लालसा उत्पन्न हो गई थी ॥ १३६ ॥

भे० (२३)

मस्तिष्कतन्तुजाले सा चित्रा गतिरभूद्देहे ।
उत्तेजना मुनेर्भूतकारुण्योत्सोऽस्रवच्चित्तात् ॥१३७॥

उन दिनों स्वामीजी के मस्तिष्क के ज्ञानतंतुओं में अद्भुत गति, देह में उत्तेजना और चित्त में भूतदया के झरने उत्पन्न हो गये थे ॥ १३७ ॥

'आर्या'— (२)

सा यतिनृपतेरार्या
वृत्ति र्हृदि संबभूव विरतिमयी ।
सर्वस्वविसर्जनतो-
यात्मविकासं तदा चकमे ॥१३८॥

यतिसम्राट् के हृदय में श्रेष्ठ वैराग्यवृत्ति उत्पन्न हो गई थी, इस कारण उन का मन सर्वस्व त्याग द्वारा आत्मविकास चाह रहा था ॥ १३८ ॥

(३)

यज्ञे परोपकारे
स्वाहाकर्त्तुं य इह निजतनुमदात् ।
वित्तं पुस्तकमंशुक-
मुन्नतमनसो नु किम्मूल्यम् ॥१३९॥

जिसने परोपकार के महायज्ञ में अपने शरीर तकको समर्पित कर दिया था, उस उन्नत उदार-हृदय ऋषि के लिये धन, पुस्तक और वस्त्र का क्या मूल्य था ॥ १३९ ॥

सर्वत्यागी दयानन्दर्षि ।
हरिद्वार कुम्भ मेलेकी समाप्तिपर सर्वस्वत्याग

(४)

लोकेभ्यो व्यतरत्तत्

समग्रभक्तावलीप्रणुतचरितः ।

निजनिखिलवस्तुजातं

योगी सत्यार्थवादरतः ॥१४०॥

सत्यार्थवाद में रत, समग्र भक्तमण्डल से प्रशंसित—चरित्र योगीने अपनी सभी वस्तुएँ जनता को समर्पित कर दीं ॥ १४० ॥

'पथ्या'— (५)

रम्यं दीर्घं क्षौमं

काञ्चनमुद्राद्वयं महाभाष्यम् ।

गुरुचरणान्तिकमेष-

प्रेषितवाञ्छ्रद्धया शिष्यः ॥१४१॥

शिष्य दयानन्दने श्रद्धासहित श्री गुरुचरणों में एक सुन्दर दुशाला, दो स्वर्णमुद्रा तथा महाभाष्य किसी व्यक्ति द्वारा भिजवा दिये ॥ १४१ ॥

'विपुला'— (६)

श्रीकैलासस्वामी

त्यजन्तमित्थं सकलमिमं प्रोचे ।

किमिव विधातुं स्वामिन्

भवताऽऽरब्धं तदाश्चर्यम् ॥१४२॥

ऋषि जब इन सब वस्तुओं को त्याग रहे थे, तब पं. कैलाशस्वामीने कहा कि—स्वामिन्, आप यह क्या कर रहे हैं, मुझे आश्चर्य हो रहा है ॥ १४२ ॥

'महाचपला'— (७)

विशदं विपक्षिनृणां प्रतीपमिच्छामि वक्तुमार्षज्ञः ।

तद्दुःशकं निजापेक्षिताक्षयो नु नं यावदये ! ॥१४३॥

ऋषिने कहा–" ऋषियों के भावों को जानने वाला मैं अब विपक्षीवृन्द में साफ़-साफ़ उन की विरुद्ध बातों का भंडा फोड करना चाहता हूं। जब तक कि मैं आवश्यकताओं को कम न कर दूं तब तक यह अशक्य है ॥ १४३ ॥

' पथ्यागीतिः '— (८)

अथ योगीन्द्रो ललितं भस्मधवलितं विधाय देहं स्वम् ।
कौपीनं स वसानस्तस्थौ स्वगिरं नियम्य पर्णगृहे ॥१४४॥

इस के बाद योगीन्द्रने अपने दिव्य सुन्दर देह को भस्म से धवलित कर के कौपीन पहन लिया और मौन होकर झोंपड़ी में जा बैठे ॥ १४४ ॥

' उपगीतिः '— (९)

गर्जन्यो मठनायकसाधूनत्रासयद् विजयी ।
स मुनिहरिः खलु सम्प्रति यतिलोकालस्यतो मौनी ॥१४५॥

जो मुनिसिंह अपनी गर्जना से मठाधीशों एवं महन्तों को त्रषित कर देता था, वही विजयी वीरयति संप्रति संन्यासी साधुओं की अकर्मण्यता के कारण चुपचाप एक ओर को आ बैठा है ॥ १४५ ॥

' आर्याभेदः '— (१०)

औदासीन्यकलंको मुनेर्मुखेन्दावलक्ष्यत वरमतेः ।
ऋषिवंशजतनुजानामकर्मशीलत्वदोषदर्शनतः ॥१४६॥

उत्कृष्ट बुद्धिशाली मुनिवर के मुखचन्द्र पर ऋषियों के वंशज पुत्रों की अकर्मण्यता के दोष–दर्शन से उदासीनता की काली रेखा दीखने लगी ॥ १४६ ॥

' पथ्याजघनचपला आर्यागीतिः '— (११)

मौनादृतं विशिष्टं निगमाद् येनाधिगतमिति कथं स यमी ।
आकर्ण्य वेदनिन्दां भजेन्न मौनं निनिन्द तद् भागवतम् ॥१४७॥

कोई पंडित, स्वामीजी के समक्ष 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्' यह श्लोक बोल रहा था। तब स्वामीजी वेदनिन्दा सुनकर मौन त्याग कर भागवत का खण्डन करने लगे। स्वामीजीने 'मौनात् सत्यं विशिष्यते' की शिक्षा ली हुई थी। भला, उनसे उस समय चुप कैसे रहा जा सकता था ॥ १४७ ॥

'उद्गीतिः'— (१२)

संस्कृतवाचोपदिशन् सुकृती धर्मप्रचारमनाः।
जह्नुतनुभवारोधसि मंत्रोद्गीतिश्चचार मुक्तात्मा ॥१४८॥

पुण्यवान् मुक्तात्मा गंगा के किनारे धर्मप्रचार के उद्देश से संस्कृत भाषा में ही उपदेश देते हुए तथा ऋचाओं का गान करते हुए विचरने लगे ॥ १४८ ॥

'आर्यागीतिः'— (१३)

अजमजरममरमीशं -
स्वान्ते संध्यायतां हि पुण्यात्मनृणाम्।
मुक्तिस्तापत्रयतो -
जनुषां सा स्यादितीयमार्यागीतिः ॥१४९॥

अजर, अमर, अजन्मा परमेश्वर को अंतकरण में ध्यान करते हुए पुण्यात्मा मनुष्यों को त्रिविधतापयुक्त जन्ममरण से मुक्ति प्राप्त हो, यही 'आर्यागीति' है। अथवा यही इन महापुरुष दयानन्द का गान=घोषणा है, जयनाद है ॥ १४९ ॥

'विबुधप्रिया'— (गाथा)

भावसद्गुणसुन्दरी समलंकृता रसनन्दिनी
सत्कवेः कवितेव सा रुचिरास्त्वलं विबुधप्रिया।
ब्रह्मवर्चसशालिनी मुनिहंसजीवनसत्कथा
ब्रह्मदर्शनमंगला भवभूतिमुक्तिसुखोदया ॥१५०॥

मुनिवर दयानन्द के जीवन की यह आदर्शकथा ब्रह्मवर्चस=सदाचारपालन तथा वेदाभ्यासजन्य तेज से देदीप्यमान है। यह ब्रह्म=जीव, ईश्वर और प्रकृति के सम्यक् प्रतिपादक होने से मंगलजनक है। सांसारिक अभ्युदय और मुक्ति के आनन्द प्रदान

करने वाली है, उत्तम भाव एवं सद्गुणों से सुन्दर, अलंकारों से अलंकृत तथा रसों से रसदायिनी है। इसलिये यह रुचिर कथा सत्कवि की सुन्दर कविता की तरह विद्वानों को खूब ही प्रिय होगी ॥ १५० ॥

इति वृन्दावनगुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्यारत्नस्य वटोदरार्यकन्या-
महाविद्यालयाचार्यस्य श्रीपण्डितमेधाव्रतकविरत्नस्य कृतौ
दयानन्ददिग्विजये ब्रह्माङ्के महाकाव्ये महर्षेर्हरद्वारीय-
महाकुम्भोत्सवे पाखण्डखण्डनो
नाम द्वादशः सर्गः ।

द्वादशशतमितपद्यै रत्नैरिव गुम्फितं महाकाव्यम् ।
विद्वत्कण्ठमलं तत् समलंकुरुतां मनोहरं दाम ॥१॥

बारह सौ पद्यरत्नों से गुम्फित मनोहर यह काव्यरूपी माला विद्वानों के कण्ठ को अलङ्कृत करे ॥ १ ॥

दायानन्दे काव्ये दिग्विजयाख्ये वरेण्यपूर्वार्द्धे ।
द्वादश सर्गा रचिता दिव्यानन्दार्थिनाऽमुना कविना ॥२॥

दिव्यानन्द के अभिलाषी कवि मेधाव्रतने दयानन्ददिग्विजय महाकाव्य के पूर्वार्द्ध म १२ सर्गों की रचना की है ॥ २ ॥

इति भारद्वाजगोत्रीयश्रीमत्प्रभुनारायणशर्मसूनुना योगिवर्य-
श्रीस्वामिविशुद्धानन्दसरस्वतीशिष्येण मगधदेशसंभवेन
वटोदरार्यकन्यामहाविद्यालयोपाध्यायेन वेदतीर्थश्री-
श्रुतबन्धुशास्त्रिणा प्रणीतोऽयमनुवाद-
स्समाप्तिमगमत् ।

॥ ओ३म् ॥

शुद्धाशुद्धपदसूचिका

पृष्ठ		पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	—	६	लागों	लोगों
६	—	चित्र	ब्यारुपाता	व्याख्याता
२२	—	१	नहोप	महोप-
२६	—	२३	नहीं	नहीं
२७	—	१३	रमणिथों	रमणियों
३०	—	१६	त्रिपत्फला	विपत्फला-
३२	—	१७	सोराष्ट्र	सौराष्ट्र
३४	—	१३	कल्यागमय	कल्याणमय
३६	—	१७	शोभाका	शोभाको
३७	—	१	सरस्वतो	सरस्वती
३७	—	७	वणीयं	वेणीयं
३९	—	१३	धिरी	घिरी
३९	—	१९	शिगेमणिः	शिरोमणि
४१	—	१९	कल्याणो	कल्याणी
४२	—	१७	कृशाङ्गी	कृशाङ्गी
५२	—	१५	औंर	और
६१	—	७	कल्याणकारिणो	कल्याणकारिणी
६२	—	१२	सैंकडों	सैंकड़ों
६४	—	चित्र	वोध	बोध
६५	—	१३	चहोंसे	चूहोंसे
६६	—	३	वाले है	वाले हैं
६६	—	१६	तरंगोमें	तरंगोंमें
७१	—	२१	व्रजः।	व्रजेः।
७३	—	५	सन्यासियोंको	संन्यासियोंको
८४	—	८	त्वदते	त्वदृते
९२	—	१५	मनुष्यां	मनुष्यों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०४ –	२२	वि	कि
११२ –	१६	मूातपूजक	मूर्तिपूजक
११४ –	चित्र	म शुद्ध चतन्य	में शुद्धचैतन्य
११४ –	,,	व्रह्मचारी	ब्रह्मचारी
११८ –	१२	कोजिथे	कीजिए
१२१ –	१	उसका	उसकी
१२३ –	७	निग्शनो-	निरशनो-
१२६ –	१	दोडे	दौड़े
१२७ –	१९	वीण्	प्रवीण
१४७ –	१२	देर्खी	देखीं
१५० –	३	समान,चित्त	समानचित्त,
१५३ –	५	जलबिग्दुआं	जलबिन्दुओं
१५४ –	११	बनां	बनों
१६६ –	१७	में मी	में भी
१७२ –	१०	दौडाई	दौड़ाई
१७३ –	१५	उल्लङ्घ्य	उल्लङ्घ्य
१८४ –	२०	देव तग्यां	देष तम्यां
१८७ –	चित्र	योगीराज	योगिराज
१८७ –	,,	मर्षि	महर्षि
१९२ –	४	धूर्तोने	धूर्तोंने
२०५ –	२२	वैंल्लितै-	वेंल्लितै-
२०९ –	१२	परिपूर्णं	परिपूर्ण
२१८ –	१	काई	कोई
२१८ –	२३	उपकारा	उपकारी
२२७ –	१९	इच्छाओंका	इच्छाओंको
२२८ –	१७	हा उठा	हो उठा
२३० –	१	विद्याआंसे	विद्याओं से
२४२ –	२१	मनांको	मनों को
२४४ –	१०	महर्षें	महर्षे
२४५ –	२	चूडामणि	चूडामणि
२४५ –	६	पंचामन	पंचानन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४६ –	१	शाणित	शोणित
२४६ –	१२	आँखोंका	आँखोंको
२४६ –	२१	कल्याणकारिणा	कल्याणकारिणो
२५० –	१६	नेत्रारत्रिन्द	नेत्रारविन्द
२५६ –	२०	रत्नां	रत्नों
२५८ –	१९	मणियां	मणियों
२७० –	११	मै	मैं
२७३ –	६	देनों	दोनों
२७६ –	५	हाते	होते
२८० –	८	व्यकटेन	व्यंकटेन
२८५ –	१	भूर्ति	मूर्ति
२९३ –	१७	त्रिद्यार्थियो	विद्यार्थियो
२९४ –	२२	शासकैः	शासकै
२९५ –	३	हैँ	हैं
२९७ –	९	पश्चाताप	पश्चात्ताप
२९८ –	१५	बोयी	बोया
३०२ –	६	श्रेष्ठ	श्रेष्ठ
३०४ –	१४	अभिलाषाआं	अभिलाषाओं
३२६ –	चित्र	दयानन्दषि	दयानन्दर्षि

हिन्दीविभाग.

पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१३ –	८	हृदय	हृदय
१५ –	१४	शुक्लतार्थ	शुक्लतीर्थ
२४ –	१५	कमोज, एकमात्र धोती पहिने,	कमोज पहिने,
२३ –	२१	भागते,	भागते.
२६ –	३	भेट,	भेंट
२६ –	७	स्फूर्तिं	स्फूर्ति
३० –	१६	दृढ	दृढ़
३६ –	१	शरार	शरीर
३७ –	१२	बुधंक गम्ये	बुधैकगम्ये
३७ –	२०	इसां	इसी
३८ –	४	पं,	पं.
३८ –	५	फलोद्गमंः	फलोद्गमैः
४० –	११	कर करने	करने
४० –	६	वार स्त्रियाँ	वारस्त्रियाँ
४२ –	२५	इसका	इसकी
५२ –	८	करत थे.	करते थे.
५३ –	२१	कमा	कमी
५३ –	२३	परसड़सड़कर	पर सड़ सड़ कर
५६ –	१७	पहिले	पहला
६२ –	२२	सजाव	सजीव

कुमुदिनीचन्द्र

श्रीयुत विष्णुभास्कर केलकर एम. ए. एल. टी. संस्कृत प्रोफेसर राजाराम कॉलेज कोल्हापुर :—

श्रीमेधाव्रतकविरत्नलिखित 'कुमुदिनीचन्द्र' नाम की आख्यायिका भाव, रस, स्थल, तथा घटनादि के सुन्दर वर्णनोंसे परिपूर्ण है। संस्कृत में ऐसी रोचक कथाओंकी अत्यन्त आवश्यकता थी। इसकी विशेषता यह है कि बाण का समस्तपदबाहुल्य तथा दण्डीका अश्लील शृङ्गार इसमें नहीं है। इस कारण यह पुस्तक गुरुकुल तथा अन्य विश्वविद्यालयों में पाठ्यपुस्तक रखने के योग्य है। संस्कृत में एक तो गद्यसाहित्य ही बहुत कम है; जो है; वह भाषा की दृष्टि से अति क्लिष्ट है तथा विचारोंकी दृष्टिसे हीन है। अतः ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता संस्कृत पढनेवालोंको बहुत रही। संस्कृत के प्रेमियों को इसे एक वार अवश्य पढकर अपने विद्यार्थियों को पढाना चाहिए। यह प्रीव्हीयस इन्टर क्लास में पढाने योग्य पुस्तक है।

गिरिराज गौरव

आचार्यप्रवर पं. महावीरप्रसादजी द्विवेदी—'गिरिराज गौरव' नामक पुस्तक पढकर परम आनन्द हुआ। बड़ी ही सरस और सुन्दर कविता है।

दयानन्द लहरी

साहित्यवाचस्पति पं. दयाशंकर रविशंकर राजकवि बडोदा—पण्डितराज मेधाव्रताचार्य कृत 'दयानन्द लहरी' पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' के समान एक अपूर्व ललित रचना है।

प्रकृतिसौंदर्यम्

संस्कृत के राष्ट्रिय कवि श्री वल्लभदास भगवानजी गणात्रा—'प्रकृतिसौन्दर्यम्' की चमत्कृतिजनक भाषाशैली, शब्दलालित्य, वर्णनचातुर्य, अलंकाररचना, प्रासादिक-गुणप्राचुर्य आदि देखकर मैं तो मेधाव्रत कवि को भवभूति का दूसरा अवतार मानता हूँ। इसको पढते समय कभी तो 'विक्रमोर्वशीय' और कभी 'उत्तररामचरित' के वर्णन याद आते हैं। उसके कितनेक श्लोक तो मैं वारंवार पढता हूँ, जिससे मेरी हृदयवीणा के तार झंकृत हो उठते हैं।

कविरत्न मेधाव्रत विरचित ग्रन्थ
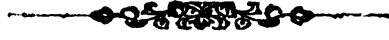
कुमुदिनीचन्द्रः—(संस्कृत भाषा का मौलिक एवं अतीव सरस उपन्यास) पृष्ठ सं० ३५०. मूल्य २)

प्रकृतिसौन्दर्यम्:—(नाटकीय संवाद युक्त विविध छन्दों में प्राकृतिक दृश्यों का हिन्दी भाषानुवाद सहित संस्कृत में मनोमुग्धकारी चित्रण.) मूल्य १।)

दिव्यसंगीतामृत:—(सुमधुर एवं भाववाही गीतों सहित हिन्दी में संगीत शिक्षा की सुन्दर पुस्तक.) मूल्य १)

दयानन्दलहरी:—(गंगालहरी के समान संस्कृत का हिन्दीअनुवादसहित ललित काव्य.) मूल्य ≈)

गिरिराजगौरवः—(विविध वर्णिक छन्दों में गिरिराज हिमालय का हिन्दी में मनोहर वर्णन.) मूल्य ≡)

ब्रह्मचर्यशतकम्:—(ब्रह्मचर्य महिमा प्रदर्शक सौ सरस श्लोकों का सुन्दर संग्रह)

पद्यतरंगिणी:—(ललित छन्दों में चार सौ संस्कृत श्लोकों का हिन्दी अनुवाद सहित एक सुन्दर काव्य संग्रह छपने वाला है.)

रुक्मिणीहरण नाटक:—(हिन्दी—अप्राप्य)

साहित्यसुधा भाग १-२:—संस्कृत अध्ययन के लिये उत्तम पाठ माला की पुस्तक.

प्राप्तिस्थानः—

पं० सत्यव्रत जगजीवन आर्य

येवला YEOLA.

जि० नाशिक Distt : Nasik.